भारतीय अर्थशास्त्र : एक परिचय

[दिल्ली बोर्ड, पंजाब, जम्मू-काश्मीर, राजस्थान, बिहार, पटना तथा उस्मानिया
विश्वविद्यालय की हायर सेकेन्डरी परीक्षाओं के लिये लिखित]

लेखक

डा० अमरनारायण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट०

डीन, फैकल्टी आव कामर्स तथा अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय;
भूतपूर्व डीन, फैकल्टी आव कामर्स तथा अध्यक्ष अर्थ तथा वाणिज्य
विभाग, सागर विश्वविद्यालय; लेखक "समाजवाद की
रूपरेखा", "अर्थशास्त्र का परिचय", आदि

दूसरा विस्तृत तथा परिमार्जित संस्करण
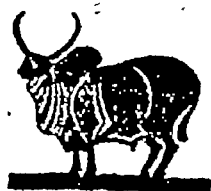
किताब महल (होलसेल डिविज़न) प्राइवेट लिमिटेड

जि० ऑफिस, ५६-ए ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

शाखाएँ—बम्बई : कलकत्ता : दिल्ली : हैदराबाद : जयपुर, : पटना

दूसरे संस्करण की भूमिका

दूसरे संस्करण के लिये पाण्डु-लिपि तैयार करते समय बहुत-सी नई सामग्री को इस पुस्तक में सम्मिलित कर लिया गया है। कुछ तो यह नवीन विकासों के कारण आवश्यक हो गया है; और कुछ इस कारण कि प्रथम संस्करण में कुछ विषय जिनका विद्यार्थियों को ज्ञान होना आवश्यक है छूट गये थे और वे इस संस्करण में शामिल कर दिये गये हैं। इस प्रकार पुस्तक का कलेवर लगभग २०% बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न परीक्षा बोर्डों तथा विश्वविद्यालयों के प्रश्नों को छाँट कर विभिन्न अध्यायों के पीछे जोड़ दिया गया है जिससे विद्यार्थियों को यह ज्ञान हो कि उन्हें क्या-क्या विषय विशेषतया समझने चाहिये। वैसे आवश्यक सुधार पुस्तक भर में आदि से अन्त तक किये गये हैं।

भाषा में परिवर्तन कर दिया गया है। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित विशिष्ट शब्दावली का बड़ी सीमा तक प्रयोग किया गया है; पर जहाँ ये शब्द उचित प्रतीत नहीं हुए हैं, वहाँ अपने शब्दों का प्रयोग किया गया है।

प्रयाग,

मई ९, १९६१

—लेखक

प्रथम संस्करण की भूमिका से

भारत की आर्थिक अवस्था तथा समस्याओं पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गई हैं; फिर भी इस वर्ग की पुस्तकों की संख्या लगातार बढ़ती ही जा रही है। अतः वर्तमान पुस्तक लिखने का उद्देश्य स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तीन प्रमुख उद्देश्यों को सामने रख कर लिखी गई है। पहले, मैंने एक ऐसी साधारण साइज की पुस्तक का अभाव सदैव महसूस किया है जो भारत की अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में समस्त आवश्यक तथा आधारभूत सामग्री संक्षेप में और स्पष्ट रूप से दे और साथ में उपयुक्त अंक तथा तथ्य भी दे, क्योंकि बहुधा इस प्रकार की सामग्री बड़े ग्रंथों तक में नहीं मिलती। दूसरे, मैं इस मत को मानता हूँ कि अब भारतीय अर्थशास्त्र को नये दृष्टिकोण से और सन् १९५१ से देश में होनेवाले आयोजनात्मक विकासों को पूरा-पूरा ध्यान में रख कर लिखा जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में, हमें भारतीय अर्थशास्त्र को अब उस नये साँचे में ढालना चाहिये जो पंचवर्षीय योजनाओं ने तैयार कर दिया है। गत दस वर्षों में भारत में इतने नवीन परिवर्तन हुए हैं कि बहुत-सी दिशाओं में हमारी अर्थ-व्यवस्था अब पहचानी भी नहीं जाती और यह प्रतीत होता है कि भारतीय अर्थशास्त्र के बहुत से विषयों का विवेचना अब नये सिरे से और नये आधार पर करना चाहिये (जिसमें पुरानी सामग्री का महत्व बहुत कम होगा) क्योंकि अब समस्याओं का स्वभाव ही बदल गया है। तीसरे, मैंने यह भी अनुभव किया है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए प्रो० हिक्स और प्रो० पीगू ने जिस नई रीति की ओर संकेत किया है, वह रीति भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन पर लागू होती है; और मैंने उसे इस पुस्तक पर लागू करने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक का आरम्भ भारतीय अर्थ-व्यवस्था के स्वभाव तथा पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप उसमें होने वाले परिवर्तन की विवेचना से होता है और उसके बाद हमारी निर्धनता तथा उस पर विजय पाने के लिए किये जा रहे प्रयासों की चर्चा की गई है। निर्धनता का विश्लेषण तथा उसका अध्ययन ऐसा विषय है जिसमें सभी की रुचि है; अतः इसमें समस्त पाठकों की रुचि होना स्वाभाविक है और यह वास्तविकता का परिचायक तथा द्योतक भी है। पिछड़े हुए देशों में निर्धनता की समस्या उत्पत्ति बढ़ाने की समस्या का स्वरूप लेती है; अतः विभिन्न भौतिक एवं मानवीय तत्वों का—जैसे भौतिक वातावरण, जनसंख्या, सिंचाई, शक्ति संसाधन आदि का—विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके पश्चात् उत्पत्ति के विभिन्न स्वरूपों—वन-व्यवसाय, खनिज-व्यवसाय, खेती और उद्योगों—का अध्ययन किया गया है और विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाले हाल के विकास और प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् व्यापार, यातायात, सहकारिता, चलन और बैंकिंग—जो उत्पत्ति को सहायता पहुँचाते हैं—को लिया गया है; और अंत में केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय स्तर के राजस्व का अध्ययन दिया गया है। आशा है कि यह पुस्तक सम्पूर्ण होने के साथ सुव्यवस्थित भी सिद्ध होगी।

यह पुस्तक प्रधानतया अर्थशास्त्र तथा वाणिज्य के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, पर आशा है कि यह सामान्य पाठकों को भी उपयोगी प्रतीत होगी जो भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं जिससे कि वे दिन-प्रतिदिन राजनीतिक क्षेत्र में होने वाली घटनाओं को (जिनका साधारणतया आर्थिक पहलू हुआ करता है) भली-भाँति समझ सकें।

लेखक

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

अध्याय १

भारतीय अर्थ-व्यवस्था का स्वभाव और स्वरूप

"भारतीय अर्थशास्त्र" के अन्तर्गत हम भारत की अर्थ-व्यवस्था के विकास, वर्तमान परिस्थिति एवं भावी उन्नति का अध्ययन करते हैं। "अर्थ-व्यवस्था" से आशय आर्थिक जीवन एवं आर्थिक संस्थाओं के संगठन से है। हम सबसे पहले इस अर्थ-व्यवस्था के स्वभाव और स्वरूप को समझाने की चेष्टा करेंगे और उस पर सामाजिक रीति-रिवाजों एवं संस्थाओं का पड़ने वाला प्रभाव भी स्पष्ट करेंगे। हमारी अर्थ-व्यवस्था आजकल किस प्रकार की है और वह किस दिशा में जा रही है, ये प्रश्न बहुत महत्व के हैं।

§ १. भारतीय अर्थ-व्यवस्था का स्वभाव

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के कुछ प्रमुख लक्षण हैं, जिनसे उसका स्वभाव स्पष्ट हो जाता है। पहले, भारत एक अन-उन्नत देश है, जिसका अर्थ यह होता है कि यह एक निर्धन देश है। हमारे देश में प्राकृतिक-संसाधनों का प्राचुर्य है किन्तु उनका उचित तथा वैज्ञानिक शोषण नहीं किया जा रहा है। इसी अर्थ में हमारा देश अन-उन्नत है। देश की आर्थिक प्रगति के लिए काफी क्षेत्र है। दूसरे, भारत की जनसंख्या महान है और वह गति से बढ़ रही है। परिणाम यह है कि देशवासियों का जीवन-स्तर (या प्रति-व्यक्ति आय) ऊँचा करना कठिन काम है; क्योंकि राष्ट्रीय आय की वृद्धि नई जनसंख्या के पालन में व्यय हो जाती है। तीसरे, अधिकांश भारतवासी अपनी जीविका के लिए खेतों पर निर्भर होते हैं। जीविका-ढांचे (Livelihood Pattern) की खेती पर इतनी निर्भरता हमारी अर्थ-व्यवस्था की बड़ी कमजोरी है। चौथी, भारतीय अर्थ-व्यवस्था परिवर्तन-काल में होकर गुजर रही है। यद्यपि यह मध्य-कालीन या अन-उन्नत अर्थ-व्यवस्था है, तथापि यह आधुनिक या उन्नत अवस्था की ओर चरण बढ़ा रही है। पाचवें, परिवर्तन तथा विकास की क्रिया को पंच-वर्षीय योजनाओं ने एक नवीन गति प्रदान कर दी है। हर नई योजना आर्थिक उन्नति की गति को तेज कर देती है, और आशा की जाती है कि पच्चीस वर्ष में हमारी राष्ट्रीय आय दोगुनी हो जायेगी। अन्त में, भारत में कुछ पुरानी सामाजिक संस्थाएँ जैसे जाति प्रथा और संयुक्त परिवार-प्रथा अब भी चली आ रही हैं। कुछ दिशाओं में ये बहुत लाभदायक प्रमाणित होती हैं किन्तु कभी-कभी वे आर्थिक विकास में बाधा भी डालती हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से इनकी ढिलाई वाञ्छनीय होगी।

§ २. भारत में पेशेवार विभाजन या जीविका-ढाँचा

हम सबसे पहले अपने देश की जनता के पेशेवार विभाजन पर प्रकाश डालेंगे। पेशेवार विभाजन यह बताता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न पेशों का क्या सापेक्षिक

महत्व है। दूसरे शब्दों में यह बताता है कि देशवासी अपनी जीविका का उपार्जन किस प्रकार करते हैं। यही कारण है कि इसे "जीविका-ढाँचा" भी कहा जाता है। किसी एक पेशे पर देश का अधिकांशतः निर्भर रहना भयावह होता है, क्योंकि उस पेशे की असफलता व्यापक कष्ट का कारण हो सकती है। देश की अर्थ-व्यवस्था में विभिन्नता (Diversification) होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त खेती से सामान्यतया अधिक आय भी प्राप्त नहीं हो पाती। भारत में जीविका-ढाँचा सन्तोषप्रद नहीं है; क्योंकि अधिकांश कमाने वाले खेती पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर रहते हैं।

हम नीचे भारत के जीविका-ढाँचे के कुछ प्रमुख लक्षणों की चर्चा करेंगे।

आत्म-निर्भर व्यक्ति तथा आश्रित व्यक्ति

भारतीय अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण, जो सन् १९५१ की जन-गणना से स्पष्ट हुआ, यह है कि जीविकाहीन आश्रित कुल जनसंख्या के ७०·७% हैं। जीविकाहीन आश्रित (अर्थात्, वे व्यक्ति जो जीविका उपार्जित नही करते) प्रधानतया स्त्रियाँ और बच्चे होते हैं। आत्मनिर्भर व्यक्ति (अर्थात् वे व्यक्ति जो कम से कम अपने निर्वाह के लिए पर्याप्त आय कमाते हैं) देश की कुल जनसंख्या के २९.३% हैं। आत्म-निर्भर व्यक्ति जीविका-हीन आश्रितों का पालन करते हैं।

खेती तथा अन्य पेशों पर निर्भरता—एक और प्रमुख लक्षण यह है कि आत्मनिर्भर व्यक्तियों का एक बड़ा प्रतिशत अपनी जीविका उपार्जित करने के लिए खेती पर निर्भर होता है। यह प्रतिशत ६८.१ है। शेष ३१.९% ऐसे आत्मनिर्भर व्यक्ति हैं जो खेती के अतिरिक्त अन्य पेशों में सलग्न हैं। इससे भारतीय अर्थ-व्यवस्था में खेती का विशेष महत्व स्पष्ट है।

ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन मजदूर—भारत में ७.१० करोड़ व्यक्ति खेती से जीविका कमाते हैं। इनमें से १.४९ करोड़ व्यक्तियों के पास कोई अपनी भूमि नही होती, और वे भू-स्वामियों द्वारा मजदूरी के प्रतिफल में काम पर आवश्यकतानुसार लगा लिए जाते हैं। दूसरे शब्दों मे, खेती पर निर्भर कमाने वालों का २१% भाग भूमिहीन मजदूरों का है। ऐसे मजदूरों की अवस्था बहुत सोचनीय होती है; इसलिए उनका इतना बड़ा प्रतिशत चिन्ता का विषय है।

गैर-किसान आत्मनिर्भर व्यक्तियों की अवस्था—भारत में ३.३४ करोड़ व्यक्ति खेती के अतिरिक्त अन्य पेशों से अपनी जीविका उपार्जित करते हैं। इनमें से लगभग आधे व्यक्ति अपना निजी काम करने वाले (Self-employed persons) होते हैं। ऐसे व्यक्ति जो वेतन या मजदूरी पर काम करते हैं ४४% हैं। मालिक केवल ३% हैं; और शेष ३% पेंशन पाने वाले, किराये या ब्याज पर रहने वाले तथा अन्य प्रकार से आय कमाने वाले होते हैं। शहरी व्यक्तियों में निजी काम करने वालों का प्रतिशत इतना अधिक होने का आशय यह है कि भारत छोटी-छोटी व्यापारिक इकाइयों का देश है।

इस वर्ग में जो व्यक्ति आते हैं, वे अधिकांशतः उद्योगों, वाणिज्य तथा सार्वजनिक प्रशासन में संलग्न हैं। उनके प्रतिशत क्रमशः ३०, २० और १० हैं। शेष ४०% निर्माण, यातायात, खान-खुदाई, आदि पेशों में काम करते हैं।

जनसंख्या के पेशेवार विभाजन पर विहंगम दृष्टि—अब हम अपने देश की जनसंख्या के पेशेवार विभाजन पर एक विहंगम दृष्टि डाल सकते हैं। यह बगलवाली सारिणी से स्पष्ट है। खेती से जीविका कमाने वाले व्यक्ति समस्त आत्म-निर्भर व्यक्तियों के ६८% हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि किसान के कल्याण में ही देश का कल्याण है। उद्योग केवल १४% व्यक्तियों को ही जीविका प्रदान करते हैं। वाणिज्य और यातायात (जो खेती तथा उद्योग की सहायता करते हैं) समस्त कार्यशील जनसंख्या के केवल ८% को ही रोजगार देते हैं। शेष १०% व्यक्ति अन्य पेशों से अपनी जीविका कमाते हैं।

सारिणी १

जनसंख्या का पेशेवार विभाजन

पेशा	आत्म-निर्भर व्यक्तियों का प्रतिशत
१. खेती	६८
२. उद्योग	१४
३. वाणिज्य	६
४. यातायात	२
५. विविध	१०
	१००

भारतवासियों का अकेले खेती पर इतनी बड़ी सीमा तक निर्भर होना बहुत चिन्ता की बात है। पहले, खेती वर्षा, जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक बातों पर निर्भर होती है; और जब ये बातें प्रतिकूल होती हैं तब खेती असफल हो जाती है, और देश में व्यापक संकट फैल जाता है। दूसरे, खेती से कम आय प्राप्त होती है, और उसमें संलग्न व्यक्ति अधिकतर गरीब होते हैं। तीसरे, खेती समस्त जनसंख्या को रोजगार नहीं दे पाती; खेती में लगे बहुत से व्यक्तियों को साल में केवल कुछ ही महीने काम मिल पाता है, अर्थात् वे न्यून-सेवायुक्त (Under-employed) रहते हैं। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि देश में उद्योगों का शीघ्र विकास बहुत महत्व का है ताकि कार्यशील जनता का एक बड़ा भाग उद्योगों से जीविका कमा सके।

क्या प्रकृति ने भारत को खेतिहर होने के लिए बनाया है ?

कभी-कभी यह सोचा जाता है कि हमारे प्राकृतिक संसाधनों के स्वभाव से मालूम पड़ता है कि इसका खेतिहर देश होना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण की निकट परीक्षा अपेक्षित है।

यदि हम आर्थिक-संसाधनों का ध्यानपूर्वक मनन करें, तो हमें पता चलेगा कि हमारा देश एक बड़ा औद्योगिक देश बन सकता है। हमारे यहाँ बहुमूल्य लोहे की खानें हैं और पाया जाने वाला कोयला तथा जल-विद्युत पर्याप्त मात्रा में शक्ति प्रदान कर सकते हैं। स्वयं खेती से बहुमूल्य कच्चे पदार्थ मिलते हैं जो उद्योगों में काम आते हैं। देश की महान जनसंख्या न केवल काम करने के लिए मजदूर देती है, प्रत्युत उद्योगों द्वारा तैयार किये जाने वाले माल के लिए बाजार भी प्रदान करती है। अतः यह कहना कि भारत को खेतिहर होने के लिए ही प्रकृति ने बनाया है, ठीक नहीं।

औद्योगिक उन्नति के आधारभूत संसाधनों के होते हुए भी हमारा देश खेतिहर इस कारण है कि वह अन-उन्नत है। ब्रिटिश काल में विदेशी शासकों ने औद्योगीकरण को प्रोत्साहित नहीं किया; और इसके फलस्वरूप हमारे संसाधनों का भी पूरा और अच्छा प्रयोग नहीं हो सका है। उनके शोषण के लिए अब प्रयत्न किये जा रहे हैं।

आजकल भारत खेती तथा उद्योग दोनों की ही उन्नति के लिए प्रयास कर रहा है; क्योंकि उसके पास दोनों ही अनुकूल प्राकृतिक संसाधन हैं। खेती का स्वभाव ऐसा

है कि आरंभ में तो उसकी उन्नति होती रहती है, किन्तु कुछ काल बाद ऐसी अवस्था आती है कि फिर आगे की उन्नति के लिए क्षेत्र नहीं रहता। तब औद्योगिक उन्नति के गतिपूर्वक विकास का अवसर आता है। हम आशा कर सकते हैं कि भारत की भी उन्नति यही मार्ग ग्रहण करेगी; और समय व्यतीत होने के साथ-साथ हमारी आर्थिक उन्नति अधिकांशतः औद्योगिक उन्नति का स्वरूप ग्रहण करती जायेगी।

३. § भारतीय अर्थ-व्यवस्था का परिवर्तन-काल

भारत परिवर्त्तन-काल (Transition) में है

हमारा देश आजकल पिछड़ी हुई या मध्यकालीन (medieval) अवस्था को छोड़कर उन्नत या आधुनिक अवस्था में प्रवेश कर रहा है। भारत में मध्यकालीनता के लोप होने तथा आधुनिक काल के आगमन के कुछ चिह्न निम्नलिखित हैं : (अ) भारत में अब रीति-रिवाज का प्रभुत्व कम हो रहा है और स्पर्द्धा (Competition) का महत्व बढ़ रहा है। जो लगान या मजदूरी पहले रीति-रिवाज के अनुसार दी जाती थी, वह अब स्पर्द्धा द्वारा निर्धारित होने लगी है। (आ) पहले जनसंख्या अधिकतर गाँवों में रहती थी और यातायात के साधन कम होने के कारण प्रत्येक गाँव लगभग आत्म-निर्भर (Self-sufficient) था। पर अब बड़े-बड़े शहरों की संख्या और आबादी बढ़ रही है और यातायात की उन्नति के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों की पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ रही है। (इ) पहले खेती का सापेक्षिक महत्व अधिक था, पर अब यह कुछ कम हो चला है और उद्योग तथा व्यापार का महत्व बढ़ रहा है। (ई) पहले दस्तकारी का बोलबाला था, पर अब कारखाने स्थापित होने लगे हैं। (उ) अब अदल-बदल (Barter) की प्रथा का लोप-सा हो रहा है और द्रव्य (या रुपये-पैसे) का प्रयोग बढ़ रहा है। (ऊ) पहले महाजन का बहुत प्रभुत्व था और सूदखोरी बहुत चलती थी, पर अब देश में आधुनिक बैंकिंग एवं साख प्रणाली का विकास हो रहा है।

४. § भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था विकसित हो रही है, आगे बढ़ रही है, उन्नतिशील है। किन्तु यह उचित समझा गया है कि यह उन्नति अनियोजित तथा स्वेच्छाचारी न हो प्रत्युत इसके लिए कुछ स्पष्ट लक्ष्य और उद्देश्य निश्चित कर दिये जायें जिनको प्राप्त करने की यह चेष्टा करती रहे।

हमारी अर्थ-व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य

हमारी अर्थ-व्यवस्था का अंतिम लक्ष्य हमारे संविधान द्वारा स्थिर कर दिया गया है। यह अंतिम लक्ष्य है समाजवादी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना। इसके अनुसार हमारे समस्त देशवासियों को जीविका उपार्जन के समान अवसर दिये जायेंगे; आर्थिक साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण देश के हित में किया जायगा; उत्पत्ति के साधनों के शोषण के लिए उपयोग वर्जित कर दिया जायगा; धन का कुछ व्यक्तियों के पास केन्द्रीकरण नहीं होने दिया जायगा; और काम के बदले उपयुक्त पुरस्कार दिया जायगा। इनसे स्पष्ट है कि हमारा अंतिम उद्देश्य देश में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना है।

हमारी अर्थ-व्यवस्था के वर्तमान लक्ष्य

हमारी अर्थ-व्यवस्था के वर्तमान लक्ष्य निम्न तरीके से स्थिर किये गये हैं :

(अ) **पंचवर्षीय योजना द्वारा**—हमारी आर्थिक उन्नति योजनात्मक आधार

(Planned basis) पर हो रही है और होगी। हमारे देश में एक पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) कार्यान्वित हो चुकी है जिसने सामूहिक रूप से हमारी अर्थ-व्यवस्था की उन्नति की है। इसका केन्द्रीय उद्देश्य हमारे देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना—अथवा गरीबी कम करना— था : इसने हमारी राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि की और हमारी प्रति व्यक्ति आय भी ११% बढ़ी। अब हम दूसरी पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित कर रहे हैं जिसकी अवधि १९५६-६१ है और जो हमारी राष्ट्रीय आय में २५% की वृद्धि कर सकेगी।

(आ) कांग्रेस के 'समाजवादी रूपी ढाँचे' के प्रस्ताव द्वारा—हमें देश में समाजवाद स्थापित करना है। सन् १९५५ में कांग्रेस ने अपने वार्षिक समारोह में एक प्रस्ताव पास किया जिसका उद्देश्य भारत में समाजवाद से मिलती-जुलती अर्थ-व्यवस्था कायम करना है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था को "समाजवाद रूपी ढांचा" (Socialistic Pattern of Society) कह कर पुकारा गया है। भारत सरकार ने यह सुझाव मान लिया है; और यह उद्देश्य पंचवर्षीय योजनाओं में निहित है।

इसका यह अर्थ हुआ कि वर्तमान काल में यह प्रयत्न किया जा रहा है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था अधिक धन उत्पन्न करे और गरीबी कम करे और साथ ही यह 'समाजवाद रूपी ढांचा" ग्रहण करती जाय।

§ ५. भारतीय सामाजिक संस्थाओं के आर्थिक प्रभाव

किसी भी देश की आर्थिक उन्नति करते समय, उसकी सामाजिक संस्थाओं (Social Institutions) का पूरा ध्यान रखना चाहिये। ये संस्थाएँ आर्थिक उन्नति में सहायक या बाधक हो सकती हैं। भारत की प्रमुख सामाजिक संस्थाएं तीन हैं: (१) जाति प्रथा, (२) संयुक्त परिवार प्रणाली, और (३) धार्मिक विचार प्रणाली। अब हम इन तीनों के आर्थिक प्रभावों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

जाति प्रथा

जाति प्रथा हमारे समाज में प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके अन्तर्गत हर जाति का पेशा निर्धारित कर दिया गया है; और बच्चे के जन्म से ही उसका पेशा स्थिर हो जाता है। परिवारों के उस समूह को जो सब एक निश्चित पेशा करते हों, जाति कहा जाता है।

इसके लाभ—(१) यह श्रम-विभाजन का एक उदाहरण है। श्रम-विभाजन अर्थशास्त्र में बहुत लाभदायक माना गया है। (२) पिता पैतृक कुशलता तथा व्यापारिक भेदों के ज्ञान को इसके द्वारा अपने पुत्र को सौंप देता है; इससे कार्यक्षमता बनी रहती है। (३) वह पारस्परिक लाभ (mutual benefit) के बहुत से काम करती है जैसे युवकों का व्यवसाय सम्बन्धी उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना, मजदूरी और लाभ का दर निश्चित करना, झगड़ों का फैसला करना, खराब चाल-चलन के व्यक्तियों को सजा देना, आदि। (४) देश पर रह-रह कर हमले हुए, पर जाति प्रथा के कारण जाति की पवित्रता बनी रही और हमारा देश छिन्न-भिन्न नहीं हो पाया। (५) इसके कारण युवकों को यह निश्चय करने की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता कि वे किस पेशे में कदम रक्खें।

इसके दोष—आजकल जाति प्रथा से हमें बहुत-सी आर्थिक हानियां हो रही हैं और ये लाभों से कहीं अधिक हैं। (१) यह मनुष्य का पेशा स्थिर करते समय उसके स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति का ध्यान नहीं रखती; अतः वह अधिक कार्यकुशल नहीं हो पाता।

(२) मनुष्य अपना पेशा नहीं बदल सकता; अतः यह गतिहीन (immobile(?) जाता है। इस कारण पूँजी भी गतिशील नहीं होती; क्योंकि भारत में मनुष्य अधिकतर अपनी ही पूँजी से काम करता है। श्रम और पूँजी की गतिहीनता से बहुत हानियाँ होती हैं। (३) यह बड़े-बड़े कारखानों के स्थापन में भी बाधक होती है। ऊँची और नीची जाति के लोग साथ-साथ काम करने में हिचकते हैं; कुछ जाति के लोगों में किसी खास काम के करने का निषेध होता है जिससे काम बाँटने में कठिनाई होती है। सब जातियों का खान-पान और उपभोग अलग हो जाने के कारण एक-से माल को बड़ी मात्रा में उत्पन्न करने में कठिनाई होती है। (४) ऊँची जातियाँ नीची जाति के काम करने में आपत्ति करती हैं जैसे धोबी या भंगी का काम। इससे कुछ पेशों के विरुद्ध धारणा बन जाती है और इनमें सुधार करने की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। (५) जाति भावना कभी-कभी खेती या उद्योग में अच्छे तरीके इस्तेमाल करने में भी बाधा डालती है। उदाहरण के लिए, खेती में हड्डी या मछली की खाद का प्रयोग अधिकतर ऊँची जातियों में निषिद्ध माना जाता है।

जाति प्रथा का भविष्य—हाल में जाति प्रथा का आर्थिक पहलू बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गया है। रेलों के बन जाने से मनुष्य गतिशील हो गये हैं और शहरों में स्थापित कारखानों और दफ्तरों में अपना पैतृक पेशा छोड़ कर काम करने लगे हैं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण बाप-दादों के ही पेशों में लगा रह कर जीविका कमाना जब कठिन हो जाता है, तब मनुष्य अन्य पेशे अपनाने लगते हैं। ब्राह्मणों को दर्जी का काम, वैश्यों को शिक्षा-प्रदान का काम तथा क्षत्रियों को दफ्तर में काम करते हुए देखा जा सकता है। पश्चिमी सभ्यता तथा शिक्षा ऊँच-नीच का भेद-भाव मिटाती है; और शिक्षा संस्थाओं में ऊँची और नीची जाति के विद्यार्थी समान रूप से पढ़ते हैं। कानून भी जाति-भेद नहीं मानता। नीची जाति में अब जागृति हो रही है और वे अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा कर रहे हैं। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों ने भी जाति-पाँत का अन्तर मिटाया और एकता की भावना जगायी है। अतः आर्थिक क्षेत्र में यह भेदभाव बहुत कुछ उठ चला है। जो अवशेष है, वह शिक्षा, अंतर्जातीय विवाह तथा बौद्धिक स्तर को ऊँचा करने से दूर किया जा सकता है।

संयुक्त परिवार प्रणाली

हमारी एक और सामाजिक संस्था संयुक्त सामाजिक प्रणाली है। इसके अनुसार कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ मिलकर रहते हैं, एक जगह रुपया कमा कर रखते हैं, एक रसोईघर में खाते हैं, और एक ही जगह से रुपया खर्च करते हैं। घर का काम-काज सब से बड़े के हाथ में होता है जिसे कर्ता कहते हैं। यह प्रथा भी बहुत पुरानी है।

इसके लाभ—(१) यह वृद्धावस्था, अकाल मृत्यु, बीमारी आदि के प्रति रक्षा प्रदान करती है। वृद्ध होने पर जब आदमी कमा नहीं सकता, तब उसकी देख-रेख होती रहती है। अकाल मृत्यु हो जाने पर विधवा को खाने-पीने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती और अनाथ बच्चों की शिक्षा तथा शादी का प्रबन्ध हो जाता है। लम्बी बीमारी में भी संयुक्त परिवार इलाज आदि का उचित प्रबन्ध करता है। (२) बड़े परिवार में रहन-सहन का व्यय कम होता है। कई छोटे परिवारों की अपेक्षा एक बड़े परिवार में बर्तन, फर्नीचर आदि कम खरीदने पड़ते हैं। इस प्रकार किफायत हो जाती है। (३) यह भूमि को विभाजित होने से रोकती है तथा बड़े पैमाने की खेती सम्भव करती है। (४) यह सदस्यों में स्वार्थ-त्याग और पारस्परिक प्रेम की भावना जागृत करती है।

इसकी हानियाँ—(१) संयुक्त परिवार में सदस्य चाहे कितना कम या ज्यादा काम क्यों न करे, उसके रहन-सहन का प्रबन्ध होता रहता है। अतः सदस्यों में अधिक काम करके अधिक रुपया कमाने का प्रोत्साहन नहीं रहता। (२) हर सदस्य को कर्ता की आज्ञा माननी पड़ती है और समूह के भले का ध्यान रखना पड़ता है, अतः उसके व्यक्तित्व (Personality) का पूर्ण विकास नही हो पाता। (३) इस प्रथा में पूंजी का संचय (accumulation) भी कम होता है क्योंकि परिवार की लगभग पूरी कमाई आवश्यकतापूर्ति पर खर्च हो जाती है। (४) परिवार का स्नेह इतना अधिक हो जाता है कि मनुष्य घर से बाहर ही नहीं निकलना चाहता और श्रम की गतिशीलता (mobility) कम हो जाती है।

इसका वर्तमान और भविष्य—संयुक्त परिवार प्रणाली भी अब छिन्नभिन्न हो रही है। पारिवारिक व्यवसायों के पतन के कारण और रेलों के बन जाने से मनुष्यों ने दूर-दूर शहरों में बसना आरम्भ कर दिया जिससे संयुक्त परिवार प्रणाली को धक्का लगा है। व्यक्तिवाद (Individualism) अर्थात् अपने ही भले की सोचने की भावना ने भी इस प्रणाली को अशक्त बना दिया है।

धार्मिक विचार प्रणाली

यह कहा जाता है कि भारत की धार्मिक विचार प्रणाली आर्थिक उन्नति के प्रतिकूल है। पहली बात तो यह है कि यह मोक्ष प्राप्ति पर जोर देती है और परलोक सुधारने को विशेप महत्वपूर्ण मानती है। अतः यह आर्थिक अवस्था सुधारने से विराग उत्पन्न करती है। दूसरी बात यह है कि धर्म के कारण भारतीय भाग्यवादी बन गये हैं। वे समझते हैं कि जो किस्मत में लिखा है वही होगा। अतः वे आबादी का बढ़ना नहीं रोकते और परिश्रम तथा साहस द्वारा अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने का प्रयत्न नहीं करते।

किन्तु यह धारणा पूर्णतया ठीक नहीं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में भारत आर्थिक एवं वैज्ञानिक उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच गया था। उस समय यहाँ का धर्म भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अतः इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। दूसरे, हमारा धर्म हमें कर्म करना सिखाता है, हाथ पर हाथ रख कर भाग्य पर विश्वास करना नहीं। हाल में धर्म को ठीक-ठीक समझने-समझाने की चेष्टा की जा रही है। तीसरे, हमारा भाग्यवाद बहुत कुछ हमारी दरिद्र और निराश परिस्थिति का परिणाम है, धर्म का नहीं।

§ ६. भारत में रीति-रिवाजों का महत्व

पिछड़े देशों का यह लक्षण होता है कि उनमें रीति-रिवाज या दस्तूर का बहुत महत्व होता है। जब द्रव्य का प्रयोग नहीं होता और अदल-बदल या बार्टर (अर्थात् वस्तु का वस्तु से बदला करने) का चलन होता है, तब तक मजदूरी, लगान, ब्याज आदि रीति या दस्तूर के हिसाब से लिये-दिये जाते हैं। कुछ समय पूर्व हमारे देश में दस्तूर का बहुत महत्व था। उस समय हमारे देश के निवासी रूढ़िवादी (Conservative) थे; हमारी अर्थ-व्यवस्था अपरिवर्तनशील (static) थी और हमारे यहाँ अदल-बदल का प्रचार था। अतः मजदूरी, लगान, ब्याज आदि के दर रीति द्वारा निर्धारित होते थे। स्पर्धा (Competition) कम थी और भाव-ताव बहुत कम होता था। किन्तु अब अवस्था बदल गई है। द्रव्य के चलन, आर्थिक कठिनाइयों तथा व्यक्तिवाद के

विकास के कारण अब स्पर्द्धा का महत्व बढ़ गया है और रीति-रिवाज का महत्व बहुत थोड़ा रह गया है।

रीति का लगान पर महत्व—पहले हमारे देश में किसान जमींदारों को एक निश्चित दर पर लगान देते रहते थे। इसका कारण यह था कि खेत काफी थे और वे किसानों को आसानी से मिल जाया करते थे। इसके अलावा किसान जमींदार के घर पर काम करता था और उसकी सेवा करता था; उसके बदले में जमींदार किसान की मदद करता था और उसका संरक्षक था। अतः लगान के बढ़ने का प्रश्न नहीं आता था। पर धीरे-धीरे जनसंख्या बढ़ी, खेतों की मांग भी अधिक हो गई, तथा किसानों और जमींदारों के सम्बन्ध में भी अन्तर आ गया। अतः जब खेतों की मांग अधिक होती, तब जमींदार लगान बढ़ा देते। इस तरह लगान धीरे-धीरे स्पर्द्धा या प्रतियोगिता द्वारा स्थिर होने लगे।

रीति का मजदूरी पर प्रभाव—पहले यह रिवाज था कि नौकर मालिक के यहाँ खाना खाते थे; और मालिक उन्हें समय-समय पर वस्तुओं के रूप में (in kind) रिवाज के अनुसार पुरस्कार देता रहता था। नौकरी लम्बे समय के लिए—जैसे साल भर के लिए—की जाती थी। नौकरों में स्वामिभक्ति बहुत थी; और मालिक नौकरों के भले का ध्यान रखते थे। किन्तु अब वह बात नहीं रही। अब नौकर भाव-ताव करते हैं; और मालिक उन्हें मजदूरी कम-ज्यादा, जैसा मौका हो, तय कर के देते हैं। अतः यहाँ भी स्पर्द्धा का अब बोलबाला है।

रीति का मूल्यों पर प्रभाव—पहले हमारे देश में, प्रधानतया गाँवों में, वस्तुओं का अदल-बदल होता था; और यह जमाने से चली आने वाली दरों पर होता था। जब कि सौदा रुपये-पैसे से होता था, तब भी पुराने मूल्य ठीक समझे जाते थे। पर द्रव्य या रुपये-पैसे के प्रचार के बढ़ जाने के बाद ऐसा होना बन्द हो गया। अब मूल्य बाजार की मांग और पूर्ति द्वारा भाव-ताव के बाद निर्धारित होता है।

सारांश

१. भारत कम उन्नत देश है। यहाँ की जनसंख्या महान है। यह कृषि-प्रधान देश है। इसकी अर्थ-व्यवस्था परिवर्तन-काल में है।

२. जीविका कमानेवालों का ६८% खेती पर १४% उद्योगों पर, ६% वाणिज्य पर, २% यातायात पर, तथा शेष १०% अन्य पेशों पर निर्भर है।

३. भारत अब पिछड़ी हुई अवस्था छोड़कर उन्नत अवस्था में प्रवेश कर रहा है।

४. हमारी अर्थ व्यवस्था का अंतिम लक्ष्य समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना है। आर्थिक उन्नति योजनात्मक आधार पर हो रही है।

५. जाति-प्रथा का दूर होना श्रेयस्कर है और इसका प्रभाव कम हो रहा है। संयुक्त परिवार प्रणाली भी छिन्न-भिन्न हो रही है। यह कहना कि हमारा धर्म उन्नति में बाधक है पूर्णतया ठीक नहीं।

६. भारत में रीति-रिवाज का महत्व थोड़ा रह गया है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकण्डरी

1. Write a note on occupational distribution of the population in India. (1958).

2 What do you understand by economic transition. Is India still in the process of transition ? (1955).

3. Write a note on occupational distribution in India. (1955).

4. Give an idea of the changes that have taken place in the economic life of the country during last 50 years, and particularly since Independence. (1954).

पंजाब, इन्टर

5. Make a case against caste system and joint family system in India. (1957).

5A. 'Prosperity of the peasant is the prosperity of the country.' Do you think this is true of India ? Explain. (1957).

5B. Write a short note on customary payments in an Indian village. (1957).

जम्मू-काशमीर, इन्टर आर्ट्स

6. Explain the significance of (*a*) the caste system and (*b*) the joint family system of Indian economy. (1953.)

7. Name the special features of Indian society. Do they help or hinder the economic progress of the country ? Give reasons for your answer. (1952).

8. Point out the economic effects of the Indian caste system. Are you in favour, or against, its retention ? Give reasons for your answer. (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

9. Write a note on economic effects of cast system. (1956).

9A. Examine critically the defects of occupational distribution of population in India. What steps would you suggest to remove these defects ? (1955).

पटना, इन्टर आर्ट्स

10. Write a note on the economic effects of the joint family system in India. (1956)

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

11. Describe the main features of Indian rural life and clearly bring out the changes which have come about in recent years. (1952).

12. Do you agree with the view that nature has destined India to be an agricultural and not a manufacturing country. Give reasons. (1951).

अध्याय २

भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि देश के आर्थिक विकास के लिये आर्थिक नियोजन (Economic Planning) के सिद्धान्त तथा रीति को अपनाया जाय। अतः उन्होंने प्रथम पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश सन् १९५१ में किया और यह सन् १९५६ में पूरी हुई। सन् १९५६ में दूसरी पंचवर्षीय योजना का सूत्र-पात हुआ और यह सन् १९६१ में पूरी हो जायगी। अतः यह आवश्यक है कि हम इस बात का अध्ययन करें कि पहली योजना कहाँ तक सफल हुई और दूसरी योजना की किस सीमा तक सफल होने की आशा की जा सकती है।

§ १. आर्थिक नियोजन (Planning) और विकास (Development)

आर्थिक योजना का अर्थ

आर्थिक योजना का शाब्दिक अर्थ है अर्थ-व्यवस्था की उन्नति की एक योजना या निश्चित कार्यक्रम। इस निश्चित कार्यक्रम के प्रमुख गुण तीन होते हैं :

(१) इस योजना की अवधि निश्चित होती है। बहुधा आर्थिक योजनाएँ पाँच साल के लिये बनाई जाती हैं क्योंकि यह अवधि न तो बहुत छोटी होती है और न बहुत लम्बी।

(२) योजना में लक्ष्यों को निर्धारित करके उत्पत्ति को बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। सरकार यह तय कर लेती है कि एक निश्चित समय (जैसे ५ साल) में उसे कृषि की उपज कितनी बढ़ानी है, कारखानों की उत्पत्ति में कितनी वृद्धि करनी है, यातायात के साधन, बैंक, सिंचाई और शक्ति के साधन आदि कितने बढ़ाने हैं, आदि। फिर सरकार इस उन्नति के लिए आवश्यक धन, यंत्र, कुशल व्यक्ति आदि का प्रबन्ध करती है। कोशिश इस बात की की जाती है कि निश्चित अवधि में निश्चित कार्य-क्रम पूरा कर दिया जाय।

(३) योजना में आय का वितरण सुधारने की भी चेष्टा की जाती है। दूसरे शब्दों में, इस बात की कोशिश होती है कि हर व्यक्ति की आय पर्याप्त हो और देशवासियों की व्यक्तिगत आयों में अधिक अन्तर न हो। तभी देश का अधिकतम आर्थिक कल्याण हो सकता है।

अतः हम कह सकते हैं कि एक निश्चित समय में लक्ष्य स्थिर करके और उनको पूरा करके उत्पत्ति को अधिकतम बनाने तथा आय के वितरण को सुधारने के कार्यक्रम को ही आर्थिक योजना (Economic Plan) कहते हैं।

आर्थिक योजना से लाभ

अर्थिक योजना से कई लाभ होते हैं। पहले, इसके द्वारा उत्पत्ति शीघ्र और काफी मात्रा में बढ़ जाती है। दूसरे, उत्पत्ति के किसी क्षेत्र की उपेक्षा नहीं होती क्योंकि योजना

में एक साथ सब क्षेत्रों की उन्नति करने का प्रबंध किया जाता है। बिना योजना के काम करने से यह हो सकता है कि उद्योगों की उन्नति अधिक हो जाय पर यातायात का पर्याप्त विकास न हो या बैंकिंग पिछड़ जाय। पर योजना में ऐसा नहीं हो सकता। तीसरे, व्यक्तिगत साहसी मनमानी नहीं कर सकते। उन्हें योजना के अनुसार उत्पत्ति बढ़ानी पड़ती है और उपभोक्ताओं के हित का ध्यान रखना पड़ता है। चौथे, योजना स्वतंत्र उत्पादकों में एकता स्थापित करती है और उन्हें एक दिशा में ले जाती है। पाँचवें, यह व्यक्तिगत आय को पर्याप्त बना कर और पारस्परिक असमानता (inequality) कम करके देश का बहुत कल्याण करती है। अतः अब यह माना जाने लगा है कि देश के शीघ्र आर्थिक विकास के लिए हमें योजनात्मक उन्नति करनी चाहिये।

भारत में आर्थिक योजना का विकास

इस विश्वास के कारण भारत की योजनात्मक आर्थिक उन्नति करने की बात कई साल पहले से चल रही थी। ब्रिटिश सरकार ने (जिसकी अब भारत में इतिश्री हो गई है) भारत की योजनात्मक उन्नति का ढोंग रचा और बड़े-बड़े सुन्दर चित्र खींचे; किन्तु उन्होंने रचनात्मक कार्य कुछ भी नहीं किया। किन्तु हमारे कुछ उद्योगपतियों ने एक आर्थिक योजना बनाई जिसे "उद्योगपतियों की योजना" कहा जाता है। इस योजना में १५ वर्ष के अन्दर कृषि की उत्पत्ति में १३० प्रतिशत वृद्धि और औद्योगिक उत्पत्ति में ५०० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन किया गया। इस योजना की लागत १०,००० करोड़ रुपये बताई गई। इसके अतिरिक्त एक "राय योजना" प्रकाशित हुई, जो श्री एम० एन० राय के प्रोत्साहन द्वारा बनी। कुछ काल बाद श्री श्रीमन्नारायण ने गांधी जी की अनुमति से एक "गांधी योजना" भी छापी। पर इस सबका शीघ्र परिणाम कुछ न हुआ। ब्रिटिश सरकार के भारत से कूच कर जाने के बाद कांग्रेस मंत्रिमंडल, केन्द्र एवं राज्यों में स्थापित हुए। कांग्रेस योजनात्मक उन्नति की पक्षपाती रही है। अतः केन्द्रीय सरकार ने एक योजना कमीशन (Planning Commission) नियुक्त किया जिसकी योजना प्रकाशित हुई और कार्यान्वित की गयी। यह हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five-Year-Plan) थी जिसका समय-विस्तार १९५१-१९५६ था। भारत का योजना कमीशन मार्च १९५० में बैठाया गया था। उसने दिसम्बर १९५२ में पंचवर्षीय योजना का अन्तिम स्वरूप प्रकाशित किया। किन्तु इसके अनुसार काम अप्रैल १, १९५१, से ही आरम्भ कर दिया गया था। दूसरी योजना १९५६-१९६१ में कार्यान्वित हुई। अब तीसरी योजना (१९६१-१९६६) का सूत्रपात हुआ है।

§ २. भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना

भारत की योजना पांच साल की थी और अप्रैल १९५१ से लेकर मार्च १९५६ तक कार्यान्वित रही। इसके अनुसार सरकार ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में २,०६९ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया। इसका अन्तिम उद्देश्य हमारी कुल राष्ट्रीय आय को ९,००० करोड़ रुपये से बढ़ा कर १०,००० करोड़ रुपये कर देना था, अर्थात् इसके फलस्वरूप हमारी कुल राष्ट्रीय आय में ११% वृद्धि होने को थी।

रुपये का विनियोग

वास्तविक विनियोग रु० २०१३ करोड़ का अनुमानित हुआ। यह इस प्रकार किया गया:

सारिणी २

प्रथम योजना में विनियोग का ढाँचा

व्यय का शीर्षक	करोड़ रुपये	कुल व्यय का प्रतिशत
१. सिंचाई और शक्ति-स्रोत	५८५	२९.१
२. यातायात	५३२	२६.४
३. खेती और सामुदायिक योजनाएँ	२९९	१४.८
४. उद्योग और खनिज विकास	१००	५.०
५. सामाजिक सेवाएँ	४३३	२१.०
६. फुटकर	७४	३.७
योग	२०१३	१००

उन्नति के मूल तत्वों पर बल— इस योजना में चेष्टा इस बात की की गई कि आर्थिक उन्नति के मूल तत्वों का विशेष विकास हो। ये तत्व निम्नलिखित हैं : सिंचाई के साधन, शक्ति के स्रोत और यातायात। इन पर कुल मिलाकर मोटे तौर पर ५५.५% धन (१११७ करोड़ रु०) खर्च किया गया। खेती और उद्योग पर लगभग १९.८% धन (३९९ करोड़ रुपये) व्यय हुआ; और सामाजिक सेवाओं पर २४.७% (४९७ करोड़ रुपये)।

सारिणी ३
प्रथम योजना के विनियोग का विश्लेषण

प्रधान विषय	व्यय प्रतिशत
आर्थिक उन्नति के मूल तत्वों पर ..	५५.५%
कृषि-उद्योग पर ..	१९.८%
सामाजिक सेवाओं पर	२४.७ %

विकास के कार्यक्रम

(१) सिंचाई के साधन तथा शक्ति के स्रोत (५८५ करोड़ रुपये या २९.१% विनियोग)—अब हम आर्थिक कार्य-क्रम के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे। कुल विनियोग का २९.१% सिंचाई और शक्ति पर व्यय करने का आयोजन हुआ। इन दिशाओं में ये लक्ष्य स्थिर किये गये :

(अ) सिंचाई.—सींचे जाने वाला क्षेत्रफल ५ करोड़ एकड़ से बढ़कर ७ करोड़ एकड़ हो जाय।

(आ) बिजली—बिजली की उत्पत्ति २३ लाख किलोवाट से बढ़ाकर ३५ लाख किलोवाट हो जाय।

इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए विस्तृत कार्य-क्रम बनाया गया। इसका विवरण हमने आगे दिया है।

(२) यातायात का विकास (५३२ करोड़ रुपये या २६.४% विनियोग)—आर्थिक उन्नति बिना अच्छे यातायात के साधनों के असम्भव है। अतः इस उन्नति के लिए

५३२ करोड़ रुपये व्यय किये गये जो कुल विनियोग का २६.४% आता है। पंचवर्षीय योजना में विविध क्षेत्रों में क्या काम किया जायगा, इसका वर्णन "यातायात" नामक अध्याय में आगे चल कर किया गया है।

(३) **खेती और सामुदायिक योजनाएँ (२९९ करोड़ रुपये या १४.८% विनियोग)** चेष्टा इस बात की की गई कि (अ) अनाज की उत्पत्ति में १४% की उन्नति हो और हम अन्न के मामले में आत्म-निर्भर (self-sufficient) हो जायँ, और (आ) "नकद उपज" (cash crops) की भी कमी दूर हो। अतः जूट की उत्पत्ति में ६३ %और कपास की उत्पत्ति में ४२% वृद्धि की जाने को थी। खेती की उन्नति के लिए निम्नलिखित काम किये गये: (i) सिंचाई के साधन बढ़ाना, (ii) अच्छे बीज देना, (iii) खाद का प्रयोग उत्साहित करना, (iv) ट्रैक्टर आदि के प्रयोग से अनुपजाऊ भूमि पर खेती करना, (v) किसानों के लिए ऋण का प्रबन्ध करना, (vi) जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करके न्यायपूर्ण मालगुजारी प्रथा स्थापित करना, (vii) खेतों को बड़ा बनाना, (viii) भूदान यज्ञ तथा अन्य रीतियों से भूमिहीन मजदूरों को भूमि दिलाना, (ix) सहकारी खेती को प्रोत्साहित करना और (x) सामुदायिक योजनाओं द्वारा किसानों का भला करना।

सामुदायिक योजनाएँ (Community projects) **उन योजनाओं को कहते हैं जिनका उद्देश्य ग्रामवासियों के जीवन का सर्वतोन्मुख विकास करना** होता है। किसान का जीवन एक है और वह सब समस्याओं को एक निगाह से देखता है। हम उसके जीवन के यदि विभाग कर डालें और केवल एक विभाग की समस्याएँ हल करने का प्रयत्न करें तथा अन्य विभाग छोड़ दें, तो इससे किसान का कल्याण नहीं हो सकता। अतः केवल खेती की उन्नति के लिए प्रयत्न करना असंगत है। हमें उसके सम्पूर्ण जीवन को उन्नत बनाने की चेष्टा करनी चाहिये।

अतः सामुदायिक योजनाओं में खेती, स्वास्थ्य, मनोरंजन, घर, शिक्षा आदि पर समुचित ध्यान दिया जाता है। यह काम सन् १९५२ में आरम्भ किया गया। इसका संगठन इस प्रकार होता है कि पहले ३०० गाँवों का एक केन्द्र बना लिया जाता है। फिर हर केन्द्र को ३ जत्थों (Blocks) में बाँट दिया जाता है; अतः हर जत्थे में १०० गाँव होते हैं। फिर हर जत्थे को समूहों (Groups) में बाँटा जाता है; हर जत्थे में ६० समूह ५-५ गाँवों के होते हैं। इन योजनाओं पर ९० करोड़ रुपया व्यय किया जायगा।

(४) **उद्योग (१०० करोड़ रुपये या ५% विनियोग)**—सरकार ने औद्योगिक कामों को दो क्षेत्रों में बाँटा: (अ) सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) जहाँ सरकार स्वयं कारखाने चलावेगी और (आ) व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector) जहाँ व्यक्तिगत साहसी व्यवसाय करेंगे। सरकारी कारखाने स्थापित करने के लिए १०० करोड़ रुपये व्यय किये गये। व्यक्तिगत साहसी २३३ करोड़ अपने निजी साधनों में लगावें जिसकी गणना इस योजना में नहीं की गई।

(५) **सामाजिक सेवाएँ आदि—(रु० ४९७ करोड़ या २४.७% विनियोग)**—शिक्षा स्वास्थ्य, गृह निर्माण, पिछड़ी जातियों का उत्थान, शरणार्थियों को फिर से बसाने आदि कामों पर ४९७ करोड़ रुपये खर्च किया गया। इनमें से सामाजिक सेवा पर ३४० करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया गया जैसा कि तालिका ३ में दिखाया गया है, और शेष रुपये पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों को फिर से बसाने के लिए रक्खे गये।

सारिणी ४

प्रथम योजना में सामाजिक सेवाओं पर व्यय

व्यय का शीर्षक	करोड़ रुपया
१. शिक्षा	१५६
२. स्वास्थ्य	१००
३. गृह-निर्माण	४९
४. श्रम-कल्याण	७
५. पिछड़ी जाति	२८
योग	३४०

वित्त-प्रबन्ध (Finance) प्रथम योजना के हाल के आँकड़ों से मालूम होता है कि वास्तविक विनियोग केवल रु० १९६० करोड़ था। यह एक बड़ी रकम है और सरकार ने इसे निम्नलिखित श्रोतों से प्राप्त किया :—

(क) **बजट आधिक्य, ७५२ करोड़ रुपये**—सरकार ने अपने बजट में नये कर लगा कर आधिक्य दिखाने का आयोजन किया। यह व्यवधान किया गया कि बजट का आधिक्य योजना के लिए वित्त-प्रबन्ध में प्रयुक्त किया जाय। इस दिशा से ७५२ करोड़ रुपये मिले।

(ख) **ऋण—५०९ करोड़ रुपये**—सरकार ने ऋण लेने तथा लघु बचत को (डाकखाने के बचत बैंक में जमा, बचत सर्टिफिकेट, आदि, के रूप में) एकत्रित करने का भी आयोजन किया। इससे रु० ५०९ करोड़ मिले।

(ग) **प्राविडेंट फंड आदि, ९१ करोड़ रुपये**—प्राविडेंट तथा अन्य फंडों के सरकारी सिक्योरिटियों में विनियोग किये जाने से ९१ करोड़ रुपये मिले।

(घ) **विदेशी सहायता, १८८ करोड़ रुपये**—विदेशी सरकारों एवं संस्थाओं से १८८ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार से धन सम्बन्धी सहायता मिली। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, आदि, सरकारों से कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भी धन मिला।

(घ) **हीनार्थ धन-प्रबंध, ४२० करोड़ रुपये**—अवशेष रु० ४२० करोड़ हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Finance) द्वारा प्राप्त किया गया। हीनार्थ प्रबन्ध को 'सृजित द्रव्य' भी कहते हैं। हमने हीनार्थ के स्वभाव का विवेचन एक अगले अध्याय में किया है।

§ ३. प्रथम योजना की सफलता

पहली पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ अप्रैल १, १९५१ को हुआ और यह मार्च ३१, १९५६, को व्यतीत हो गई। यह जानना महत्वपूर्ण एवं लाभप्रद होगा कि यह योजना विभिन्न क्षेत्रों में स्थिर किये गये लक्ष्यों को पूरा करने में कहाँ तक सफल हुई।

आवश्यक आँकड़े कोष्ठक ४ में दिये जाते हैं, जिससे इस योजना की सफलता का अनुमान लगाया जा सकता है।

कोष्ठक ५ से विदित होगा कि प्रथम योजना अधिकांश क्षेत्रों में स्थिर किये गये लक्ष्यों को पहुँचाने में समर्थ हुई। इसकी सफलता की सीमा निम्नलिखित विश्लेषण से जानी जा सकती है।

(क) वे लक्ष्य जिनको योजना पार कर गई—ऐसा अनाज, सूती कपड़े और रेलवे एंजिन के सम्बन्ध में हुआ। हमारे देश की सबसे आग्रहपूर्ण आवश्यकता अनाज और कपड़े की रही है। इन दोनों दिशाओं में लक्ष्यों से अधिक उत्पत्ति दिखाकर प्रथम योजना ने मार्के का काम किया है।

(ख) वे लक्ष्य जिनको योजना पूरी कर सकी—(अ) सींचे जाने वाले क्षेत्र *लगभग ७०० लाख एकड़ तक पहुँच गए;* तथा कपास तथा तिलहन का लक्ष्य पूरा हुआ। (आ) आर्थिक उन्नति के आधारभूत विषयों के जहाँ तक सम्बन्ध है, योजना ने बिजली और इस्पात के लक्ष्यों को पूर्ण किया। (इ) यातायात के सम्बन्ध में भी लक्ष्यों की पूर्ति हुई। राष्ट्रीय महामार्ग तथा समुद्री जहाजों के लिए जो लक्ष्य स्थिर किये गये थे, वे पूरे हो गए।

सारिणी ५

प्रथम योजना की सफलता की सीमा

	इकाई	लक्ष्य (१९५५-५६)	लक्ष्य प्राप्ति (१९५५-५६)
I			
१. अनाज	लाख टन	६२०	६६०
२. रेलवे एंजिन	संख्या	१५०	१७५
३. सूती वस्त्र	लाख गज	६४,०००	६८,०००
II			
४. कपास	गाँठें	४०	४०
५. तिलहन	लाख टन	५६	५६
६. राष्ट्रीय महामार्ग	हजार मील	१२५	१२२
७. समुद्री जहाज़	लाख टन	५०	५०
८. सींचे जाने वाले क्षेत्र	लाख एकड़	६००	५६२
९. बिजली	लाख किलोवाट	३५	३४
१०. इस्पात	लाख टन	१४	१३
III			
११. गन्ना (गुड़)	लाख टन	६३	६०
१२. कच्चा जूट	लाख गाँठें	५४	४२
१३. रासायनिक खाद	हजार टन	६३०	५००
१४. सीमेंट	लाख टन	४८	४६

(ग) वे लक्ष्य जो पूरे न हो सके—कुछ दिशाओं में लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। उनके उदाहरण गन्ना, कच्चा जूट, रासायनिक खाद तथा सीमेंट हैं।

यह बहुत संतोष का विषय है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना एक बड़ी सीमा तक उद्देश्यों को पूरा करने में सफल हुई। जब इस योजना का सूत्रपात हुआ, तब बहुतों को इसकी सफलता के विषय में शंका हुई। इसके [illegible] थे, भारतीयों की कार्यक्षमता पर्याप्त नहीं, भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में अभी इतना विकास नहीं किया कि ठीक प्रकार से योजनात्मक उन्नति की जा सके, इस प्रकार की अनेक शंकाएँ की गईं। इन शंकाओं में कुछ सत्य का अंश भी विद्यमान था। किन्तु जैसे-जैसे योजना उन्नति करती गई, वैसे ही वैसे बहुत-सी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त होती गई। अन्त में परिणाम सन्तोषजनक हुआ। इससे हमें आशा होती है कि भावी योजनाओं का परिणाम भी अच्छा ही होगा; और योजना का यह प्रयास जो कि हमने भारत के प्रधान मन्त्री के उत्साह के कारण किया, वह सही दिशा में था।

व्यय का स्तर

प्रथम पंचवर्षीय योजना में १,९६० करोड़ रुपये लगे। पहले तीन वर्षों में व्यय का स्तर बहुत नीचा रहा क्योंकि कुल व्यय ८५० करोड़ रुपये की सीमा तक ही पहुँचा। उस समय यह सोचा जाता था कि योजना के अन्तिम दो वर्षों में इतने ही रुपये और लगाये जा सकेंगे। इस प्रकार पूरा व्यय १,७५० करोड़ रुपये होने की आशा की जाती थी। किन्तु यह शंका निर्मूल सिद्ध हुई और यह व्यय लक्ष्य से कुछ ही कम हुआ।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

प्रथम योजना पर रु० २,०६९ करोड़ लगाने का प्रावधान था पर वास्तव में उस पर केवल रु० १९६० करोड़ ही खर्च हुए। उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई।

सन् १९५१-५२ में राष्ट्रीय आय ९,११० करोड़ रुपये थी। सन् १९५५-५६ में यह बढ़कर १०,८०० करोड़ रुपये हो गई। दूसरे शब्दों में, भारत की राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में ११ प्रतिशत वृद्धि करने का प्रयास किया गया था किन्तु वास्तव में १८ प्रतिशत वृद्धि हुई, जो बहुत संतोष का विषय है। यदि हम इस अवस्था का प्रति-व्यक्ति आय के दृष्टिकोण से मनन करें, तो हमें यह मालूम होगा कि यह आय १९५१-५२ में २५३ रुपये थी, पर १९५५-५६ में यह बढ़कर २८१ रुपये हो गई। अन्य शब्दों में, प्रति व्यक्ति आय ११ प्रतिशत बढ़ी। इस देश के इतिहास में इतनी शीघ्र उन्नति पहले कभी नहीं हुई थी।

§ ४. द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-१९६१)

भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-१९६१) का सूत्रपात १ अप्रैल १९५६, को हुआ और इसकी समाप्ति ३१ मार्च १९६१ को हुई। इस योजना पर ४,६०० करोड़ रुपये व्यय किये गये। यह लक्ष्य पहली योजना की अपेक्षा बहुत अधिक था। विनियोग का ढंग बदला गया; और औद्योगीकरण पर, विशेषकर भारी उद्योगों पर, अधिक बल दिया गया।

विकास का कार्यक्रमः धन का विनियोग

द्वितीय योजना में जो कार्यक्रम निश्चित किया गया, वह अगले पृष्ठ के कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है। आर्थिक उन्नति के मूलरूपी तत्वों पर २,२९८ करोड़ रुपये (अर्थात् कुल विनियोग के ४७.७ प्रतिशत) का प्रावधान किया गया; खेती और उद्योगों की उत्पत्ति बढ़ाने पर १,४९८ करोड़ रुपये (अर्थात् कुल विनियोग के ३०.३ प्रतिशत)

का; और समाज सेवा तथा विविध मदों पर १,०४४ करोड़ रुपये (अर्थात् विनियोग के २१.८ प्रतिशत) का।

सारिणी ६

द्वितीय योजना पर धन-विनियोग

मद	करोड़ रुपये	कुल विनियोग का प्रतिशत
I खेती एवं सामुदायिक योजना		
(अ) खेती	३२०	६.९
(आ) सामुदायिक योजना	२१०	४.६
	५३०	११.५
II सिंचाई और शक्ति		
(अ) सिंचाई	४५०	९.८
(आ) शक्ति	४१०	८.९
	८६०	१८.७
III उद्योग और खनिज-व्यवसाय		
(अ) बड़े और मध्यम उद्योग और खनिज	८८०	१९.१
(आ) ग्रामीण और कुटीर उद्योग	१८०	३.९
	१०६०	२३.०
IV यातायात	१२९०	२८.१
V समाज सेवा	८६०	१८.७
महायोग	४६००	१००.०

विनियोग का ढांचा

दूसरी योजना की विशेषता यह थी कि उसमें औद्योगीकरण पर पहले से अधिक जोर दिया गया। पहली योजना में उद्योगों पर कुल लागत का केवल ५% लगाया गया था। पर दूसरी योजना में उद्योगों पर कुल लागत का २३.४% लगाया गया। खेती पर प्रतिशत लागत लगभग समान रही।

सारिणी ३ अ

विनियोग का ढाँचा

मद		प्रतिशत व्यय			
		पहली योजना		दूसरी योजना	
आर्थिक उन्नति के मूलतत्व			५५.५		४६.८
कृषि-उद्योग			१९.८		३४.५
कृषि	१४.८			२३.०	
उद्योग	५.०			११.५	
सामाजिक सेवाएं			२४.७		१८.७
			१००.०		१००.०

यदि पाठक ऊपर दिये गये विनियोग के ढाँचे का मुकाबला प्रथम योजना के ढाँचे से करें, तो उन्हें पता चलेगा कि इस योजना में यह ढाँचा बहुत कुछ सीमा तक बदला हुआ था। दूसरी योजना में आर्थिक उन्नति के मूल तत्वों (सिंचाई, शक्ति और यातायात) पर पहली योजना की अपेक्षा कुल विनियोग का ८.७ प्रतिशत कम लगाया गया; और समाज सेवाओं पर कुल विनियोग का ६.२ प्रतिशत कम प्रयुक्त हुआ। कुल मिलाकर इन दोनों क्षेत्रों में समस्त विनियोग का १४.७ प्रतिशत कम खर्च किया गया; और इस सीमा तक खेती और उद्योग पर विनियोग बढ़ा दिया गया। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय योजना में कृषि और औद्योगिक उन्नति पर पहले से अधिक जोर दिया गया। उद्योगों पर लागत पहले से दुगुनी अधिक खर्च हुई। स्वयं औद्योगिक क्षेत्र में विशेष जोर भारी उद्योगों पर दिया गया। यह नीति बहुत उचित है क्योंकि ये उद्योग मशीन बनाने में सहायक होंगे जिससे हमारा विकास गतिपूर्वक हो सकेगा। हमारे औद्योगिक संसाधनों की जमाने से उपेक्षा की गई है और उनका विकास होना चाहिये; और खेतों पर से अन्य वैकल्पिक पेशों में मनुष्यों का तबादला करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त गतिपूर्वक आर्थिक उन्नति बिना औद्योगीकरण के नहीं हो सकती। अतः औद्योगीकरण पर बल देना आवश्यक है।

विकास का कार्य-क्रम

(१) **खेती**—खाद्य-पदार्थों और कृषिजन्य कच्चे पदार्थों की उत्पत्ति में वृद्धि करना द्वितीय योजना का एक महान् उद्देश्य था। जैसे-जैसे हमारा औद्योगीकरण आगे चरण रक्खेगा और हमारे देशवासियों की आय बढ़ेगी, वैसे ही वैसे इन वस्तुओं की माँग का बढ़ना स्वाभाविक है।

(२) **सिंचाई**—सिंचाई की नई स्कीमों पर २७७ करोड़ रुपये लगाये गये। प्रथम योजना-काल में जो स्कीमें अपूर्ण रह गई थीं, उन पर २९० करोड़ रुपये और खर्च किये गये। नई स्कीमों में बाढ़ रोकने की भी स्कीमें शामिल थीं। सिंचाई की वृद्धि का यह कार्यक्रम एक बड़े कार्यक्रम का भाग था जिसके अनुसार सरकार १५ वर्षों में सींचे जाने वाले क्षेत्रों को दुगुना करने का प्रयास कर रही है।

(३) **शक्ति का विकास**—शक्ति का विकास उद्योग और कृषि दोनों के लिए ही बहुत आवश्यक है। नयी बिजली की स्कीमों पर २६७ करोड़ रुपये तथा पहली योजना में अधूरी रह जाने वाली स्कीमों पर भी व्यय करने का व्यवधान किया गया। शक्ति के साधनों की उन्नति का यह कार्यक्रम एक बड़े कार्यक्रम का भाग था जिसके अनुसार १५ वर्षों में शक्ति की उत्पत्ति छः गुनी करने का प्रयास किया जा रहा है।

(४) **उद्योग तथा खनिज व्यवसाय**—बड़े एवं मध्यम उद्योगों तथा खनिज के ऊपर ८८० करोड़ रुपये लगाये गये। ग्रामीण और छोटे उद्योगों की उन्नति पर १८० करोड़ रुपये व्यय हुए जो कि देश की आर्थिक नीति का लक्षण है। खनिज पदार्थों की खोज तथा विकास पर ध्यान दिया गया जो एक बहुत उचित व्यवधान था। योजना के अन्तर्गत खनिज पदार्थों के नये स्रोतों का अब तक जो पता लगाया गया है, उससे आशा होती है कि आगे चलकर और भी अच्छा परिणाम होगा।

(५) **यातायात**—यातायात पर १,२९० करोड़ खर्च हुए। विशेष बल रेल यातायात के विकास पर दिया गया। यातायात के अन्य साधनों—जैसे सड़क, जहाज, नदी यातायात तथा वायु यातायात पर—भी उचित ध्यान दिया गया।

धन के स्रोत

४,६०० करोड़ रुपये की महान धनराशि आसानी से नहीं मिल सकती थी। इस धन की प्राप्ति इस प्रकार हुई:

सारिणी ७

द्वितीय योजना में धन के स्रोत

स्रोत	करोड़ रुपये
१. बजट आधिक्य	१,०५०
२. जनता से ऋण	१,१८०
३. प्राविडेंट फंड आदि	२१३
४. विदेशी स्रोत	९८२
५. हीनार्थ धन (Deficit Finance)	१,१७५
योग	४,६००

(१) सरकारी बजट से नये कर लगाकर और रेलों से आय मिला कर कुल रु० १,०५० मिले जो कुल व्यय का २३% है।

(२) जनता से ८०० करोड़ रुपये का ऋण के रूप में और ३८० करोड़ रुपये लघु बचत के रूप में प्राप्त किये गये। प्राविडेंट फंड आदि से २१३ करोड़ रुपये मिले थे।

(३) विदेशों से ९८२ करोड़ रुपये मिले जो कुल व्यय का २१% था।

(४) हीनार्थ धन-प्रबन्ध की सीमा १,१०५ करोड़ रुपये हुई। दूसरे शब्दों में, सरकार ने १,१७५ करोड़ रुपये के नोट छापकर धन का प्रबन्ध किया। यह रकम

बहुत बड़ी मालूम पड़ती है। किन्तु योजना आयोग ने इसे अधिक नहीं समझा। निकोलस कैल्डर का मत था कि यह कुछ सीमा तक अवश्य अधिक थी।

अल्प बचत—आभ्यन्तरिक या भीतरी ऋणों का दो भागों में उप-विभाजन किया जा सकता है: (क) सार्वजनिक ऋण और (ख) अल्पबचत। बड़े-बड़े विनियोगक सरकार द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीद सकते हैं, किन्तु छोटे विनियोगक ऐसा नहीं कर सकते। पर वे बचत प्रमाण-पत्र (Savings Certificates खरीद कर या डाकखाने के बचत बैंक में रुपया जमा करके पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए वित्त द्वारा सहायता कर सकते हैं। यह आशा थी कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना-काल में रु० २७० करोड़ अल्प बचत के रूप में एकत्रित किया जा सकेगा; किन्तु वास्तव में इस स्वरूप में रु० ३०४ करोड़ एकत्रित हुए। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अल्प बचत का लक्ष्य रु० ५०० करोड़ है। अल्प बचत का महत्व कई दिशाओं में है। पहले, जितना रुपया इस प्रकार सरकार के हाथों में आयेगा, उतनी ही गतिपूर्वक देश की आर्थिक उन्नति होगी। दूसरे, अल्प बचत हीनार्थ वित्त-प्रबंध (Deficit financing) की आवश्यकता को कम कर देती है जिससे कि मूल्यों में वृद्धि होने से रुकावट हो जाती है। तीसरे, इसके द्वारा देशवासियों का योजना से घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाता है। अन्त में, यह जन समाज में बचत और किफायत की भावना जागृत करती है जो बहुत श्रेयस्कर है।

द्वितीय योजना के प्रधान उद्देश्य

द्वितीय योजना के प्रधान उद्देश्य निम्नलिखित थे:

(क) हमारी राष्ट्रीय आय में ५ वर्षों में २५ प्रतिशत वृद्धि करना। यह आय सन् १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपये थी, लेकिन १९६०-६१ में १२,९६० करोड़ रुपये हो गयी; अतः इसमें २०% की वृद्धि हुई।

(ख) रोजगार बढ़ाना। हमारी कार्यशील जनता में १८ लाख व्यक्ति प्रति वर्ष वर्ष बढ़ जाते हैं। द्वितीय योजना इन सभी व्यक्तियों को काम दे सकेगी। किन्तु इसका यह अर्थ हुआ कि वर्तमान बेरोजगार व्यक्ति काम नहीं पा सकेंगे।

(ग) औद्योगीकरण। इसके आधार पर भविष्य में और भी गतिपूर्वक उन्नति हो सकेगी।

(घ) समाजवादी ढाँचे को स्थापित करना। यह प्रयास रहा कि सार्वजनिक क्षेत्र की उन्नति व्यक्तिगत क्षेत्र से अधिक हो; तथा आय में महान् असमानताओं की कमी हो।

द्वितीय योजना की सफलता

(१) द्वितीय योजना की सफलता का कुछ आभास ऊपर की विवेचना से हो गया होगा। इस काल में सार्वजनिक क्षेत्र में रु० ४,६०० करोड़ का व्यय हुआ, जो एक बड़ी रकम है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र (Private sector) में रु० ३,१०० करोड़ साहसियों ने अलग से लगाये। इस प्रकार कुल मिलाकर रु० ७,७०० करोड़ इस समय में लगा।

(२) इसके फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय आय, जो सन् १९५५-५६ में रु० १०,८०० करोड़ थी, सन् १९६०-६१ में रु० १२,९६० करोड़ हो गयी; अर्थात् उसमें २०% की वृद्धि हुई।

(३) बड़े-बड़े मदों पर जितना रुपया सार्वजनिक भाग में इस योजना-काल में लगाया गया, उसका ब्यौरा सारिणी ६ में दिया जा चुका है।

(४) मुख्य-मुख्य दिशाओं में जो उन्नति हुई, उसका अनुमान सारिणी ७ अ से लगाया जा सकता है जो नीचे दी गई है:

सारिणी ७ अ

दूसरी योजना में उन्नति की कुछ दिशाएँ

	इकाई	१९५५–५६	१९६०–६१
अनाज ..	लाख टन	६६०	७५०
कपास ..	लाख गांठ	४०	५४
गन्ना (गुड़) ..	लाख टन	६०	७२
तिलहन ..	लाख टन	५६	७२
कच्चा जूट ..	लाख गांठ	४२	५५
सींचे जाने वाला क्षेत्र	लाख एकड़	५६२	७००
बिजली ..	लाख किलोवाट	३४	५८
इस्पात ..	लाख टन	१३	
रेल के डिब्बे ..	.....	५००	१,२५०
रासायनिक खाद ..	हजार टन	१८	९१
राष्ट्रीय महामार्ग ..	हजार मील	१२२	१४४
समुद्री जहाज ..	लाख टन	५०	९०
सीमेंट	लाख टन	४६	८८

(५) मोटे तौर पर इन पांच वर्षों में खेती की उपज में १२% की वृद्धि हुई; और उद्योगों की उत्पत्ति में २४% वृद्धि हुई।

§ ५. तीसरी पंचवर्षीय योजना (१९६१–१९६६)

तीसरी पंचवर्षीय योजना का रेखा-चित्र प्रकाशित हो चुका है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में रु० ७,२५० करोड़ रुपया लगाया जायगा। आशा की जाती है कि वर्तमान बचत की दर जो राष्ट्रीय आय की ८% है सन् १९६५–६६ में ११% हो जायेगी। विदेशों से राष्ट्रीय आय के ३% के बराबर सहायता मिल रही है और मिलती रहेगी। अतः इसको मिलाकर राष्ट्रीय आय के १४% के बराबर विनियोग तीसरी योजना के अन्तिम वर्ष में होगा।

विनियोग का कार्य-क्रम

इस धन का विनियोग इस प्रकार किया जायगा :—

सारिणी ७ आ

तीसरी योजना पर धन-विनियोग

	रु० करोड़	कुल लागत का प्रतिशत
आर्थिक उन्नति के मूल तत्व—		
सिंचाई	६५०	९.०
शक्ति	९२५	१२.८
यातायात	१४५०	२०.०
	३०२५	४१.८
कृषि-उद्योग—		
खेती	१०२५	१४.१
उद्योग तथा खनिज-विकास ..	१५००	२०.७
ग्रामीण तथा लघु उद्योग ..	२५०	३.४
	२७७५	३८.२
समाज सेवाएँ	१२५०	१७.२
अन्य	२००	२.८
कुल योग	७,२५०	१००.०

विनियोग का ढाँचा

तीसरी योजना का सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि इसमें गति से औद्योगीकरण की नीति को कार्यशील किया जायगा।

सारिणी ७ ई

योजनाओं में विनियोग का ढाँचा

(कुल विनियोग का प्रतिशत)

	पहली योजना		दूसरी योजना		तीसरी योजना	
१. आर्थिक उन्नति के मूल तत्व		५५.८		४६.८		४१.८
२. कृषि-उद्योग ..		१९.८		३४.५		३८.८
कृषि	१४.८		२३.०		१४.१	
उद्योग	५.०		११.५		३.४	
३. सामाजिक सेवाएँ, आदि		२४.७		१८.७		२०.०
योग		१००.०		१००.०		१००.०

पहली पंचवर्षीय योजना में उद्योगों में बहुत कम धन लगाया गया था—यह कुल लागत का केवल ५% था। दूसरी योजना में इसकी मात्रा बढ़ा दी गई और यह कुल लागत का ११.५% हो गया। पर खेती पर जोर जारी रहा और उस पर कुल लागत का २३% खर्च हुआ। पर तीसरी योजना में उद्योगो पर कुल लागत का २३.४% खर्च किया जायगा और कृषि पर इससे कम व्यय (कुल लागत का १४.१%) होगा।

विकास का कार्य-क्रम

(१) **सिंचाई**—सिंचाई पर रु० ६५० करोड़ व्यय होगा जो कुल लागत का ९% आता है। स्मरण रहे कि इस शीर्षक के अन्तर्गत केवल बड़े और माध्यमिक सिंचाई-साधन आते हैं (और छोटे सिंचाई-साधनों की गणना "खेती" में की जाती है)। सन् १९६०–६१ में ७०० लाख एकड़ भूमि सींची गई; पर सन् १९६५–६६ में यह लक्ष्य ९०० लाख एकड़ भूमि है। दूसरे शब्दों में, इस दिशा में २९% की वृद्धि की जायगी। रु० ४७० करोड़ उन स्कीमों पर व्यय होगा जो पहली और दूसरी योजनाओं के समय में शुरू की गई थीं और अब भी अपूर्ण हैं। किन्तु कुछ नई स्कीमें भी चलाई जायँगी जैसे उत्तर प्रदेश में गंडक उपनिर्माण और पंजाव में व्यास नदी पर स्टोरेज की स्कीम। इस पर रु० १०० करोड़ व्यय होगा। शेष रु० ८० करोड़ बाढ़ रोकने पर व्यय किया जायगा।

(२) **शक्ति**—इसकी उन्नति पर रु० ९२५ करोड़ खर्च करने का आयोजन हुआ है जो कुल लागत का १२.८% है। सन् १९६०–६१ में २०७० करोड़ k Wh विजली उत्पन्न हुई; और प्रयास यह है कि सन् १९६५–६६ में यह उत्पत्ति ४२२५ करोड़ k Wh हो जाय। यह वृद्धि १०४% आती है। इस व्यय में से रु० २३० करोड़ पुरानी अपूर्ण स्कीमों पर होगा; रु० ६२० करोड़ इस प्रकार की नई स्कीमों पर होगा जिनसे तीसरी योजना के समय में ही शक्ति मिलना आरम्भ हो जायगा; और रु० ७५ करोड़ अन्य स्कीमों पर व्यय होगा।

(३) **यातायात**—इस पर रु० १४५० करोड़ व्यय होगा जो कुल लागत का २०% है। इसमें से रेलों पर रु० १२२० करोड़ खर्च किया जायगा। चेष्टा यह की जायगी कि रेलों की माल ढोने की सामर्थ्य ७८% बढ़ जाय; और वे सन् १९६५–६६ में २३.५ करोड़ टन माल ढो सकें जब कि १९६०–६१ में उन्होंने केवल १६.२ करोड़ टन माल ढोया। उनकी यात्रियों को ले जाने की सामर्थ्य में भी ३१% की वृद्धि की जायगी। सड़कों पर रु० २५० करोड़ खर्च होगा जिसके फलस्वरूप २०,००० मील लम्बी पक्की सड़कें बनेंगी। सार्वजनिक रोड यातायात पर रु० १८ करोड़ व्यय होगा। समुद्री जहाजों पर रु० ५५ करोड़ व्यय होगा जिससे २ लाख टन की जहाजी सामर्थ्य और बढ़ जायगी। बन्दरगाह, आंतरिक जल यातायात, वायु यातायात, आदि का भी विकास किया जायगा।

(४) **खेती**—खेती पर रु० १०२५ करोड़ व्यय करने का आयोजन किया गया है जो कुल व्यय का १४.१% है। इसमें से खेती और छोटे सिंचाई-साधनों पर रु० ६२५ करोड़ लगाया जायगा, और सामूहिक-विकास और सहकारिता पर रु० ४०० करोड़। तृतीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य है अनाज में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना और उद्योगों तथा निर्यात की जरूरतों के अनुसार अन्य खेतिहर उपज बढ़ाना। इसके कुछ लक्ष्य इस प्रकार हैं :—

	१९६०-६१ में उत्पादन	१९६५–६६ के लक्ष्य	प्रतिशत वृद्धि
(१) अनाज (लाख टन)	७५०	१०००	३३%
(२) गन्ना (लाख टन)	७२०	९००	२५%
(३) कपास (लाख गाँठ)	५४	७२	३३%
(४) जूट (लाख गाँठ)	५५	६५	१८%
(५) चाय (लाख पौंड)	७२५०	८२५०	१७%
(६) समस्त वस्तुएँ	—	—	३०%

(५) उद्योग तथा खनिज विकास—इस मद पर रु० १,७५० करोड़ व्यय होंगे। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्योगपतियों द्वारा रु० १००० करोड़ के विनियोजित होने की आशा है। इन रु० २,७५० करोड़ का विभाजन बगल की सारिणी में दिखाया गया है। खनिज विकास तथा ग्रामीण एवं लघु उद्योगों का विकास देश के लिये परभावश्यक है। बड़े उद्योगों के विकास में विनियोग प्रधानतया भारी उद्योगों के क्षेत्र में किया जायगा। तीसरी योजना का एक मूलरूपी उद्देश्य है "स्पात, तेल तथा शक्ति की तरह के आधार उद्योगों का विकास करना और मशीन-निर्माण की सामर्थ्य स्थापित करना जिससे कि अगले १० वर्षों में अगले औद्योगीकरण की आवश्यकताएँ देश के अपने संसाधनों से पूरी की जा सकें।" बड़े उद्योगों की श्रेणी में रु० १२०० करोड़ धातु एवं इंजीनियरिंग उद्योगों पर लगाये जायेंगे; रु० ६५० करोड़ रासायनिक उद्योगों पर; और शेष अन्य कामों पर।

	(रु० करोड़)
(१) बड़े उद्योग ..	२,०९५
(२) खनिज ..	४०५
(३) ग्रामीण तथा लघु उद्योग	२५०
	२,७५०

धन के स्रोत

रु० ७२५० करोड़ की बड़ी रकम प्राप्त करने के निम्न साधन निश्चित किये गये हैं

सारिणी

पंचवर्षीय योजना में धन के स्रोत

स्रोत	करोड़ रुपये	कुल लागत का प्रतिशत
(१) बजट के आधिक्य द्वारा (जिसमें नये कर शामिल हैं)	२,०००	२७.६
(२) सार्वजनिक उपक्रमों से लाभ ..	५९०	८.१
(३) सार्वजनिक ऋण (तथा लघु बचत)	१,४००	१९.३
(४) प्राविडेंट फंड, आदि ..	५१०	७.०
(५) विदेशी स्रोत ..	२,२००	३०.४
(६) हीनार्थ धन-प्रबंध ..	५५०	७.६
	७,२५०	१००.०

इससे स्पष्ट है कि हमें इस योजना को पूरा करने के लिये विदेशों से पहले से भी अधिक सीमा तक ऋण तथा सहायता लेनी होगी। कुल व्यय का ३०.४% विदेशों से प्राप्त होगा। दूसरी विशेषता यह है कि इस बार हीनार्थ धन-प्रबंध (अर्थात् नोट छाप कर काम चलाने) का कम प्रयोग होगा। इसका कारण यह है कि देश में मूल्य-स्तर बहुत ऊँचा हो गया है और उसे रोकना आवश्यक है। तीसरी बात नोट करने की यह है कि प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत जो सरकारी उपक्रम स्थापित किये गये थे उनसे अब आय होने लगी है जो विकास के लिये प्रयुक्त होगी। इस स्रोत से रु० ५९० करोड़ मिलेंगे जिसमें से रु० १५० करोड़ रेलों से प्राप्त होंगे। चौथे, नये करों को लगा कर रु० १,००० करोड़ प्राप्त किये जायेंगे।

तीसरी योजना के प्रधान उद्देश्य

इस योजना के प्रधान उद्देश्य निम्न हैं :

(१) तीसरी योजना के काल में राष्ट्रीय आय में ५% से अधिक वृद्धि प्राप्त करना;

(२) अनाज में आत्म-निर्भर होना तथा उद्योगों और निर्यातों की आवश्यकताओं के अनुकूल खेती की उपज बढ़ाना;

(३) आधार उद्योग बढ़ाना तथा मशीन बनाने का उद्योग स्थापित करना जिससे कि अगले दस सालों में औद्योगीकरण देश के अपने संसाधनों द्वारा किया जा सके;

(४) देश के जन-साधनों (Manpower resources) का यथाशक्ति पूर्ण उपयोग करना और रोजगार में यथाशक्ति वृद्धि करना;

(५) आय तथा धन की असमानता कम करना और आर्थिक शक्ति के वितरण को अधिक समान बनाना।

§ ६. सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार आन्दोलन

आन्दोलन का उद्देश्य

अधिकांश भारतीय जनता गाँवों में रहती है और जीविका के लिए खेती पर निर्भर होती है। किन्तु हमारी खेती की उत्पादकता बहुत कम है, और ग्रामवासियों की रहन-सहन की अवस्था बहुत असंतोषपूर्ण है। हमारे गाँव समस्त उपलब्ध भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का उपयुक्त प्रयोग नहीं करते; तथा ग्रामवासी आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के प्रति उदासीन रहते हैं। यह आवश्यक है कि ग्रामवासियों में जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए जोश पैदा किया जाय; और उन्हें इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित सहायता भी दी जाय। इसी उद्देश्य को लेकर सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार का आन्दोलन चलाया गया है।

यह सर्वविदित है कि बहुत जमाने से सरकारी संगठन किसानों की आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था सुधारने के लिए प्रयत्नशील है किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है। कृषि विभाग, पशु विभाग, सहकारिता विभाग, स्वास्थ्य विभाग तथा शिक्षा विभाग इस दिशा में असफल रहे हैं। इनकी गलती यह रही है कि ये एक दूसरे से स्वतंत्र होकर काम करते रहे हैं : उन्होंने अपना-अपना कार्यक्रम चलाया पर किसी एक उद्देश्य को सामने नहीं रक्खा। परिणाम यह हुआ कि उनके काम से किसान घबड़ा सा गया और उसे मतभ्रम हो गया। किसान जितनी समस्याओं का सामना करता है उनमें पारस्परिक संबंध है क्योंकि वे सब उसके जीवन और निर्वाह के विभिन्न पहलू हैं। यदि हम उसके जीवन के टुकड़े-टुकड़े कर डालें और हर क्षेत्र की समस्यायें स्वतंत्र रूप से हल करने की

चेष्टा न करें तो हमें अधिक सफलता नहीं मिल सकेगी। ग्रामीण जीवन को हमें एक अविच्छिन्न इकाई मान कर चलना चाहिए; और उसकी समस्त समस्याओं का संयुक्त या एक साथ हल करने का प्रयास करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अब तक किसानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की चेष्टा नहीं की गई और ग्रामीण अवस्था सुधारने के लिए स्थानीय जोश पैदा करने तथा स्थानीय साधन प्रयुक्त करने का प्रयास नहीं हुआ। अतः राष्ट्रीय विस्तार आन्दोलन का उद्देश्य यह है कि ग्रामीण जीवन की समस्त समस्याओं को संयुक्त रूप से हल किया जाय और स्वयं ग्रामवासियों में परिवर्तन तथा उन्नति के लिए भावना जागृत की जाय।

आन्दोलन का प्रारम्भ

सन् १९५२ की "अधिक अन्न उपजाओ जांच कमेटी" ने यह सिफारिश की थी कि अमेरिका और इंगलैण्ड की तरह भारत में भी एक विस्तार आन्दोलन चलाया जाय जो ग्रामीण जीवन के संयुक्त विकास के लिए प्रयत्न करे और प्रत्येक ग्रामीण में हृदय से विकास के लिए जोश पैदा करे। उसने बताया कि ग्रामीण जीवन के समस्त पहलू एक दूसरे से संबंधित हैं, और इसलिए हर पहलू का अलग से विकास किया गया तो कोई प्रभावपूर्ण परिणाम नहीं होगा। उसने इस पर भी जोर दिया कि ग्रामीण जन समाज में अपनी दशा सुधारने के काम में सक्रिय योग देने का जोश पैदा करना आवश्यक है। इसी कमेटी की सिफारिश के अनुसार राष्ट्रीय विस्तार आन्दोलन चलाया गया है, और इसके उपरोक्त दोनों उद्देश्य आधारशिला हैं।

भारत सरकार ने इन सिफारिशों पर विचार किया और सामुदायिक विकास कार्यक्रम को चलाने का फैसला किया। २ अक्टूबर १९५२ को ५५ परियोजना क्षेत्र देश भर में आरम्भ किये गये। आगे चल कर कुछ और सामुदायिक परियोजनायें चलाई गईं। सामुदायिक परियोजनाओं में ३ वर्ष तक गम्भीर और गहरा काम किया जाता है। किन्तु ग्रामीण जीवन में सुधार करना एक स्थायी आन्दोलन है; और यह आवश्यक है कि सामुदायिक परियोजना में किया गया गहरा काम जारी रखा जाय। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extention Service) का श्री गणेश किया। यह प्रस्ताव किया गया कि इस स्कीम के अन्तर्गत प्रथम योजना-काल में १,२०,००० गाँव को शामिल कर लेना चाहिए। यह समस्त ग्रामीण जनता का २५% था। राष्ट्रीय विस्तार सेवा का श्री गणेश देश में २ अक्टूबर १९५३ को हुआ।

आन्दोलन का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा के लिए रु० ९० करोड़ रक्खे गये; किन्तु व्यय केवल रु० ५७ करोड़ ही हुए। कार्यक्रम यह था कि इस योजना-काल में १,२०० ब्लाक राष्ट्रीय विस्तार सेवा के अन्तर्गत आ जायें। उनमें से ७०० ब्लाक (जिनमें ७०,००० गाँव और ४ करोड़ आबादी आती है) में सामुदायिक विकास ब्लाक के रूप में गंभीर विकास किया जाने को था; और शेष ५०० ब्लाक में (जिनमें ५०,००० गाँव और २.५ करोड़ की आबादी आती है) राष्ट्रीय विस्तार सेवा की जाने को थी। किन्तु वास्तव में केवल १०६४ ब्लाक ही इस योजना के अन्तर्गत लाये गये।

कुल मिलाकर १,५०,००० गांव (जिनमें ७८० लाख ग्रामीण जनसंख्या रहती है) इस आन्दोलन के अन्तर्गत आ गये; और यही लक्ष्य स्थिर भी किया गया था।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (१९५६-६१) में इस पर और भी ध्यान दिया गया। सन् १९६०-६१ में यह आन्दोलन ३११२ ब्लाकों में स्थापित थी जिनमें ४,००,००० गांव तथा २० करोड़ ग्रामीण जनसंख्या शामिल थी।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में नये लक्ष्य स्थिर हुए हैं। सन् १९६५-६६ में ५,२१७ ब्लाक इस आन्दोलन के अन्तर्गत आ जावेंगे। इनमें ५,५०,००० गांव तथा ३७.४ करोड़ जनसंख्या शामिल होगी।

सामुदायिक विकास तथा विस्तार सेवा का सम्बन्ध

सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा का पारस्परिक संबंध स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। दोनों के उद्देश्य समान हैं। राष्ट्रीय विस्तार सेवा स्थायी संगठन है और एक समय आयेगा जब यह समस्त देश में स्थापित होगा। यह विकास के लिए स्थायी आधार पर एक मूल रूपी संगठन तथा न्यूनतम वित्त-प्रबंध प्रदान करता है। राष्ट्रीय विस्तार सेवा के ऐसे ब्लाक (Blocks) जिनमें अधिकतम जनसहयोग के द्वारा सफल कार्य हुआ है तीन वर्ष तक गहरे विकास के लिए चुने जाते हैं। इन्हीं को "सामुदायिक विकास ब्लाक" कहा जाता है। इनमें कार्यक्रम अधिक गंभीर ढंग पर किया जाता है। ३ वर्ष व्यतीत होने पर सामुदायिक विकास ब्लाक फिर राष्ट्रीय विस्तार सेवा ब्लाक हो जाता है। वर्ष में कितने राष्ट्रीय विस्तार ब्लाक गंभीर विकास के लिए चुने जायेंगे, यह उपलब्ध धन तथा स्थानीय जोश एवं सहयोग पर निर्भर होता है।

कार्यक्रम

राष्ट्रीय विस्तार सेवा का कार्यक्रम ३ दिशाओं में होता है। सबसे पहले उत्पादन बढ़ाने तथा रोजगार में वृद्धि करने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार गांवों के २ बड़े दोष—कम रोजगार तथा कम उत्पत्ति—दूर करने का प्रयास होता है। इसके लिए वैज्ञानिक तरीकों का लोकप्रिय बनाना, सिंचाई का प्रबंध करना, ऋण का प्रबंध करना आदि आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सहायक पेशों का भी प्रबंध करना वांछनीय है। यातायात के साधन भी इसी श्रेणी में आते हैं। विकास की दूसरी दिशा सहकारिता की है। जितने भी क्षेत्रों में हो सके, सहकारिता का सिद्धान्त लागू किया जाता है। उद्देश्य यह होता है कि हर गांव में (या कुछ गांवों के एक समूह में) एक बहु प्रयोजनीय समिति स्थापित हो जाय जिसमें हर किसान-परिवार शामिल हो। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए भी समितियां चलाई जाती हैं। तीसरी दिशा यह है कि ग्रामीण समाज के सामूहिक लाभ के लिए ग्रामवासी सामूहिक प्रयत्न करें। हर गांव को सड़कों और तालाब आदि की आवश्यकता होती है; और ऐसी आवश्यकताएं मिल-जुल कर काम करने से पूरी की जा सकती हैं। स्वास्थ्य-केन्द्र, स्कूल तथा अन्य सामाजिक सुविधाएं भी इसी प्रकार प्राप्त की जा सकती हैं। इस प्रकार का वातावरण हो जाना चाहिए कि जिसमें गांव की महान् शक्तियां तथा समय जो बेकार रहते हैं सामूहिक लाभ के लिए कार्यशील हो जायें।

इस कार्यक्रम का क्षेत्रीय संगठन बता देना आवश्यक है। हर परियोजना (Project) में लगभग ३०० गांव और २ लाख की जनसंख्या शामिल होती है। हर परियोजना क्षेत्र तीन विकास ब्लाक (Development Blocks) में बंटा होता है। हर विकास

पंजाब, इन्टर

6. What are the achievements and short comings of community Development Projects in India ? (1958).

7. Write a note on Planning Commission of India (1958).

8. What are the principal features of the programme of industrial development as given in the Second Five Year Plan of India ? Is the emphasis laid on industrialisation in the Plan justified ? (1958).

9. Write a note on National Extension Services (1958).

10. Write a brief note on Small Savings and the Second Plan of India (1958).

11. What are the objectives of planning ? Describe the salient features of the First Five Year Plan. (1957).

12. Write a note on Community Projects. (1957).

13. (*a*) What are the main objectives of Economic Planning in India ?

(*b*) Name the principal sources of Finance for our Five Year Plan.

(*c*) On which of the three, namely :

(*i*) Agriculture and Rural Development,

(*ii*) Transport and communications,

(*iii*) Industry, does our Plan envisages the largest outlay ? Is there any other head of expenditure which is earmarked for even larger outlay ? (1954)

जम्मू एन्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

14. Write a note on Community Projects in India. (1954).

15. Give the part that the Government of India is playing in the economic development of the country. Has it enough financial resources for the purpose ? Name the important ones. (1953).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

16. Write a note on the achievements of First Five Year Plan. (1958).

17. Write notes on Community Projects and Second Five Year Plan (1957).

18. Write notes on :—(*i*) Community Projects,

(*ii*) Targest, progress and achievements of first five year plan. (1956).

19. Write a note on our Five Year Plan. (1955).

20. Write an essay on our Five Year Plan. (1954).

पटना, इन्टर आर्ट्स

21. Give a brief outline of the Second Five Year Plan of India. (1958).

अध्याय ३

भारत में राष्ट्रीय आय और जीवन-स्तर

भारत संसार का एक निर्धन देश है। निर्धन देश के निवासी बहुत कष्ट के साथ जीवन व्यतीत करते हैं, और अपनी आग्रहपूर्ण आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर पाते। अनु-विकसित (Under-developed) और निर्धन देशों की उन्नति करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि ये देश अधिकांश में घने बसे हैं और उनके निवासी बहुत चिन्ताग्रस्त और दुखी रहते हैं। भारत इसी प्रकार के देशों की श्रेणी में आता है। संसार के अग्र-गामी देश भी मानते हैं कि पिछड़े देशों की उन्नति करना न केवल उनके निवासियों के कल्याण के लिये आवश्यक है प्रत्युत विश्व-शांति के लिये भी आवश्यक है। अतः इस प्रकार के देशों का विकास करना संसार का एक महान् प्रश्न बन गया है। वास्तव में, भारतीय अर्थशास्त्र की मूल समस्या देश की निर्धनता को दूर करना है।

§ १. भारत की राष्ट्रीय आय

अधिकारी स्तर के अर्थशास्त्री इस मत के हैं कि किसी भी देश की राष्ट्रीय आय उसके आर्थिक विकास की द्योतक होती है। राष्ट्रीय आय के दो प्रकार होते हैं :

(१) समस्त राष्ट्रीय आय (National Income) जिसका अर्थ होता है देश के समस्त निवासियों को वर्ष भर में प्राप्त होने वाली आमदनियों का योग।

(२) प्रति-व्यक्ति आय (Income per capita) जिसका अर्थ होता है वर्ष भर में प्रति व्यक्ति के पीछे आने वाली औसत आय। समस्त राष्ट्रीय आय में कुल जन-संख्या का भाग देने से प्रति-व्यक्ति आय प्राप्त हो जाती है।

अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय दोनो स्वरूपों में आँकते हैं, किन्तु दोनों की उपयोगिता भिन्न होती है। समस्त राष्ट्रीय आय यह जानने के लिये उपयोगी होती है कि समय-समय पर देश की कितनी आर्थिक उन्नति हुई है या हो रही है; तथा प्रति-व्यक्ति आय एक देश की आर्थिक अवस्था अन्य देशों की अवस्था से मुकाबला करने के लिए उपयोगी है।

यह देखा गया है कि धनी देशों की प्रति-व्यक्ति आय काफी अधिक होती है, और निर्धन देशों की प्रति-व्यक्ति आय बहुत कम होती है।

कुल राष्ट्रीय आय (National Income)

भारत की राष्ट्रीय आय सन् १९५०–५१ में रु० ९,११० करोड़ थी। वैसे तो यह राशि बहुत महान् है, पर देश की आबादी को देखते हुए यह बहुत कम है। सन् १९५५-५६ में यह आय बढ़ कर रु० १०,८०० करोड़ हो गई; और यह उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। किन्तु इसके द्वारा देश की निर्धनता का वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

प्रति-व्यक्ति आय (Income per capita)

भारत की प्रति-व्यक्ति आय के कई अनुमान समय-समय पर लगाये गये हैं जो नीचे की सारिणी से स्पष्ट हो जाते हैं :

सारिणी ८

भारत की प्रति-व्यक्ति आय

वर्ष जिससे अनुमान सम्बन्ध रखते हैं	अनुमान करनेवाले	प्रति-व्यक्ति आय रु०
१८६७–७०	दादाभाई नौरोजी	२०
१९००	लार्ड कर्जन	३०
१९१३–१४	वाडिया और जोशी	४४
१९२१–२२	शाह और खम्वाटा	७४
१९३१–३२	वी० के० आर० वी० राव	६५
१९४६–४७	भारत सरकार	१५०
१९४८–४९	राष्ट्रीय आय कमिटी	२५५
१९५०–५१	राष्ट्रीय आय कमिटी	२५३
१९५५–५६	राष्ट्रीय आय कमिटी	२८१
१९६०–६१	C. S. O	२९८*

इस सरिक्षी से प्रतीत होता है कि सन् १९६५–६१ में हमारी प्रतिव्यक्ति आय केवल २९८ रु० वार्षिक (अर्थात् रु० २४ के लगभग प्रतिमास) है, जो बहुत कम है। इससे निम्न बातें मालूम होती हैं :

(१) ब्रिटिश काल में हमारी प्रति-व्यक्ति आय बहुत थोड़ी रही और उसमें अधिक उन्नति नहीं हुई। सन् १९४६–४७ में यह केवल १५० रु० वार्षिक या १३ रु० प्रति मास के लगभग थी।

(२) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारी प्रति-व्यक्ति आय में शीघ्रता से वृद्धि हो रही है।

(३) फिर भी हमारी प्रति-व्यक्ति आय बहुत कम है, जो हमारी निर्धनता का द्योतक है।

अन्य देशों से मुकाबला

हमारी निर्धनता का अनुमान हमारी प्रति-व्यक्ति आय का अन्य देशों की प्रति-व्यक्ति आय से मुकाबला करने पर अधिक स्पष्ट हो जाता है। नीचे की सरिणी से पता चलता है कि हम अन्य देशों के मुकाबले कितने गरीब हैं।

---

* अनुमानित

सारिणी ९

विभिन्न देशों की प्रति-व्यक्ति आय

देश	प्रति-व्यक्ति आय (रुपयों में)
भारत ..	२८१
आस्ट्रेलिया ..	३,४००
यू० एस० ए० ..	७,०००
युनाइटेड किंगडम ..	४,०००
जर्मनी ..	२,०००
जापान .	५००

इस कोष्ठक से हमारी निर्धनता स्पष्ट हो जाती है। हमारी प्रति व्यक्ति आय अमेरिका की प्रति-व्यक्ति आय का लगभग १/२५ है, और इंगलैंड का १/१४; यहाँ तक कि जापान की प्रति-व्यक्ति आय भी हमसे लगभग दुगनी है। देश की निर्धनता को कम करना हमारे सामने सबसे बड़ी आर्थिक समस्या है।

§ २ भारत में जीवन-स्तर

भारत की इस भीषण निर्धनता का यह परिणाम हुआ है कि यहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा हो गया है। संसार के निर्धन देशों में होने के कारण हमारा स्तर इतना हीन होना स्वाभाविक है। वास्तव में निर्धनता और जीवन-स्तर की निम्नता का एक ही आशय होता है। भारत के जीवन-स्तर का अनुमान दो रीतियों से लगाया जा सकता है: (१) मात्रा-सम्बन्धी (Quantitative) अनुमान, और (२) गुणात्मक (Qualitative) अनुमान। भारत की निर्धनता या उसके जीवन-स्तर की अधोगति हम इन दोनों रीतियों से व्यक्त करेंगे।

(अ) मात्रा सम्बन्धी (Quantitative) अनुमान

प्रति-व्यक्ति आय की गणना करके किसी भी देश के जीवन-स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी को मात्रा-सम्बन्धी अनुमान कहते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत की प्रति-व्यक्ति आय केवल २९८ रु० वार्षिक है जो बहुत कम है; तथा अन्य देशों के मुकाबले में यह और भी कम प्रतीत होती है।

(आ) गुणात्मक अनुमान (Qualitative)

हम गुणात्मक अनुमान (Qualitative estimate) द्वारा भी देश की गरीबी और हीन जीवन-स्तर का आभास पा सकते हैं। एक औसत भारतीय जिन वस्तुओं का साधारणतया उपभोग करता है, उसकी सूची बनाना या उसका अनुमान लगाना ही गुणात्मक अनुमान कहलाता है। आजकल अत्यधिक प्रसार (Inflation) हो जाने पर भी प्रति-व्यक्ति आय लगभग ३० रुपये मासिक है। ऐसी महान् निर्धनता का परिणाम यह होता है कि भारतीय केवल थोड़ी-सी ही आवश्यकताएँ संतुष्ट कर सकते हैं। पहले हम

आवश्यक आवश्यकताओं को लेते हैं। **जीवन-रक्षक पदार्थ** तो अधिकतर मनुष्यों को मिल जाते हैं, यद्यपि ये पदार्थ पर्याप्त मात्रा में बहुधा नहीं होते। देश में ऐसे सहस्रों व्यक्ति हैं जिन्हें केवल एक बार भोजन मिलता है, और वह भी रूखा-सूखा।[1] बहुतों के लिए वस्त्र विलासिता के पदार्थ बन गये हैं और केवल जाड़ों में ही कुछ फटे-चिथड़े कपड़े उनके शरीर पर दृष्टिगोचर होते हैं। गरीब आदमियों के पास ऊनी वस्त्र खरीदने को पैसा कहाँ; और यदि वे कुछ सूती कपड़े ही पा जाते हैं तो अपने भाग्य की सराहना करते हैं। मुख्यतया घर के विषय में खास कठिनाई झेलनी पड़ती है। गाँव वाले गन्दी कच्ची झोपड़ियों में रहते हैं; और मजदूर गंदे, तंग और जनाकीर्ण (Crowded) क्वार्टरों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं जहाँ उनका आध्यात्मिक और भौतिक पतन भीषणता का रूप धारण कर लेता है। यह अभाग्यवश सच है कि हमारे सहस्रों देशवासियों को जीवन-रक्षक पदार्थ पर्याप्त नहीं। जहाँ तक **प्रतिष्ठा रक्षक पदार्थों** का सम्बंध है, हमारे रीति-रिवाजों के दास देश में वे अनिवार्य होते हैं। बहुधा दीख पड़ता है कि मनुष्य जीवन-रक्षक पदार्थ न खरीदकर प्रतिष्ठा-रक्षक पदार्थ खरीदते हैं। जीवन-रक्षक आवश्यकताएँ एक औसत भारतीय सर्व-प्रथम संतुष्ट करता है। उसकी आय इतनी कम होती है कि निपुणता-रक्षक पदार्थ खरीदने के लिए उसके पास रुपया नहीं बचता। जैसा कि मोरलैण्ड ने लिखा है, 'एक बड़ी संख्या में मनुष्य शिक्षा या चिकित्सा का प्रबंध नहीं कर पाते, और स्वास्थ्यकारी निवास-गृह मुख्यतः शहरों में बहुत कम होते हैं। कारीगर, मजदूर और छोटे-छोटे किसानों पर भी जाड़े के लिए काफी कपड़े नहीं होते; और देश के अनेक भागों में मजदूरों का भोजन उन्हें पूरे दिन परिश्रम करने के लिए पर्याप्त नहीं होता।[2]

अब आराम और विलासिता को ले लीजिये। अब औसत भारतीय इस प्रकार के कुछ पदार्थों का उपभोग करने लगा है क्योंकि कुछ तो ये पदार्थ सस्ते हो गये हैं और कुछ समाचार पत्रों, शहरों में निवास आदि, ने उसके ज्ञान को बढ़ा दिया है। वास्तव में सस्ते खिलौने, किरमिच के जूते, नकली सिल्क आदि की ओर वह इतना आकृष्ट होने लगा कि वह इनके खरीदने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। उसकी आय थोड़ी होने के कारण उसे बहुधा निपुणतादायक पदार्थों का बलिदान भी करना पड़ता है।[3]

---

[1] उत्तरी भारत के अनेक भागों में औद्योगिक मजदूर को भुने चने और गुड़ के अतिरिक्त दोपहर के आहार में कुछ और नहीं मिलता। शाम के आहार में उन्हें गेहूँ के आटे की रोटी और दाल मिल जाती है। शाक, तेल, घी और फल उनके आहार में बहुत कम मात्रा में शामिल होते हैं। चावल वाले प्रदेशों में जैसे मद्रास में अवस्था इससे कोई खास तरह से भिन्न नहीं—पिछली रात को उबला हुआ बासी चावल नमक के साथ सुबह को, दोपहर को चावल और दाल, जो कि रात को दोहराये जाते हैं। उन्हें शाक कम और फल, दूध, घी, करीब-करीब बिल्कुल ही नहीं मिलते।—B. Shiva Rao, *The Industrial Worker in India*, p.67.

[2] Moreland, *An Introduction to Economics*.

[3] ऐसे व्यक्तियों को, जो गरीबी के कारण बीमार हो जाते हैं, दूध आदि खाने की सलाह दी जाती है। पर सर जान मीगो ने ठीक लिखा है कि "मनुष्य से अधिक दूध पीने, या अधिक फल और शाक खाने की बात कहना व्यर्थ है, जब तक कि हम उन्हें साधारण आहार के स्थान पर नहीं प्रत्युत उनके अतिरिक्त इन पदार्थों को प्राप्त करने का मार्ग नहीं बताते। बहुत से मनुष्यों को पहले से ही पर्याप्त मात्रा में चावल तथा अन्य

हमारे देशवासियों का जीवन-स्तर निर्धनता के कारण तो नीचा है ही, वह उनकी अज्ञानता का भी परिणाम है। उनमें साधारणतया उपयुक्त रीति में अपनी आवश्यकताएँ चुनने और उचित क्रम में उन्हें संतुष्ट करने की सामर्थ्य नहीं। अतः अपनी आय से जितनी संतुष्टि प्राप्त कर सकते हैं, वे उतनी भी संतुष्टि उससे प्राप्त नहीं करते।

जीवन-स्तर के नीचे होने के प्रभाव

उपभोग की अपर्याप्तता एवं विवेकहीनता के परिणामस्वरूप भारतवासियों को *अनेक कष्टों को भोगना पड़ता है। जिन मनुष्यों को आवश्यक पदार्थ तक नसीब नहीं* होते, उनका शरीर अशक्त हो जाता है। उनकी निपुणता का ह्रास हो जाता है और उन्हें थोड़ा-सा ही वेतन मिलता है। फिर, वे छोटी-बड़ी बीमारियों के शिकार भी होते रहते हैं जिनके परिणामस्वरूप या तो उनकी मृत्यु हो जाती है या उनकी अशक्ति बढ़ जाती है ऐसे कमजोर व्यक्तियों की सन्तान भी अशक्त और अकुशल होती है। उनमें से बहुतों की मृत्यु हो जाती है और वे शिशु-मृत्यु-दरों की संख्या बढ़ाने का काम करते हैं; और जो जीवित रहते हैं वे पर्याप्त भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि के अभाव में निपुणताहीन हो जाते हैं। जब वे बड़े होकर पूरे आदमी हो जाते हैं तब वे अकुशल मजदूरों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाते हैं और यदि चेष्टा करने के बाद काम मिल गया तो कुछ आने रोज कमा कर अपनी गुजर करते हैं। उनकी निर्धनता उन्हें अकुशल बनाती है और उनकी अकुशलता उन्हें निर्धन। हमारे देश का जनसमुदाय (Masses) इस दूषित कुचक्र में फँस गया है और इससे छुटकारा पाना दुस्तर हो गया है। अतः जीवन-स्तर के मूल कारणों का अध्ययन करना लाभदायक होगा।

§ ४. हीन जीवन-स्तर के कारण और उपचार

बाहुल्य के बीच में गरीबी

यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि भारत की निर्धनता और निम्न जीवन-स्तर प्रकृति की कृपणता या क्रूरता के कारण नहीं है। प्रकृति हमारे ऊपर बहुत दयावान और उदार है; और हमारे पास विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। हमारा भौतिक वातावरण अच्छा और अनुकूल है। हमारे शक्ति संसाधन प्रचुर हैं। खान संबंधी धन हमारे पास काफी है और विभिन्न प्रकार का है। हमारी खेती विभिन्न प्रकार की और प्रगतिवादी हो सकती है। इन्हीं प्रचुर संसाधनों के कारण कुछ काल पूर्व भारत को "अंग्रेजी राजमुकुट का सबसे कीमती हीरा" कहा जाता था। इतने महान बाहुल्य में हम बहुत निर्धन हैं। इसका कारण यह है कि हमने अपने प्राकृतिक संसाधनों का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं किया। इसके कुछ अन्य कारण भी हैं। इनका विवेचन नीचे किया जाता है:

हीन रहन-सहन के स्तर के कारण

भारत में जीवन-स्तर के इतने हीन होने के कई कारण हैं जिनमें केवल प्रमुख कारणों का विवेचन नीचे किया जाता है:

रूखे-सूखे और सस्ते खाद्य पदार्थ उनकी क्षुधा शान्त करने के लिए प्राप्य नहीं। उनसे कीमती पदार्थों के सेवन की बात कहना उतना ही अनुपयुक्त है जितना कि (फ्रांस की) रानी मेरी एंतोइनेत (Marie Antoinette) का पेरिस की प्रजा का रोटी के लिए हाहाकार सुनकर यह कहना कि यदि उनके पास रोटी नहीं, तो वे केक क्यों नहीं खाते!"
—Sir John Meagaw, *Social Service*, p. 201.

(१) कम उत्पत्ति—हमारी राष्ट्रीय उत्पत्ति (National output) बहुत थोड़ी है। कृषि तथा उद्योगों के क्षेत्रों में हम समान उत्पादक साधनों से अमेरिका, इंगलैंड और चीन की अपेक्षा कम धन उत्पन्न करते हैं। कोई-कोई अमरीकन कारखाना तो हमारे कारखानों से २० गुना अधिक माल पैदा करता है। एक एकड़ भूमि में हम इटली की अपेक्षा १/३ चावल, मिस्र की अपेक्षा १/४ कपास, और योरप की अपेक्षा १/३ गेहूँ उत्पन्न करते हैं। जब हमारा देश कुल उत्पत्ति थोड़ी मात्रा में करता है, तो हममें से प्रत्येक को उपभोग के लिये थोड़ी-सी ही वस्तुएं मिलती हैं। हमारे स्वाभाविक एवं मानवीय साधन इतने प्रचुर हैं कि व्यवस्था और लगन से काम करने पर हम एक धनी देश बन सकते हैं। पर अब तक ऐसा हुआ नहीं है।

(२) साधनों का बुरा उपयोग—देश में जो भी उत्पादक साधन काम में आ रहे हैं उनका ठीक उपयोग नहीं हो रहा है। पहली बात तो यह है कि अधिकतर साधन कृषि में संलग्न हैं और उद्योगों की उपेक्षा की जा रही है। उदाहरण के लिए, जनसंख्या का ६८% भाग खेती में लगा है और उद्योगों में केवल १४% भाग लगा हुआ है। अतः हमारी अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित (Unbalanced) है। हमें उद्योगों का अधिक विकास करना चाहिये जिससे कि अर्थ-व्यवस्था सन्तुलित हो जाय और हमारी राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि हो। दूसरी बात यह है कि हम उत्पत्ति के सबसे कुशल और नये तरीके इस्तेमाल नहीं करते।

(३) वित्त, यातायात तथा विपणन की प्रणालियों का दोषयुक्त होना—उत्पत्ति बहुत कुछ वित्त (Finace), यातायात (Transport) तथा विपणन (Marketing) की कुशल प्रणालियों पर निर्भर होती है। भारत में इन प्रणालियों की कम और अव्यवस्थित उन्नति हुई है।

(४) श्रम की अकुशलता (Inefficiency)—हमारा श्रम बहुत अकुशल है। अकुशलता का कारण बुरा स्वास्थ्य तथा शिक्षा का अभाव तो है ही, साथ में अपनी जिम्मेदारी का अनुभव न करना भी इसका एक महत्वपूर्ण कारण है। मजदूरों ने अच्छे काम पर कम और हड़ताल करने पर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रति-मजदूर उत्पत्ति (Output per worker) कम हो गई है। जब तक इस अवस्था में सुधार नहीं होता, तब तक रहन-सहन के स्तर का ऊँचा होना कठिन है।

(५) जनसंख्या का आधिक्य—हमारी राष्ट्रीय उत्पत्ति कम है; पर हमारी जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। इसका परिणाम यह होता है कि हमें कुछ उत्पत्ति प्रतिवर्ष अधिक व्यक्तियों में बाँटनी पड़ती है; अतः प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने नहीं पाती।

(६) जनसमुदाय की अशिक्षा—यह भी गरीबी का एक मुख्य कारण है। इसके दो दुष्परिणाम हुए हैं: (१) ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकताओं की भी वृद्धि होती है। शिक्षा का अभाव जन-समुदाय के दृष्टिकोण को इतना संकुचित बना देता है कि इनमें से बहुत से व्यक्ति स्वयं को पूर्णतया संतुष्ट समझते हैं। (२) किन्तु अशिक्षा ने एक चिन्ताजनक भय भी उपस्थित कर दिया है। यह है हमारे गाँवों और औद्योगिक केन्द्रों में रहने वाले निर्धनों का विवेकहीन व्यय। व्यर्थ को तीज-त्योहारों, विवाह, मृत्यु और मुकदमेबाजी पर, शराबखोरी और सस्ती भड़कीली वस्तुओं पर, किये जाने वाले खर्च में कमी करने से मजदूरों और किसानों को निस्सन्देह लाभ होगा।

(७) धार्मिक और सामाजिक आदर्श—देश के धार्मिक और सामाजिक आदर्श भी "सादा जीवन, उच्च विचार" की उक्ति के पोषक हैं और मितव्ययिता और सादगी के जीवन की हिदायत करते हैं। महात्मा गांधी ने इस युक्ति पर बहुत जोर दिया है और इस कारण इसका काफी सम्मान होने लगा है। अतः हमारे देशवासी गरीबी पर संतोष करने लगे हैं और इसी को सादा जीवन समझ बैठे हैं। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन होना आवश्यक है।

(८) भौतिक कारण—भौतिक (physical) तत्व भी रहन-सहन के दर्जे के नीचे होने के कारण हैं। गर्म जलवायु होने के कारण मनुष्यों की आवश्यकताएँ थोड़ी-सी ही हैं। कपड़ों की आवश्यकता भी अधिक आग्रहपूर्ण नहीं होती क्योंकि गर्मी में बिना कपड़े के काम चलाया जा सकता है और जाड़े में आग जलाकर शरीर ताप लिया जाता है। बड़े-बड़े घरों की भी जरूरत नहीं होती क्योंकि गर्मियों में आँगन या घर के बाहर का मैदान सोने के उपयुक्त होता है और जाड़ों में छोटे-छोटे घरों में रहना बुरा नहीं प्रतीत होता।

(९) रीति-रिवाज और फैशन—इसका भी रहन-सहन के स्तर पर निर्धारित प्रभाव होता है। उपभोक्ता के सामाजिक वर्ग में जो रीति-रिवाज या फैशन प्रचलित होते हैं वह उनका स्वभाव से ही अनुमान करने लगता है। ऐसी अवस्था में उनकी व्यक्तिगत रुचि और इच्छा का महत्व बहुत कम हो जाता है। हमारे देश में कम आयु में विवाह कर लेने की प्रथा मनुष्यों की कार्यक्षमता और साहस को घटाती है और उन्हें नीचे रहन-सहन की ओर आकृष्ट करती है। जाति प्रणाली तथा संयुक्त परिवार की प्रणाली भी कार्यक्षमता घटाती है और मनुष्य की साहसी भावना को विकसित नहीं होने देती जिससे उसका रहन-सहन ऊँचा नहीं हो सकता। फैशन का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष (Direct) होता है क्योंकि फैशन हमारे उपभोग की वस्तुएँ निश्चित करती है। उदाहरण के लिये, हमारे बहुत से गाँववाले फैशन के कारण किरमिच का जूता पहनते हैं और धूप का चश्मा लगाते हैं जब कि वे यह रुपये और अच्छी तरह व्यय कर सकते थे। इन टीम-टाम की वस्तुओं के उपभोग से रहन-सहन श्रेष्ठ नहीं बनता, वरन् रुपये के दुरुपयोग के फलस्वरूप यह रहन-सहन के उठाने में बाधा ही डालता है।

(१०) दोषपूर्ण वितरण—देश में जितना धन उत्पन्न होता है, उसका ठीक-ठीक वितरण नहीं होता। जब तक अँग्रेजों का राज रहा, वे हमारा शोषण करते रहे। हमारे देश में उत्पन्न किये गये धन का एक बड़ा भाग वे तरह-तरह से स्वयं हड़प जाते थे। आजकल बड़े पूँजीपतियों को भी इस बात का दोषी ठहराया जा सकता है। वे उचित पुरस्कार नहीं देते और मजदूरों द्वारा उत्पन्न किये गये धन का एक बड़ा भाग अन्यायपूर्वक स्वयं हड़प कर जाते हैं। भाग्यवश अँग्रेज हमारे देश से कूच कर चुके हैं और हमारे देश में राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो चुकी है जो पूँजीपतियों के शोषण के प्रति जागरूक है।

जीवन-स्तर ऊँचा करने के उपाय

विभिन्न सुझाव—हमारा जीवन-स्तर तभी ऊँचा हो सकता है जब कि ऊपर बताये हुए मूल कारणों का लोप कर दिया जाय। विशेषतया निम्नांकित दिशाओं में कार्य करने की बहुत आवश्यकता है:

(१) हमारी अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक विभाग में उत्पत्ति बढ़ाने के लिए हमें भरसक प्रयत्न करना चाहिए। कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिए हमारी कृषि-व्यवस्था का कायाकल्प आवश्यक है। हमारी उद्योग-व्यवस्था में सुधार, परिवर्तन एवं वृद्धि करना भी बहुत जरूरी है। जब तक हम अपनी उत्पत्ति नहीं बढ़ाते, तब तक हमें उपभोग के लिए अधिक धन नहीं मिल सकता।

(२) हमें उत्पादक साधनों का भी अच्छा उपयोग करना चाहिए। उद्योगों की शीघ्र उन्नति करके हमें अपनी अर्थ-व्यवस्था में संतुलन स्थापित करना चाहिए। साथ में ही उत्पत्ति के नये और कुशल तरीके अपनाने चाहिये। विशेषतया खेती के नये तरीके अपनाना बहुत आवश्यक है।

(३) हमें अपनी बैंक-व्यवस्था को कार्य-कुशल एवं विस्तृत बनाना चाहिए जिससे कि उत्पादकों को आसानी से पर्याप्त वित्त (Finance) मिल जाया करे। साथ ही यातायात तथा विपणन की व्यवस्था भी इस ढंग पर रखनी पड़ेगी कि वह उत्पत्ति के अधिक होने पर अपना काम सुचारु रूप से करती रहे।

(४) मजदूरों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए ऊँची मजदूरी देना, उन्हें सामान्य व पेशेवार शिक्षा देना तथा उनमें वास्तविकता एवं अपने उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न करना आवश्यक है। उनको यह समझा देना चाहिये कि यदि वे अधिक मजदूरी चाहते हैं तो उन्हें अधिक कुशल होना और अधिक धन उत्पन्न करना चाहिये।

(५) साथ में हमें अपनी जनसंख्या की वर्तमान वृद्धि भी रोकनी पड़ेगी। हम वर्तमान जनसंख्या तो कम नहीं कर सकते; किन्तु हम उपर्युक्त रीतियों द्वारा यह कर सकते हैं कि वर्तमान जनसंख्या में वृद्धि न हो या उसमें कम वृद्धि हो।

(६) शिक्षा की उचित व्यवस्था भी स्थापित करनी चाहिये जिससे कि हमारे देशवासी आर्थिक, व्यापारिक तथा औद्योगिक मामलों में अधिक दिलचस्पी लें और श्रेष्ठ उत्पादक बन सकें। व्यक्तियों को अपनी आय को उचित रीति से व्यय करने के विषय पर विशेष शिक्षा की आवश्यकता है।

(७) हमें अपने देशवासियों का दृष्टिकोण भी परिवर्तित करना पड़ेगा। हमारे भाग्यवाद तथा परलोकवाद ने हमें वास्तविकता से दूर फेंक दिया है और हम निर्धनता तथा सादा जीवन का अन्तर भूल-से गये हैं। हमें सबसे पहले रहन-सहन के एक न्यूनतम दर्जे को प्राप्त करना आवश्यक है; इसके पश्चात् यह प्रश्न आता है कि हम अपना रहन-सहन सादा रक्खें या उसे और ऊँचा करें। अतः आर्थिक उन्नति के पक्ष में भावना उत्पन्न करना आवश्यक है।

(८) हमें वितरण की प्रणाली भी न्यायपूर्ण बनानी चाहिये। पर यह काम बहुत कठिन और भेदपूर्ण है। इस दिशा में बहुत सावधानी से काम लेना आवश्यक है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि हमें वितरण में सुधार तभी करना चाहिये जब कि ऐसा करने से राष्ट्रीय आय में कुछ भी कमी न आवे।

पंचवर्षीय योजना के द्वारा स्तर में वृद्धि करना—हमने जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए जो उपाय बताये हैं, उनका दो तरह प्रयोग हो सकता है : (१) पंच-वर्षीय योजना (Five-Year Plan) बना कर या, (२) बिना योजना के।

अब तक यह होता था कि सरकार जो-जो सुधार करना चाहती थी, उनके अनुसार वह एक साल का कार्य-क्रम मोटे तौर पर बना लेती थी; और आर्थिक क्षेत्र में बिना अधिक हस्तक्षेप किये हुए जो भी कर सकती थी, करती थी। इस प्रकार काम करना "बिना योजना के काम करने की प्रथा" कहलाती थी। यह प्रथा अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हुई। इसके दो कारण थे : (१) जब तक सरकार कम से कम पाँच साल का कार्य-क्रम निर्धारित न कर ले और खेती, उद्योग, यातायात, सिंचाई, बिजली आदि की उन्नति के लिये स्पष्ट लक्ष्य (targets) स्थिर न कर ले, तब तक देश की शीघ्र उन्नति नहीं हो सकती। (२) देश की शीघ्र उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार आर्थिक

क्षेत्र में सक्रिय भाग ले—वह स्वयं धन्धे चलावे और व्यक्तिगत उत्पादकों तथा साहसियों (Private Entrepreneurs) के कामों पर भी अंकुश रक्खे। बिना योजना के काम करने में इन बातों पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता; और इसलिये शीघ्र उन्नति नहीं हो पाती।

अतः अब यह माना जाने लगा है कि सरकार को देश की शीघ्र उन्नति के लिए योजना के अनुसार काम करना चाहिये। योजना का उद्देश्य देश की गतिपूर्वक आर्थिक उन्नति करना या रहन-सहन के स्तर को शीघ्र ऊँचा करना होता है। इसके प्रमुख लक्षण दो होते हैं : (१) इसके अनुसार पंचवर्षीय योजना बना ली जाती है; और हर दिशा में जितनी उन्नति पाँच सालों में करनी होती है, उसके लिए लक्ष्य (targets) स्थिर कर लिये जाते हैं। (२) सरकार स्वयं खेती करती है, कारखाने स्थापित करती है, यातायात चलाती है तथा अन्य काम करती है; और व्यक्तिगत साहस (Private Enterprise) पर अधिक नियंत्रण रखने लगती है। कभी-कभी व्यक्तिगत उद्योग तथा व्यापार को सरकार ले लेती है—इसे "राष्ट्रीयकरण" कहते हैं। योजना के द्वारा आर्थिक उन्नति शीघ्र होती है और अधिक होती है।

अतः हमारे बताये हुए सुझाव पंचवर्षीय योजना के रूप में लागू करने से देश की आर्थिक उन्नति शीघ्र होगी और जीवन-स्तर में शीघ्र वृद्धि होगी। हमारे देश में योजना का सिद्धान्त अपना लिया गया है; और सन् १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना चालू हुई जो सन् १९५६ में पूरी हुई। इसके फलस्वरूप हमारे स्तर में वृद्धि हुई है। दूसरी पंचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी है; और अब तीसरी पंचवर्षीय योजना चालू है।

§५. क्या हमारा जीवन-स्तर ऊँचा हो रहा है ?

हम यह बता चुके हैं कि हमारा देश बहुत गरीब है और हमारे देशवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। हम इस हालत के कारण और उपचार भी बता चुके हैं। ब्रिटिश काल में अंग्रेज अधिकारी कहा करते थे कि भारतवासियों का जीवन स्तर ऊँचा हो रहा है; किन्तु राष्ट्रीय नेता इस मत को नहीं मानते थे। अब हम इन युक्तियों पर प्रकाश डालेंगे। इस विषय को दो प्रकार से स्पष्ट किया जाता था :(अ) अवलोकन (Observation) द्वारा, तथा (आ) अंक (Statistics) द्वारा।

(अ) अवलोकन-सम्बन्धी दृष्टिकोण

कुछ अफसर अपने अवलोकन (Observation) और प्रति-दिन के व्यावहारिक अनुभव के आधार पर कहते थे कि भारतवासियों का जीवन-स्तर उन्नत हो रहा है। इस वर्ग के व्यक्ति ऊपरी टीम-टाम को देखकर यह कहने लगते थे कि भारत में जीवन-स्तर ऊपर उठ रहा है या वहाँ की निर्धनता कम हो रही है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

(१) भारत के स्त्री-पुरुष अब पहले से अधिक मात्रा में विलासिता के पदार्थ का (जैसे मोटरगाड़ी, सिल्क आदि का) उपयोग करने लगे हैं। ये पदार्थ आवश्यक आवश्यकताएँ तथा आराम की वस्तुएँ प्राप्त करने के बाद खरीदे जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उनका जीवन-स्तर ऊंचा हो रहा है।

यह उचित गलत है क्योंकि इसमें त्रुटिपूर्ण सामान्यकरण का भ्रम (Falalcy of false generalisation) शामिल है। सब मनुष्य या अधिकांश व्यक्ति ऐसे

पदार्थ का सेवन नहीं करते। केवल मुट्ठी भर अमीर आदमी ही इनका प्रयोग करते हैं। जो बात जन-समूह के थोड़े से भाग पर लागू होती है वह समस्त जन-समूह पर लागू नहीं होती जब तक कि समस्त जन-समूह एक-सा न हो। इसके अतिरिक्त यह सोचना कि आवश्यक आवश्यकताओं तथा आराम की वस्तुओं के बाद ही विलासिता के पदार्थ खरीदे जाते हैं, गलत है।

(२) जब सिनेमा में आदमियों की भीड़ की भीड़ जाती है। सिनेमा देखना विलासिता है। अतः यह अमीरी का चिह्न है।

यह उक्ति भी पहली उक्ति की भाँति दोषपूर्ण है। पहले तो सिनेमा देखनेवालों की संख्या कुल जन-संख्या का बहुत-थोड़ा भाग है; अतः एक भाग के विषय में जो बात सच है, वह पूरी आबादी पर नहीं घट सकती। दूसरे, सिनेमा जानेवाले सिनेमा देखने के आदी हो जाते हैं और बहुधा अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट न करके सिनेमा देखते हैं। इसलिए यह सोचना कि वे अपनी आवश्यक आवश्यकताओं तथा आराम की सब वस्तुएँ खरीद चुके हैं, गलत है।

(३) भारत में बड़े-बड़े महल और कुबेर के समान मालदार उद्योगपति और व्यापारी हैं। अतः भारत अवश्य ही बहुत धनी होगा।

यह उक्ति भी भ्रमास्पद है। जो बात धनी उद्योगपतियों पर लागू होती है वह समस्त पर नहीं; क्योंकि धनी उद्योगपतियों की संख्या इनी-गिनी है और अन्य व्यक्ति उनके बराबर धनी नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि कोरे अवलोकन के आधार पर यह अकाट्य रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारतवासियों का स्तर ऊँचा हो रहा है। इसी प्रकार की उक्तियाँ देकर ब्रिटिश शासन में सरकारी अफसर कहा करते थे कि भारतवासी अमीर हो रहे हैं, जो सत्य के सरासर प्रतिकूल था। अतः हमें अवलोकन के स्थान पर अंकों पर अधिक विश्वास करना चाहिये।

(आ) अंक सम्बन्धी दृष्टिकोण

हमने सारिणी ८ में भारत की प्रति-व्यक्ति आय के कई अनुमान दिये हैं। इनके आधार पर यह भी कहा जाता था कि ब्रिटिश काल में हमारे जीवन-स्तर में उन्नति हुई। सन् १९०० में हमारी प्रति-व्यक्ति आय केवल रु० ३० वार्षिक थी पर सन् १९४६–४७ में यह बढ़कर रु० १५० हो गई। पर इस सम्बन्ध में कई बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। पहले, यह उन्नति ४६–४७ वर्ष में हुई जो बहुत लम्बी अवधि है। दूसरे, यह उन्नति कोई विशेष अधिक इस अर्थ में नहीं हुई कि सन् १९४६–४७ में भी यह केवल १२½ रु० प्रति मास थी। तीसरे, युद्ध के समय में मूल्यों के बढ़ जाने के कारण यह उन्नति बहुत कुछ दिखावटी थी। हाँ, योजनाओं के सूत्रपात के बाद प्रति-व्यक्ति आय अवश्य बढ़ रही है।

§ ६. भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ और जीवन-स्तर में वृद्धि

स्वतंत्र होने के बाद सरकार ने इस बात का निश्चय कर लिया कि निर्धनता दूर करने के लिये तथा रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिये योजनात्मक विकास के सिद्धान्त (Principle of Planned Progress) को अपनाना आवश्यक है। द्वितीय महायुद्ध के समय में ही ऐसा विश्वास हो चला था; और सन् १९४४ में तीन गैर-सरकारी योजनाएँ

प्रकाशित भी हुई थीं जिनके नाम निम्नलिखित हैं: उद्योगपतियों की योजना, गांधी योजना, तथा जन योजना। सरकार ने इन योजनाओं को तो स्वीकार नहीं किया; पर उन्होंने एक योजना कमीशन नियुक्त किया जिसने पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) बनाई और जो अब पूरी हो चुकी है। इस योजना का उद्देश्य हमारी निर्धनता दूर करना और हमारे जीवन-स्तर को ऊँचा करना था।

योजना के अनुसार सन् १९५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय (अर्थात् देश के समस्त निवासियों की संयुक्त आय) ९,११० करोड़ रुपये थी। सन् १९५५-५६ में योजनात्मक उन्नति के फलस्वरूप यह १०,८०० करोड़ रुपये बढ़ कर हो गई। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि हुई। किन्तु इन पाँच सालों में जनसंख्या भी बढ़ी; और अनुमान लगाया गया है कि जनसंख्या की यह वृद्धि ६३/४% हुई। अतः हमारी प्रति-व्यक्ति आय समान सीमा तक न बढ़ सकी। सन् १९५०-५१ में वह २५३ रु० थी जो सन् १९५५-५६ में बढ़ कर २८१ रु० हो गई; अर्थात इसमें ११% की वृद्धि हुई।

हमारी दूसरी पंचवर्षीय योजना के फलस्वरूप सन् १९६०-६१ में हमारी राष्ट्रीय आय बढ़ कर रु० १२,९६० करोड़ हो गई। इसी बीच में आबादी उत्तरोत्तर बढ़ती रही; और सन् १९६०–६१ में इसके ४०.८ करोड़ होने की आशा थी। इस आधार पर प्रति-व्यक्ति आय रु० ३०१ वार्षिक हुई। दूसरे शब्दों में, दूसरी योजना के फलस्वरूप इसमें ८% की वृद्धि होती। किन्तु १९६१ की जन-गणना द्वारा पता चला कि भारत की जनसंख्या लगभग ४४ करोड़ है; अतः प्रति-व्यक्ति आय केवल रु० २९४ वार्षिक है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के फलस्वरूप सन् १९६५–६६ में देश की राष्ट्रीय आय के रु० १६२०० करोड़ होने की आशा है। उस वर्ष की जनसंख्या कदाचित् ४९ करोड़ हो। अतः उस वर्ष प्रति-व्यक्ति आय लगभग रु० ३३० होगी।

इस प्रकार इन १५ वर्षों में प्रति-व्यक्ति आय रु० २५३ वार्षिक से बढ़ कर रु० ३३० वार्षिक हो जायगी। यह योजनात्मक प्रगति का ही फल है।

§ ७. भारत की निर्धनता

ऊपर की विवेचना से भारत की निर्धनता का साफ पता चलता है। हमने ऊपर भारत के निवासियों के जीवन-स्तर नीचे होने के प्रभाव, कारण तथा उपचार की विस्तृत विवेचना की है। यही उनकी निर्धनता के प्रभाव, कारण तथा उपचार कहे जा सकते हैं। अतः विद्यार्थियों को उपरोक्त विवरण का देश की निर्धनता के संदर्भ में भी अध्ययन करना चाहिये।

सारांश

१. भारत की कुल राष्ट्रीय आय १९५५–५६ में रु० १०,८०० करोड़ थी; और प्रति-व्यक्ति आय रु० २८१ प्रतिवर्ष। यह अन्य देशों से काफी कम है।

२. गुणात्मक तथा मात्रा-सम्बन्धी दृष्टिकोणों से भारत में जीवन-स्तर नीचा है।

३. इसके कारण हैं कम उत्पत्ति, साधनों का कम उपयोग, वित्त तथा यातायात तथा विपणन की बुरी व्यवस्था, श्रम की अकुशलता, जनसंख्या का आधिक्य, जनसमुदाय की अशिक्षा, धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श, रीति-रिवाज तथा फैशन और दोषपूर्ण वितरण, इसको ऊँचा करने के प्रयत्न करने चाहिये।

४. हमारा जीवन-स्तर अधिक ऊँचा नहीं हो रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के फल-स्वरूप भारत की प्रतिवर्ष आय में बराबर वृद्धि हो रही है।

EXAMINATION QUESTIONS

Delhi, Higher Secandary

1. What are the major causes and the chief consequences of poverty in India ? (1958).

2. Account for the low standard of living of an average Indian (1957).

Punjab, Inter.

3. Write a concise note on India's National income. (1958).

4. The per capita National Income of India was estimated by Dr. V. K. R. V. Rao (1931-32) at Rs. 65/-. The National Income unit estimated the per capita national income (1952-53) at Rs. 261/-. What light do these figures throw on the economic progress of the people ? (1956).

Jammu and Kashmir, Inter Arts.

5. Give the India's national income in any recent year. (1955).

Rajasthan, Inter Arts.

6. What are the factors which determine the standard of living of an individual ? Does high standard of living always lead to greater efficiency ? (1957).

7. Do you agree with the view that India's economy is a good example of 'Poverty amidst Plenty ? Give reasons. (1958).

8. Illustrate the poverty and low standard of living of the people in our country and explain the paradox of poverty in midst of plenty. (1956).

9. Illustrate the low standard of living in India. Account for the paradox of poverty of the people in midst of our wealth of natural resources. (1954).

बिहार, इन्टर आर्ट्स

10. How do you explain the poverty of Indian cultivator ? What measures do yon suggest for raising their standard of living ? (1957).

अध्याय ४

भारत को प्रकृति के उपहार

अब हम अपने देश के प्राकृतिक साधनों का अध्ययन करेंगे। प्रकृति ने हमारे देश को प्रचुर उपहार प्रदान करने की महान् कृपा की है। इस देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु और मिट्टी पाई जाती है; और इस कारण सभी कृषि पदार्थ भारत में उत्पन्न होते हैं। हमारे खनिज पदार्थ भी प्रचुर मात्रा में हैं। लोहा, कोयला, तांबा आदि हमारे देश में बहुत पाया जाता है तथा अन्य धातुएँ भी विभिन्न मात्रा में पाई जाती हैं। भारतीय वन बहुत-सी लकड़ी तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। हमारे मछली पकड़ने के प्रदेश काफी धनी हैं यद्यपि उनका अभी ठिकाने से शोषण नहीं हुआ है। संसार में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और रूस के अतिरिक्त भारत ही ऐसा देश है जो आत्म-निर्भर (Self-sufficient) आर्थिक व्यवस्था बना सकता है। प्रकृति के उपहार की प्रचुरता और उसके आधार पर आर्थिक उन्नति की सम्भावना के बूते पर ही हमारे देश को "ब्रिटिश एम्पायर का सर्व सुन्दर हीरा" कहा जाता था।

प्रकृति ने भारत को जो उपहार भेंट किये हैं उनका हमारी आर्थिक व्यवस्था में बहुत महत्व है। इस कारण उनका अध्ययन करना आवश्यक है। हम सबसे पहले भौतिक वातावरण का अध्ययन करेंगे और उसके पश्चात् भारतीय वन, खनिज पदार्थ, कृषि, सिंचाई के साधन और शक्ति-स्रोतों का। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि अगस्त १५, १९४७ को भारत को दो देशों में बांट दिया गया : भारत और पाकिस्तान में। इस पुस्तक में भारत का ही जिक्र किया गया है। वर्तमान भारत का रेखाचित्र अगले पृष्ठ पर दिया जाता है।

भारत के भौतिक वातावरण का निम्निलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है:

१. भौगोलिक सीमा और स्थिति,
२. भूमि की बनावट,
३. जलवायु, और
४. वनस्पति एवं पशु।

§ १. भारत की भौगोलिक सीमा और स्थिति

भारत भूमध्य रेखा के उत्तर में ८ अक्षांश से लेकर ३७ अक्षांश के भीतर फैला हुआ है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ११,००,००० वर्गमील है।[१] यह क्षेत्रफल, रूस को छोड़ कर समस्त योरोप के क्षेत्रफल से कुछ कम है, और यूनाइटेड किंगडम का १० गुना है। संसार की जनसंख्या का $\frac{१}{६}$ भाग भारत में पाया जाता है।

देश की सीमा स्पष्ट और निश्चित है। देश के उत्तर में हिमालय पर्वत है जिसे समस्त संसार में सबसे ऊँचे होने का गौरव प्राप्त है और जो सदैव हिम से ढँका रहता है। देश के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम की ओर भी पहाड़ों की श्रेणियाँ विद्यमान हैं। इन

---

१ भारत का क्षेत्रफल ११,३८,८१४ वर्गमील है।

पर्वतों के कारण मनुष्य और पशु उत्तरी देशों से न तो भारत में आ सकते हैं और न यहाँ से उन देशों को जा ही सकते हैं। हाँ, केवल कुछ दर्रे हैं जिनके द्वारा आवागमन होता है। देश का उत्तरी भाग जिस प्रकार पर्वतों द्वारा सुरक्षित है, उसी प्रकार देश का पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिणी भाग समुद्रों से घिरा हुआ है। पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी है; पश्चिम की ओर अरब सागर है; और दक्षिण में हिंद महासागर है। भारत का सामुद्रिक तट ६,००० मील लम्बा है। यह अधिक कटा-फटा नहीं है; प्रत्युत लगभग पूर्णतया सीधा है। जहाजों के आवागमन के योग्य नदियों के मुहाने थोड़े से ही हैं और हमारे पास अच्छे बन्दरगाह भी थोड़े हैं। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई और विशाखापटनम ही अच्छे बन्दरगाह हैं। अतः यदि भारतवासियों का ध्यान समुद्र की ओर नहीं जाता अथवा वे अच्छे सामुद्रिक नहीं बन सकते, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

किन्तु इस शोचनीय दशा ने हमारे देशवासियों की आँखें खोल दी हैं और अब देश में सामुद्रिक दिलचस्पी पैदा करने की चेष्टा की जा रही है। प्राचीन काल में भारतवर्ष संसार की सामुद्रिक शक्तियों में अग्रगण्य देश था; और कोई कारण नहीं कि वह अपना प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त करने में असफल रहे।

भारत की भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए बहुत अच्छी है। हमारा देश पूर्वी भू-मंडल के ठीक मध्य में स्थित है। वास्तव में हमने संसार के समस्त देशों के साथ बहुत अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये हैं। किन्तु स्वयं अपना जहाजी बेड़ा न होने के कारण भारत अपनी भौगोलिक स्थिति का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा रहा है। यदि यह कमी दूर कर दी जाय—हमें आशा है ऐसा शीघ्र ही हो जायगा—तो भारत संसार का एक प्रमुख और अगुआ व्यापारिक देश बन जायगा।

§ २. भारत की मिट्टी की बनावट

यदि हम भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से अपने देश के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भारत की बनावट वह नहीं थी जो आज है। उस समय हमारा देश अफ्रीका से मिला हुआ था और दोनों के बीच में समुद्र था ही नहीं। जहाँ आज राजपूताना और पंजाब हैं वहाँ तब समुद्र हिलोरें मारा करता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, भयानक भूचाल आये, विस्फोट हुए और अन्य भूगर्भ सम्बन्धी

परिवर्तन होते गये। इन सबके परिणामस्वरूप हमारे देश ने वर्तमान स्वरूप धारण किया। हम नीचे भारत की मिट्टी की बनावट का वर्णन करेंगे।

भारत में मिट्टियाँ

प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था के स्वरूप-निर्धारण में उसकी मिट्टियों के स्वभाव का बड़ा हाथ रहता है। हमारा देस कृषि-प्रधान है; और खेत की सफलता या असफलता मिट्टी की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता पर निर्भर रहती है। भाग्यवश भारत में काफी अच्छी और उर्वरा मिट्टी पाई जाती है। किन्तु यह अधिकतर सूखी होती है और पर्याप्त मात्रा में जल मिलने पर ही यह अच्छी पैदावार उगाती है, चाहे वह पानी बरसात के द्वारा मिले अथवा कृत्रिम साधनों के द्वारा।

भारत की मिट्टियों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है:

(१) नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी,
(२) लाल मिट्टी,
(३) काली मिट्टी, और
(४) रवादार मिट्टी।

(१) **नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी या दूमट मिट्टी**—विस्तार में तथा खेती की दृष्टि से, दूमट मिट्टी में भारत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी बनावट तथा इसके लक्षण स्थिर नहीं रहते; प्रत्युत इसमें काफी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। देश के उत्तरी भागों में यह मिट्टी शुष्क और छेददार (Porous) होती है; बंगाल में यह नम और घनी (Compact) होती है; दक्षिणी भारत में बहुत घनी और गीली होती है—वास्तव में यह चिकनी मिट्टी की भाँति और रंग में काली होती है। यह पंजाब, यू० पी०, राजपूताना, पश्चिमी बंगाल, आसाम और गुजरात में पाई जाती है। यह मद्रास और दक्षिण पेनिसुला के कुछ भागों में भी मिलती है। दूमट मिट्टी में बहुत-सा फासफोरिक एसिड, पोटाश, चूना और मेग्निशिया मिला रहता है और इसमें रबी और खरीफ की फसलें बहुत अच्छी तरह उत्पन्न होती हैं।

(२) **लाल मिट्टी**—मिट्टी की दूसरी किस्म लाल मिट्टी की है। ढालू स्थानों और पहाड़ी प्रदेशों पर पाई जानेवाली लाल मिट्टी हल्की और छेदवाली होती है और बहुधा अनुपजाऊ होती है। किन्तु मैदान में यह अधिक मोटी और शुष्क होती है और इसी कारण अच्छी फसल उगाने के योग्य होती है। यह पूरे दक्षिण में और एम० पी०, काठियावाड़ और हैदराबाद के बहुत से भागों में पाई जाती है। यह कपास, गेहूँ, मोटे अनाज और दाल उत्पन्न करने के लायक होती है।

(३) **काली मिट्टी**—यह मिट्टी दक्षिणी भारत में पाई जाती है। बम्बई, हैदराबाद, एम० पी० और मध्यभारत इसके लिए प्रसिद्ध हैं। मिट्टी का रंग काला होता है और यह कपास की पैदावार के लिए बहुत उपयुक्त होती है। इसीलिए इसे काली कपास वाली मिट्टी कहते हैं। यह मिट्टी बहुत घनी होती है और इसमें चिकनाहट भी बहुत होती है। इसमें गीलापन (या जल) रक्खे रहने की सामर्थ्य होती है; इसमें केमिकल भी बहुत होते हैं; अतः यह बहुत उपजाऊ होती है। यह कपास की पैदावार के लिए तो विशेषतया उपयुक्त है ही, पर इसमें गेहूँ और मोटे अनाज भी पैदा किये जा सकते हैं। साधारणतया इस पर रबी की फसलें अच्छी तरह उगती हैं।

(४) **रवादार मिट्टी**—देश के अवशेष प्रदेशों में—एम० पी०, उड़ीसा, छोटा नागपुर, पश्चिमी बंगाल, यू० पी० आदि में—रवादार मिट्टी पाई जाती है। यह भौतिक

और रसायन तत्वों में एक-सी नहीं होती। विभिन्न स्थानों पर यह विभिन्न प्रकार की होती है। यह पहाड़ी प्रदेशों में अनुपजाऊ होती है; किन्तु मैदान में, जहाँ इसका रंग कुछ भूरा-सा होता है, यह काफी उपजाऊ होती है। जिन फसलों के पैदा करने के यह योग्य है उनमें धान सबसे महत्वपूर्ण है।

भूमि का अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव

भूमि किसी देश के आर्थिक जीवन पर तात्विक प्रभाव डालती है क्योंकि यह आर्थिक ढाँचे में खेती का महत्व निर्धारित करती है तथा खेती का स्वभाव भी निश्चित करती है। किसी देश में क्या-क्या फसलें उत्पन्न होती हैं, यह उसकी भूमि की बनावट पर निर्भर होता है। भारत में नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी के क्षेत्र खेती की दृष्टि से सबसे अधिक महत्व के है, और उनमें रबी और खरीफ दोनों फसलें अच्छी होती है। दक्षिण और मध्यप्रदेश की भूमि में कपास और गेहूँ खूब पैदा होते हैं। काली मिट्टी कपास के लिए सुप्रसिद्ध है। इन सब बातो के अतिरिक्त भूमि की उर्वरता का महान महत्व होता है। भारत में भूमि का लगातार उपयोग होते रहने के कारण भूमि थक गई है और इसलिये प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। कभी-कभी भूमि संबंधी अन्य समस्यायें भी बहुत महत्व ग्रहण कर लेती हैं। हमारे देश मे भूमि का कटाव (Soil Erosion) इसी प्रकार की एक समस्या है।

मिट्टी का कटाव (Erosion)

मिट्टी सम्बन्धी दो समस्याएं बहुत महत्वपूर्ण हैं : मिट्टी के कटाव की और उसकी थकावट। वर्षा के जल अथवा वायु द्वारा भूमि के महीन कणों के हटाये जाने को ही मिट्टी का कटाव कहते हैं। कटाव का प्रमुख कारण वर्षा का जल है। मिट्टी के ऊपरी कण मुलायम, ढीले और उपजाऊ होते हैं, अतः वर्षा का जल इन्हें अपने साथ बहा ले जाता है। अतः यह भूमि की उर्वरा शक्ति को बहुत हानि पहुँचाता है। इस कटाव को **एक-सा कटाव** (Sheet erosion) कहते हैं। जब पानी मूसलाधार गिरता है, तब वह नदी-नालियों के रूप में बहने लगता है और मिट्टी को काट देता है। इस प्रकार गहरे-गहरे गड्ढे हो जाते है जिन्हें कछार (Ravines) कहते हैं। कछार खेती के पूर्णतया अयोग्य हो जाते हैं। इस प्रकार के कटावों को कछार वाला कटाव (Gully erosion) कहते हैं।

मिट्टी के कटाव ने हमें बहुत हानि पहुँचाई है। विशेषतया मूसलाधार वर्षा के पानी ने हमारी बहुत ही क्षति की है। बिहार के बड़े भाग तथा यू० पी० में यमुना और चम्बल नदियों के दोनों ओर बहुत से बड़े-बड़े भू-भाग खेती के लिये अनुपयुक्त हो गये हैं। इस समस्या पर हमारे देश में अब तक कोई विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया। हर्ष का विषय है कि इस ओर ध्यान आकर्षित होने लगा है। इसे रोकने के लिए कुछ उपाय भी प्रयोग में लाये गये हैं।

मिट्टी की थकावट (Exhaustion)

मिट्टी की थकावट की समस्या भी बहुत चिन्ताजनक है। अत्यधिक फसलों के उगाने से मिट्टी की उर्वरा शक्ति के ह्रास की अथवा लोप हो जाने को ही मिट्टी की थकावट कहा जाता है। भूमि पर एक फसल के बाद दूसरी फसल उगाते रहने किन्तु उसमें खाद न देने या उसे कुछ अवकाश न देने से मिट्टी थक जाती है। यह एक महत्वपूर्ण कारण

है जिसके परिणाम-स्वरूप हमारी भूमि की प्रति एकड़ पैदावार इतनी कम है और संसार के अन्य देशों की अपेक्षा कुछ भी नहीं है। हमारे किसानों कि यह शिकायत कि मिट्टी अब पहले के बराबर उपजाऊ नहीं रही, पूर्णतया ठीक है। जनसंख्या की लगातार वृद्धि और निर्विघ्न शांति ने हमारी मिट्टी को कुछ आराम लेने ही नहीं दिया; और उपभोग कर ली जानेवाली उर्वरा शक्ति को लौटाने के लिए उचित खादों अथवा रसायनों का प्रयोग भी नहीं किया। यह समस्या हमारे कृषि विशेषज्ञों और विद्वानों की चिन्ता का कारण बन गई है; किंतु अब तक इसके रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया गया।

चट्टानें और खनिज पदार्थ

भारत के कुछ भागों में चट्टानें पाई जाती हैं, और कुछ पुरानी चट्टानों के गर्भ में बहुमूल्य खनिज पदार्थ छिपे रहते हैं। इन खनिज पदार्थों को खोद निकालने का काम खान खोदना (mining) कहलाता है। भारत में सफल खान खोदने का व्यवसाय स्थापित है। देखिये अध्याय ३३, आगे।

§ ३. भारत की जलवायु

यदि आप भारत का मानचित्र (map) देखें, तो आपको पता चलेगा कि यह भूमध्य रेखा के उत्तर में ८ डिग्री से ३७ अक्षांश के अन्दर फैला हुआ है। कर्क रेखा हमारे देश को दो भागों में विभाजित कर देती है, उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत में। उत्तरी भारत की जलवायु शीतोष्ण है। ठण्ड और गर्मी की तीव्रता तथा वातावरण की नमी प्रत्येक प्रदेश में भिन्न-भिन्न है। सामान्यतया उत्तरी और पश्चिमी प्रदेशों की जलवायु उग्र होती है, और हम जितना पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं, उतनी ही जलवायु सम होती जाती है। उदाहरण के लिए पंजाब जाड़ों में बहुत ठण्डा रहता है और गर्मी में बहुत गर्म रहता है।

किन्तु बंगाल और आसाम में ठण्ड और गर्मी की उग्रता कम हो जाती है। इसी प्रकार राजपूताना और पंजाब की जलवायु शुष्क है; किन्तु आसाम और बंगाल का वातावरण नम है। उत्तरी भारत के पहाड़ी प्रदेशों में जाड़े बहुत ठण्डे होते हैं और गर्मी में सुहावनी सर्दी। दक्षिणी भारत भूमध्य रेखा की पेटी में आता है। अतएव यहां तापक्रम साल भर ऊंचा रहता है और जाड़ों तथा गर्मियों के तापक्रम में बहुत कम अन्तर होता है। तटीय प्रदेशों की जलवायु शीतोष्ण होती है।

भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर जलवायु का प्रभाव

आर्थिक जीवन के स्वभाव के निर्धारण में जलवायु का बड़ा हाथ रहता है। देश की भौगोलिक तथा आर्थिक दशाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आर्थिक व्यवस्था पर जलवायु का प्रभाव इसका अच्छा उदाहरण है। हम नीचे भारत की जलवायु का उसकी आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव बतायेंगे :

(१) मनुष्यों के पेशे जलवायु निर्धारित करते हैं। हमारे देश में जितनी गर्मी और नमी होती है, वह खेती के लिए उपयुक्त है। भारत के कृषि-प्रधान होने का यह प्रमुख कारण है।

(२) जलवायु में भिन्नता होने के करण धातुओं, वनस्पति तथा जीव-जन्तु

---

१ भारतीय मिट्टी की उर्वरा शक्ति कम हुई है या नहीं, इस विवाद के लिए देखिये R. C. Datta, *Report on High Prices*.

सम्बन्धी पदार्थ में भिन्नता हो जाती है जिसके फलस्वरूप भारत में पूर्णतया, भिन्नता तथा सुख का समावेश हो गया है। इसी कारण हमारे यहाँ लगभग सभी वनस्पति-पदार्थ, पंजाब के गेहूँ से लेकर बंगाल के धान और तटीय प्रदेशों के गोले तक, उत्पन्न होते हैं। हमारे देश में सब प्रकार की धातुएँ भी मिलती हैं : हमारे यहाँ पंजाब में नमक की श्रेणियों से लेकर बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की कोयले और लोहे की खानें तथा मैसूर में सोने की खानें तक विद्यमान हैं। यहाँ काश्मीर की पहाड़ी भेड़ों से लेकर राजपूताना के ऊँट और बंगाल के चीते तक भी मिलते हैं। इसी जलवायु की भिन्नता के आधार पर भारत आत्म-निर्भर हो सकता है।

(३) जलवायु मनुष्यों की कार्यक्षमता भी निर्धारित करती है क्योंकि वह उनकी शारीरिक शक्ति व कार्य करने की योग्यता निर्धारित करती है। ठण्डी जलवायु में मनुष्य तगड़े, स्वस्थ और अधिक मिहनती हो जाते हैं, और गर्म जलवायु में अशक्त और आलसी। उदाहरण के लिए, गरम और नम जलवायु में रहनेवाले बंगाली ठंडी जलवायु में रहनेवाले नेपाली की अपेक्षा अशक्त होते हैं।

(४) जलवायु शरीर के साथ-साथ मस्तिष्क को भी बनाती है। गर्म जलवायु में रहने वाले लम्बी अवधि तक मस्तिष्क-सम्बन्धी काम नहीं कर सकते। विशेषज्ञों का कहना है कि ६०° फा० तापक्रम शारीरिक काम के लिए आदर्श है और ३०° फा० का तापक्रम मस्तिष्क सम्बन्धी काम के लिये।

(५) जलवायु मनुष्यों की वेषभूषा का भी निर्धारण करती है। ठण्डे प्रदेशों में मनुष्य ऊनी और तंग वस्त्र धारण करते हैं और गर्म प्रदेशों में सूती और ढीले-ढाले कपड़े पहनते हैं। इससे मनुष्यों के रहन-सहन के स्तर एवं उनकी कार्यक्षमता पर भी प्रभाव पड़ता है।

(६) घरों की बनावट तथा शहर और सड़कों की योजना भी जलवायु के अनुकूल होती है। हमारे देश में गर्म जलवायु के प्रदेशों में घरों में आँगन का होना आवश्यक समझा जाता है, किन्तु ठण्डी जलवायु में आँगन आवश्यक नहीं। रंगों का चुनाव भी जलवायु के अनुसार किया जाता है। गर्म जलवायु में जहाँ धूप की मात्रा अधिक होती है, चमकीले रंग पसंद किये जाते हैं; किन्तु ठण्डे और घनाच्छादित प्रदेशों में हल्के और सादे रंग अच्छे लगते हैं।

इससे स्पष्ट है कि जलवायु का प्रभाव देश की आर्थिक व्यवस्था पर तात्विक होता है। वास्तव में इस कथन में कि स्वयं सभ्यता जलवायु की उपज है, सत्य का बहुत बड़ा अंश विद्यमान है।

§४. जल-वृष्टि (Rainfall)

किसी भी देश की जलवायु को दो प्रमुख कारण निर्धारित करते हैं : जलवृष्टि और तापक्रम। भारतवर्ष में जलवृष्टि मानसून के द्वारा होती है। यह प्रधानतया जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीने में केन्द्रित होती है। इसका साल में समान प्रसार नहीं होता और इसकी मात्रा तथा समय भी अनिश्चित होता है। कभी-कभी मूसलाधार वर्षा होती है और कभी तनिक भी नहीं होती तथा इसमें रह-रह कर अनिश्चित रूप से घट-बढ़ भी होती रहती है।

देश की अधिकांश जल-वृष्टि गर्मी की ऋतु में होती है जब कि सूर्य भूमध्य रेखा के उत्तर में होता है। सूर्य की इस स्थिति के कारण भारत का भू-भाग गरम हो जाता है और उसके ऊपर की वायु हल्की होकर ऊपर उठ जाती है। वायु अधिक दवाव के क्षेत्र से कम दवाव के क्षेत्र की ओर वहती है, अतः दक्षिणी समुद्रों से वायु भारत की ओर चलने लगती है। यह हजारों मीलों तक समुद्र के ऊपर चलकर आती है और मार्ग में वड़ी मात्रा में जल सोख लेती है। जब यह वायु पहाड़ से टकराती है, तब यह अपनी नमी वाहर निकाल देती है जो वर्षा का रूप धारण कर लेती है। इस वायु के गरमी के दिनों में चलने के कारण इसे गरमी का मानसून कहते हैं। इसकी दो शाखाएँ हैं : अरव सागर की शाखा और बंगाल की खाड़ी की शाखा।
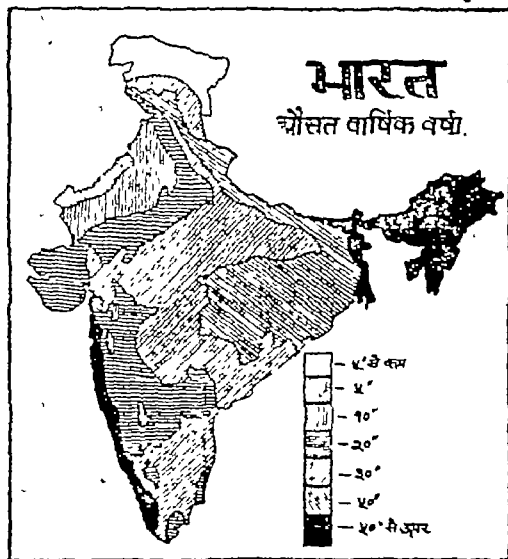
चित्र २—भारत में जल-वृष्टि

अरव सागर की शाखा—मानसून की अरव सागर वाली शाखा दक्षिण-पश्चिम की ओर से तेजी के साथ आती है और पश्चिमी घाट से टकराती है, जहाँ वहुत जल-वृष्टि होती है। यह उत्तर की ओर भी वढ़ती है और देश के अन्य भागों को भी जल पहुँचाती है। यह औसतन १००" जल वरसाती है। यह जून, जुलाई, अगस्त और सितम्वर में पानी वरसाती है।

बंगाल की खाड़ी की शाखा—गर्मी के मानसून की वंगाल की खाड़ी वाली शाखा जल से भरी हुई होती है और सवसे पहले पूर्वी पर्वत-श्रेणियों से टकराती है। इससे वहुत मूसलाधार पानी वरसता है। चेरापूंजी में सवसे अधिक—लगभग ४८०"—जल-वृष्टि होती है। सन् १८६१ ई० में यहाँ ८००" से अधिक वर्षा हुई। यह मानसून उत्तर की ओर भी वढ़ता है और हिमालय पर्वत से टकरा कर गंगा की घाटी में, जो देश का सबसे उपजाऊ तथा सवसे घना वसा हुआ भाग है, पानी वरसाता है।

देश में जितनी भी जल-वृष्टि होती है उसका प्रायः ९०% भाग गर्मी के मानसून की उपर्युक्त दो शाखाओं द्वारा प्राप्त होता है। अतः देश की उन्नति के लिये उनका महत्व आसानी से समझा जा सकता है।

थोड़ी-सी वर्षा जाड़ों में होती है और उस समय के मानसून को जाड़े का मानसून कहते हैं। गर्मी का मानसून सितम्वर तक चलता है। सितम्वर के वाद सूर्य भूमध्य-रेखा के दक्षिण की ओर प्रस्थान करने लगता है। अतः उत्तरी भारत के वातावरण का दवाव वढ़ जाता है, और दक्षिणी भारत में हवा का दवाव कम हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप गर्मी के मानसून की वंगाल की खाड़ी वाली शाखा अधिक दवाव वाले प्रदेशों में अव प्रवेश नहीं कर पाती और दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। यह पश्चिमी तट की ओर आती

हैं और पेनिन्सुला के दक्षिण किनारे पर टकराती है। इससे मद्रास के उत्तरी और दक्षिणी जिलों को जल प्राप्त होता है।

§ ५. वनस्पति और जीव-जन्तु

किसी देश की भौगोलिक, भू-गार्भिक एवं जलवायु-सम्वन्धी अवस्था ही उसकी वनस्पति और जीव-जन्तु निर्धारित करती है। भारत में ये दशाएँ इतनी विभिन्न हैं कि हमारे यहाँ की वनस्पति और जीव-जन्तु भी विभिन्न प्रकार के होते हैं।

भारत में ट्रापिकल वस्तुएँ जैसे धान, कहवा, गन्ना, सन और केले उत्पन्न होते हैं, यहाँ कपास, तम्वाकू, गांजा और चाय जैसी उप-ट्रापिकल वस्तुएँ भी उत्पन्न होती हैं, और यहाँ टेम्परेट (temperate) वस्तुएँ, जैसे गेहूँ, मक्का, जौ और आलू भी पाये जाते हैं।

हमारे यहाँ अनेक प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं। इनमें से वैल और भैंसें सवसे महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये खेत जोतने, पानी खींचने और माल ढोने के काम आते हैं। गाय और भैंस का भी महत्व कुछ कम नहीं, क्योंकि देश में वड़ी मात्रा में उपभोग किये जाने वाले पौष्टिक पदार्थ—घी और दूध—इन्हीं की देन है। हमारे देश में भेड़, वकरी, गधे, ऊँट आदि पशु भी पाये जाते हैं जिनकी अपनी-अपनी अलग-अलग उपयोगिता है।

§ ६. भारत के भौगोलिक भाग

भौगोलिक दृष्टिकोण से भारत को निम्नलिखित भागों में वाँटा जा सकता है:—

(१) हिमालय प्रदेश,
(२) गंगा का मैदान,
(३) दक्षिण पठार, और
(४) तटीय प्रदेश।

हिमालय प्रदेश

इस भाग में देश के उत्तरी पहाड़ी स्थान सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस भाग के उत्तर में जोजीला दर्रा है जो काश्मीर से वाहर जाने का मार्ग है और शिपकी दर्रा है जो पंजाव से वाहर जाने का मार्ग है।

इस भाग का सवसे आकर्षक अंग हिमालय पर्वत है। इसे संसार में सवसे ऊँचा पर्वत होने का गौरव प्राप्त है और देश की आर्थिक अवस्था के निर्धारण में वहुत वड़ा काम करता है। यह जल-वृष्टि, हवाएँ, गर्मी, ठंडक और नमी पर निर्धारक प्रभाव डालता है; और इनके द्वारा यह खाद्य पदार्थ और कच्चे माल की उपज को भी प्रभावित करता है। उनके प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं:

(१) अरव सागर तथा वंगाल की खाड़ी से आनेवाले मानसून को यह पर्वत रोककर जल-वृष्टि प्रदान करता है जो भारत ऐसे कृषि-प्रधान देश का प्राण है। यदि वादलों का पानी वृष्टि के रूप में नहीं आता तो वह हिम के रूप में जम जाता है और फिर वह पिघल-पिघल कर समस्त वर्ष भर हमारी नदियों को पानी देता रहता है।

(२) यह तिव्वत की ओर से आने वाली ठंडी हवाओं को रोक लेता है और वे भारत में प्रवेश नहीं करने पातीं। यदि हिमालय पर्वत न होता, तो हमारा देश एक सूखा और अनुपजाऊ देश वन जाता।

(३) देश की सवसे महत्वपूर्ण नदियाँ—गंगा, यमुना आदि—हिमालय पर्वत से ही निकली हैं और इन पर्वतों का हिम वर्ष भर पिघल-पिघल कर इन नदियों को पानी देता रहता है। भारत का कृषि-सम्वन्धी महत्व वहुत कुछ इन्हीं नदियों की देन है।

(४) हिमालय पर्वत की गोद में बहुत से जल-प्रपात भी हैं जिनसे "श्वेत कोयला" (अर्थात् विद्युत्-शक्ति) उत्पन्न किया जा सकता है और औद्योगिक उन्नति की जा सकती है।

(५) हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढाल पर जंगल हैं। पेड़ों की जड़ें और भूमि पर बिछे हुए पत्ते वर्षा के जल का बड़ा भाग रोक लेते हैं। शुष्क ऋतु में यह पानी धीरे-धीरे हमारी नदियों में आता रहता है और उन्हें सूखने नहीं देता। अतः हिमालय पर्वत जल को एकत्रित कर लेता है और उसको इस गति से देता है कि देश में साल भर लगातार पानी मिलता रहे।[२]

(६) हमारी विभिन्न प्रकार की जलवायु बहुत कुछ हिमालय पर्वत की देन है। इसी जलवायु की विभिन्नता के कारण हम प्रायः सभी प्रकार के अनाज, रेशेदार पदार्थ और पेय पदार्थ अपने देश में ही उत्पन्न कर लेते हैं।

(७) हिमालय पर्वत अभेद्य है। इस कारण वह भारत को उत्तरी आक्रमणों से सुरक्षित रखता है और देश में शान्ति स्थापित करने में सहायता पहुँचाता है जिसके बिना आर्थिक उन्नति असम्भव है।

(८) पर्वतों में स्वास्थ्यवर्धक स्थान भी बहुत होते हैं जहाँ मनुष्य गर्मी में स्वास्थ्य बनाने के लिए जाते हैं। उनमें बहुमूल्य सुन्दर दृश्य भी देखने को मिलते हैं। ये हमारी अमूल्य राष्ट्रीय निधि हैं।

हिमालय प्रदेश आर्थिक दृष्टि से उन्नत नहीं। इसका प्रधान कारण यातायात और संदेशवाहन के साधनों की कमी है। किन्तु यह प्रदेश आत्म-निर्भर है और अपनी आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुएँ—केवल नमक और पेट्रोल को छोड़कर—स्वयं ही उत्पन्न कर लेता है।

इस प्रदेश में अनेक घाटियाँ हैं जो वृष्टि-रक्षित क्षेत्र में आ जाती हैं और जहाँ खेती की जाती है। पूर्व की ओर पानी काफी मात्रा में प्राप्त होता है और वहाँ रसदार फल जैसे नीबू और नारंगियाँ उत्पन्न होती हैं। पश्चिमी भाग सूखे हैं और वहाँ सेव और अखरोट आदि फल पाये जाते हैं।

इस प्रदेश में जंगल भी बहुत हैं। यहाँ पाइन, ओक और साल के प्रसिद्ध वृक्ष पाये जाते हैं। किन्तु इन जंगलों का अभी शोषण नहीं किया गया, क्योंकि यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों की अनुपस्थिति में इन तक पहुँचना टेढ़ी समस्या है। वर्तमान समय में यहाँ से केवल कत्था या ताड़पीन का तेल ही निकाला जाता है।

इस प्रदेश में बहुमूल्य चरागाह भी हैं जहाँ भेड़ और बकरी रक्खी जाती हैं। इनसे ऊन प्राप्त किया जाता है। कुछ धातुएँ जैसे सोना भी यहाँ खोदा जाता है।

गंगा का मैदान

यह भारत का दूसरा भौगोलिक विभाग है और दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत से लेकर उत्तर में पर्वत श्रेणियों तक विस्तृत है। यह बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में पाकिस्तान की सीमा तक फैला है; और १,५०० मील लम्बा तथा १५० से २०० मील चौड़ा है। इसमें बहुत से बड़े-बड़े मैदान शामिल हैं जिनमें कई नदियाँ बहती हैं और दोमट मिट्टी ला-लाकर मैदान को उर्वरा बना देती हैं। इसके पश्चिम में व्यास तथा

---

२ Sarkar, *Economics of British India*.

सतलज नदियाँ वहती हैं और अरव सागर में जा कर गिरती हैं। नदियों का एक दूसरा समूह, जिनमें गंगा और यमुना प्रमुख हैं, उत्तर प्रदेश, विहार और वंगाल में होकर गुजरती हैं। इन सव में गंगा सवसे महत्वपूर्ण नदी है, और इसलिये इस मैदान को गंगा का मैदान कहते हैं।

इन नदियों का आर्थिक महत्व वहुत ऊँचा है: (१) उन्होंने सारे मैदान में मुलायम, गहरी और उपजाऊ दोमट मट्टी विछा दी है। उन्होंने इस मैदान को अद्वितीय उर्वरा शक्ति प्रदान की है जिसके लिए यह संसार भर में विख्यात है। (२) ये नदियाँ जल की स्रोत हैं और इन्होंने आश्चर्यजनक कृत्रिम सिंचाई के साधनों को सम्भव वनाया है। (३) वे समय-समय पर अपना मार्ग हटाती रहती हैं और इसके परिणामस्वरूप उन्होंने ऊँचे-नीचे धरातल वना दिये हैं। इसलिये उन्हें "भूमि-निर्माणक" कहते हैं। (४) ये कुछ दूर खेई भी जा सकती हैं और उन्होंने इस विभाग के आर्थिक एकाकीपन के निवारण में सहायता पहुँचाई है।

अतः ये नदियाँ आर्थिक दृष्टि से वहुत लाभप्रद हैं। किन्तु यह गहरी और वड़ी नहीं हैं; इस कारण इनमें अधिक दूर तक जहाज नहीं आ-जा सकते। इनका मार्ग भी जल्दी-जल्दी वदलता रहता है जिस कारण इनके किनारे व्यापारिक केन्द्र उन्नत नहीं हो पाते।

महान् नदियों और उर्वरा भूमि के कारण यह मैदान आदि काल में ही आर्य-सभ्यता का घर और धर्म एवं साम्राज्यों की जन्मभूमि वन गया। आजकल संसार के सवसे महत्वपूर्ण कृषि-सम्वन्धी भागों में इसकी गिनती है। सव प्रकार के अनाज जैसे गेहूँ और चावल, सव तरह के कच्चे माल, जैसे कपास और सन, और पेय पदार्थ जैसे चाय और कहवा इस मैदान में उत्पन्न होते हैं। यह वहुत गति से औद्योगिक क्षेत्र भी वनता जा रहा है। प्रचुर कच्चे माल, सस्ता और पर्याप्त श्रम और विस्तृत वाजार औद्योगिक उन्नति के वहुमूल्य कारण होते हैं।

दक्षिणी पठार

विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में दक्षिणी पठार स्थित है जिसका स्वरूप त्रिकोण के समान है। विन्ध्याचल पर्वत इस त्रिकोण का आधार, कुमारी अंतरीप इसका सिरा, तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटी इसकी भुजाएँ हैं। यह प्रदेश टेविल-लैण्ड (Table-land) है और इसकी ऊँचाई समुद्र से १,५०० फीट है। देश का यह सवसे प्राचीन भाग है। इसमें अनेक घाटियाँ हैं जिनमें वहुत-सी नदियाँ प्रवाहित होती हैं। महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियाँ पूर्व की ओर वहती हैं तथा नर्वदा और तापती नदियाँ पश्चिम की ओर। ये नदियाँ वहुत तेजी से वहती हैं। इनमें प्रपात हैं तथा इनकी तलेटी पथरीली है; इस कारण इनमें जहाज नहीं चल सकते।

इस प्रदेश में अनेक प्रकार की मिट्टी पाई जाती है—नम कपास की काली मिट्टी से लेकर सूखे और उपजाऊ जंगल तक। जलवृष्टि थोड़ी और अनिश्चित होती है और समस्त प्रदेश में अकाल का भय लगा रहता है। पठार में वहुत से जंगल, गोले के वृक्ष, ताड़ और अन्य उपयोगी वृक्ष पाये जाते हैं। यहाँ गन्ना, तिलहन, मोटे अनाज और तम्वाकू भी खूव उत्पन्न होते हैं। मद्रास में चावल पैदा होता है और दक्षिणी भागों में चाय और कहवा। इन सवमें कहवा सवसे मूल्यवान फ़सल है।

तटीय प्रदेश

इन तीनों विभागों के अतिरिक्त पश्चिमी और पूर्वी घाटों के किनारे के प्रदेश भी

हैं। बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिणी पठार का मध्य प्रदेश "पूर्वी तट' या "कारोमंडल तट" कहलाता है। अरब सागर तथा दक्षिण पठार का मध्यस्थ प्रदेश "पश्चिमी तट" या "मलाबार तट" कहलाता है। मलाबार तट की अपेक्षा कारोमंडल अधिक विस्तृत है। इन तटीय प्रदेशों में दोमट मिट्टी पाई जाती हैं जो बहुत उपजाऊ होती है। इनमें कोई पहाड़ अथवा चट्टान नहीं पाई जाती।

पश्चिमी तट गोले के पेड़, कपास और मसालों (जैसे गोल मिर्च और इलायची) के लिए प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध भड़ोंच की रुई, जो देश भर में विख्यात है, इसी प्रदेश में पैदा होती है। पूर्वी तट की सबसे महत्वपूर्ण उपज चावल है। यहाँ कपास और गन्ने भी उत्पन्न होते हैं और यहाँ कपास तथा गन्ने की फसलें लोकप्रिय बनती जा रही हैं। विद्युत् शक्ति (Hydro-electricity) के उत्पन्न करने का भी यहाँ आयोजन किया जा रहा है और यहाँ विभिन्न उद्योग-धन्धे आरम्भ करने और इसे उन्नतिशील करने की चेष्टा हो रही है।

सारांश

१. भारत की सीमा स्पष्ट और निश्चित हे।

२. यहाँ नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी, लाल मिट्टी, काली मिट्टी और रवादार मिट्टी पाई जाती हैं।

३. भारत में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इसका आर्थिक जीवन पर महान प्रभाव पड़ता है।

४. भारत में जलवृष्टि मानसून के द्वारा होती है। इसका समान प्रसार नहीं होता।

५. भारत में विभिन्न प्रकार की वनस्पति तथा जीव-जंतु पाये जाते हैं।

६. भारत के निम्न भौगोलिक भाग किये जा सकते हैं: हिमालय का प्रदेश, गंगा का मैदान, दक्षिण पठार और तटीय प्रदेश।

परीक्षा-प्रश्न

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

1. Give an account of the soils and climate of India and explain their effects upon the economy of the country. (1958).

2. Describe very briefly the principal Natural Regions of India. To what extent are the production and trade of the different regions determined by geographical factors. (1956).

3. Write a note on soils of India. (1955).

4. Explain fully the ways in which monsoons affect the economic well-being of the people of India. (1955).

5. Give a brief survey of different Natural Regions of India. To what extent are the production and trade of the different regions of India determined by geographical factors. (1954)

पंजाब, इन्टर

6. Consider the influence of rainfall on (*a*) character of the people, (*b*) distribution of population, and (*c*) value of rivers. (1954)

इस तालिका से स्पष्ट है कि गत पचास सालों में हमारी जनसंख्या लगभग बराबर बढ़ती रही है। केवल १९११–१९२१ में ही यह नाम मात्र को घटी। सन् १९०१ में जो जनसंख्या २३.६ करोड़ थी, वह सन् १९५१ में ३५.७ करोड़ हो गई; अतः पिछले ५० वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि १% प्रति वर्ष से कुछ अधिक आती है। यदि हम १९४१–१९५१ का दस वर्ष का समय लें, तो यह वृद्धि १.३% प्रति वर्ष आती है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय जनसंख्या सामान्यतया बढ़ती जा रही है।
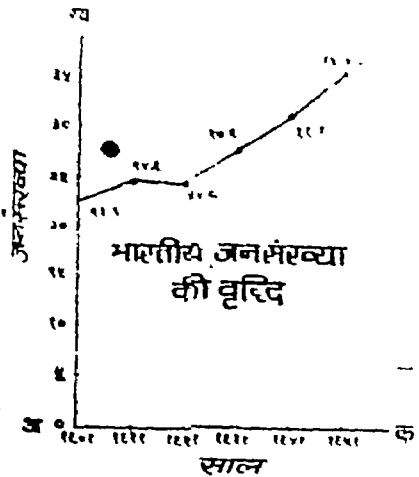
यह बगल के चित्र से स्पष्ट है। अ क अक्ष के सहारे वर्ष और अ ख अक्ष के सहारे जनसंख्या नापी गई है। प्रति वर्ष की जनसंख्या के बिन्दु निकाल लिये गये हैं और उन्हें मिलाकर उ उ' वक्र-रेखा प्राप्त की गई है जो जनसंख्या की रेखा है। यह ऊपर की ओर उठती जाती है जिससे जनसंख्या के बढ़ने का आभास होता है।

चित्र ३—भारत में जनसंख्या की वृद्धि

भारतीय जनसंख्या का भविष्य

क्योंकि भारतीय जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है इसलिए आशा की जाती है कि यह भविष्य में भी बढ़ेगी। जनसंख्या के कमिश्नर श्री गोपालस्वामी ने अनुमान लगाया था कि हमारी जनसंख्या सन् १९६१ में ४१ करोड़ हो जायगी।[१] अतः योजना कमीशन ने भी इसी आधार पर योजना बनाई कि हमारी जनसंख्या १¼% प्रति वर्ष की दर से बढ़ती रहेगी। किन्तु १९५८ में यह अनुमान लगाया गया कि हमारी जनसंख्या २% प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है।[२] किन्तु सन् १९६१ की जनगणना ने प्रगट किया कि वास्तविक वृद्धि की दर इससे भी अधिक है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, यह २.१५% वार्षिक है। यदि इस गति को रोका न गया, तो देश की उन्नति में भयानक बाधा पड़ेगी। इन नये आँकड़ों ने जनसंख्या-विशारदों को अचरज में डाल दिया है; और भारत की भावी जनसंख्या के अनुमानों को अब दोहराया जा रहा है।

जनसंख्या में वृद्धि के कारण

भारत की जनसंख्या में इतनी गतिपूर्वक वृद्धि होने के कारणों का विश्लेषण करना आवश्यक है। जनसंख्या के बढ़ने की दर मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होती है:— (अ) आवास-प्रवास और (आ) जीवन तथा मरण। भारत में आवास-प्रवास का अधिक महत्व नहीं है। भारत छोड़कर विदेशों में बस जाने वालों की संख्या उपेक्षणीय है।

---

१ देखिए R. A. Gopalaswami, *Census of India* 1951, Vol I-A (Delhi 1953).

२ Coole and Hover, *Population, Growth and Economic Development in Low Income Countries* (Princeton, 1958), Vol. VI

इसी प्रकार विदेशों से आकर भारत में बसने वाले भी थोड़े ही होते हैं। अतः हमें अपना ध्यान जीवन और मरण पर केन्द्रित करना चाहिए।

समस्या का विश्लेषण—जन्म से जनसंख्या बढ़ती है और मृत्यु से घटती है। जन्म दर तथा मृत्यु दर प्रति हजार पीछे व्यक्त की जाती है। जन्म दर का मृत्यु दर से आधिक्य "जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि दर" कहलाती है। उदाहरण के लिए सन् १९४१–१९५१में भारत में जन्मदर ४० थी और मृत्यु दर २७ थी। अतः जनसंख्या के बढ़ने की प्राकृतिक दर १३ हुई। नीचे की अनुसूची में भारत की वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से जन्म दर, मृत्यु दर तथा जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि दर दिखायी गई है।

सारिणी ११

भारत में जन्म दर, मृत्यु दर तथा जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि दर

समय	जन्म दर *	मृत्यु दर	प्राकृतिक वृद्धि दर
१९०१–१९११	४८	४२	६
१९११–१९२१	४९	४९	०
१९२१–१९३१	४६	३६	१०
१९३१–१९४१	४५	३२	१३
१९४१–१९५१	४०	२७	१३

इस सारिणी से स्पष्ट है कि भारत की जनसंख्या की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर रही है। वृद्धि की दर भी बढ़ती जा रही है। यह १९११–१९२१ में शून्य थी; सन् १९२१–१९३१ में यह १% प्रति वर्ष हो गई; १९३१–१९४१ में यह १.३% प्रतिवर्ष थी; और १९४१–१९५१ में यह १.३% प्रति वर्ष से कुछ अधिक थी। अतः भारतीय जनसंख्या की वृद्धि की दर बराबर बढ़ती जा रही है। यह जन्म दर का मृत्यु दर से अधिक होने का परिणाम है:

(क) भारत में जन्म दर—भारत में १९११–१९२१ में जन्म दर ४९ प्रति हजार थी, किन्तु यह धीरे-धीरे करके सन् १९४१–१९५१ में ४० हो गई। अतः इसमें कमी तो हो रही है किन्तु यह कमी बहुत धीमी गति से हो रही है। ५० वर्षों में इसमें केवल ८ या ९ प्रति हजार की कमी हुई है। तथापि यह अब भी अधिक है।

(ख) भारत में मृत्यु दर—भारत में मृत्यु दर में भारी गिरावट बहुत मार्के का तथ्य है। सन् १९०१–१९११ में यह दर ४२ थी, और सन् १९४१–१९५१ में यह घटकर २७ हो गई। इस प्रकार ५० वर्षों में इसमें १५% की कमी हुई।

(ग) प्राकृतिक वृद्धि दर—अतः जन्म दर तो धीरे ही धीरे कम हो रही है पर मृत्यु दर में भारी कमी हुई है। परिणाम यह हुआ है कि जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि दर बढ़ रही है।

जनसंख्या में वृद्धि के मूल कारण—ऊपर के विश्लेषण के आधार पर भारत की जनसंख्या की तेजी से बढ़ने के मूल कारणों का नीचे निरूपण किया गया है।

---

* Kingsley Davis, *The Population of India and Pakistan*, p. 69. सन् १९४१–५१ के अंक *Census* से लिये गये हैं।

(क) ऊँची जन्म दर—भारत में जन्म दर अब भी काफी ऊँची है: आजकल यह ४० प्रति हजार है। यह गिर तो रही है किन्तु यह धीरे-धीरे कम हो रही है।

(ख) मृत्यु दर में भारी कमी—भारत में मृत्यु दर में, जन्म दर की अपेक्षा भारी कमी हुई है। परिणाम यह हुआ है कि जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि दर ऊँची हो गई है। मृत्यु दर में भारी कमी होने का कारण यह है कि मनुष्यों का स्वास्थ्य अब अच्छा हो रहा है। इस सुधार के प्रमुख कारण निम्न हैं:

(१) मच्छड़ मारने तथा जहरीले प्रभाव काटने की दवाओं का काफी विकास हुआ है। मच्छड़ मारने की दवाओं (Insecticides), विशेषकर डी० डी० टी०, से मलेरिया का प्रकोप वहुत कम हो गया है। जहरीले प्रभाव काटने की दवाओं (Antibiotics) के द्वारा वहुत सी भीषण वीमारियाँ अब काबू में आ गई हैं।

(२) कम आय के व्यक्ति जिन क्षेत्रों में रहते हैं, वहाँ सार्वजनिक स्वास्थ्य संगठन ने अच्छा काम किया है। सार्वजनिक स्वास्थ्य देश में अच्छा काम कर रहा है, और निर्धन व्यक्तियों की वस्तियाँ उनसे विशेषतया लाभान्वित हुई हैं।

(३) कम खर्च पर सफाई (Sanitation) के साधन अव उपलब्ध होने लगे हैं। इससे भी स्वास्थ्य अच्छा हुआ है।

जनसंख्या को वृद्धि वांछनीय है या अवांछनीय ?

अव हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि जनसंख्या में इतनी गति से वृद्धि होना श्रेयस्कर है अथवा नहीं।

यह वांछनीय है—जनसंख्या की वृद्धि केवल इसी अर्थ में वांछनीय कही जा सकती है कि वह देश में कार्यशील व्यक्तियों की संख्या वढ़ाती है। हर वच्चे के दो हाथ होते हैं; और कालान्तर में यह दो हाथ उत्पत्ति वढ़ाने के लायक हो जाते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण वहुत संकुचित है और यह हमारे प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा, उनके विकास की सीमा तथा वर्तमान परिस्थिति में काम में लगाई जा सकने वाली श्रम की मात्रा आदि की उपेक्षा करता है।

यह अवांछनीय है—भारत में वर्तमान अवस्था यह है कि हमारी जनसंख्या वहुत अधिक है। हमारे प्राकृतिक संसाधन महान अवश्य हैं किन्तु वे अभी प्रयोग में नहीं लाये गये। जिस सीमा तक उनका शोषण हुआ है, वह थोड़े से ही व्यक्तियों को ही रोजगार दे सकता है। अतः शेष व्यक्ति वेकार रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे शीघ्र उन्नति करने के प्रयास को वढ़ती हुई जनसंख्या निष्फल कर देती है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत जो आर्थिक उन्नति होगी, उसके फलस्वरूप रोजगार के नये अवसर उपलब्ध होंगे; किन्तु जनसंख्या के वढ़ते रहने के कारण कार्यशील व्यक्तियों की संख्या भी वढ़ जायगी। अतः वेरोजगारी जितनी द्वितीय योजना के आरंभ में थी उतनी ही उसके अन्त में होगी। अतः जनसंख्या का वढ़ना अवांछनीय है क्योंकि वह वेकारी की समस्या का हल कठिन वना देती है।

यह इस कारण भी अवांछनीय है कि यह प्रति व्यक्ति आय की मात्रा कम कर देती है (अर्थात् यह देशवासियों को निर्धन वनाती है)। राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि कुछ सीमा तक जनसंख्या के वढ़ने के कारण वेकार हो जाती है; फलतः प्रतिव्यक्ति आय अधिक नहीं वढ़ पाती। उदाहरण के लिए पहली योजना के समय म हमारी राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि हुई; किन्तु उतने ही समय में जनसंख्या ७% वढ़ गई। अतः परिणाम यह हुआ कि प्रति व्यक्ति आय केवल ११% ही वढ़ी।

क्या भारत की निर्धनता अधिक जनसंख्या का परिणाम है ?

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि बड़ी और बढ़ती हुई जनसंख्या देश की गरीबी दूर करने में बाधक होती है। किन्तु कभी-कभी यह कहा जाता है कि भारत इस कारण निर्धन है कि उसकी जनसंख्या अधिक है। किन्तु यह कथन पूर्णतया ठीक नहीं प्रतीत होता। हमारी गरीबी के बहुत से कारण हैं जो हम इस पुस्तक के अध्याय ३ में बता चुके हैं। यह कारण हमने निम्न वर्गों में बाँटे हैं: (क) कम राष्ट्रीय उत्पादन, (ख) सहकारी आर्थिक कारण, (ग) भौतिक, सामाजिक तथा धार्मिक कारण, और (घ) वितरण की न्यायहीन प्रणाली। इन समस्त कारणों में बड़ी और बढ़ती हुई जनसंख्या केवल एक है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भारत की निर्धनता उसकी अधिक आबादी का ही परिणाम है। आबादी का अधिक होना हमारी निर्धनता को बढ़ाता है; किन्तु यह इसी स्वरूप में कि वह आर्थिक उन्नति की गति को धीमा कर देता है।

जनसंख्या की वृद्धि रोकने की रीतियाँ

ऊपर के विश्लेषण से जनसंख्या के बढ़ने की गति कम करने के उपचार स्पष्ट हो जाते हैं। उनका नीचे संक्षिप्त विवेचन किया जाता है:

(१) **परिवार नियोजन (Family Planning)**—यदि हम जन्म दर में कमी कर सकें, तो जनसंख्या के बढ़ने की दर घट सकती है। अतः भारत में परिवार नियोजन लोकप्रिय एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उपाय करना आवश्यक है। प्रथम योजना में परिवार नियोजन के पक्ष में जनमत बनाने का प्रयास किया गया। सलाह और सहायता देने के लिए क्लिनिक स्थापित किये गये; तथा मानवीय उर्वरता के डाक्टरी पहलू पर अनुसंधान किये गये। दूसरी योजना में परिवार नियोजन के लिए रु० ५ करोड़ रक्खे गये हैं। शहरों में ३०० और गाँवों में २,००० क्लिनिक खोले जायेंगे।

(२) **आर्थिक उन्नति की गति तेज करना**—समस्या का वास्तविक हल यह है कि आर्थिक उन्नति की गति बढ़ाई जाय। पहले, उन्नति अधिक होने पर जनसंख्या की वृद्धि का प्रभाव स्वयं ही कम हो जायगा। वास्तव में, यदि हमारी आर्थिक उन्नति की गति बहुत बढ़ जाय, तो जनसंख्या की वृद्धि कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है। दूसरे, यह देखा गया है कि धन के बढ़ने के साथ-साथ जन्म दर घटती जाती है। अतः भारत का जैसे-जैसे आर्थिक विकास होगा, जन्मदर वैसे ही वैसे स्वयं ही घट जायेगी।

क्या भारत में जनसंख्या का आधिक्य है ?

भारत में जन-संख्या बढ़ती जा रही है और यह भविष्य में बढ़ती जायगी। जन-संख्या का बढ़ना कुछ दशाओं में अच्छा होता है और कुछ दशाओं में खराब। यदि देश में कम आबादी हो, तब यह हितकर होता है; किन्तु यदि देश में काफी आबादी बढ़ चुकी हो, तो यह खराब होता है। यह कहा जाता है कि हमारे देश की जनसंख्या बहुत बढ़ चुकी है, और इसके और बढ़ने से देश को हानि होगी। अन्य शब्दों में, भारत में जन-संख्या का आधिक्य (over-population) है।

जनसंख्या का आधिक्य दो तरीकों से नापा जाता है: (अ) माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार और (आ) आदर्श जनसंख्या के सिद्धान्त के अनुसार। हम इन दोनों दृष्टिकोणों से सिद्ध करेंगे कि भारत में जनसंख्या का आधिक्य है।

(अ) **माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार**—माल्थस के अनुसार जब देश में नैसर्गिक निरोध (Positive Check) क्रियाशील हो, तो इसका अर्थ है कि वहाँ जनसंख्या का आधिक्य है। हमारे देश में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है पर खाद्य-सामग्री की उत्पत्ति में उतनी वृद्धि नहीं हो रही है। अतः अतिरिक्त जनसंख्या (Surplus Population) का विनाश करने के लिए तरह-तरह के नैसर्गिक निरोध क्रियाशील होते रहते हैं, जैसे बीमारी, अकाल, बाढ़, लड़ाई-झगड़े आदि। दूसरे शब्दों में, इन निरोधों का क्रियाशील होना इस बात का प्रमाण है कि हमारे देश में माल्थस का नियम लागू रहा है और यह जनसंख्या के आधिक्य से ग्रसित है।

(आ) **आदर्श जनसंख्या के सिद्धान्त के अनुसार**—आदर्श जनसंख्या के सिद्धान्त के अनुसार यदि आबादी के बढ़ने से प्रति-व्यक्ति आय कम हो जाय, तो यह जनसंख्या में आधिक्य का चिह्न है। भारत में ऐसा ही है। इसका प्रमाण हमें भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना से मिलता है। इस योजना के अनुसार पाँच साल में (१९५१-५६) में भारत की राष्ट्रीय आय लगभग ११% बढ़ी। अतः प्रति-व्यक्ति आय भी १८% बढ़नी चाहिये थी। किन्तु इसी समय में भारतीय जनसंख्या लगभग ७% बढ़ गयी; अतः प्रति-व्यक्ति आय केवल ११% बढ़ी। इससे स्पष्ट है कि भारत में आबादी बढ़ने से प्रति-व्यक्ति आय कम हो जाती है। अतः भारत में जनसंख्या का आधिक्य है।

§२. भारत में जनसंख्या का घनत्व

जनसंख्या का घनत्व

किसी देश में प्रति वर्ग मील में रहने वालों की संख्या को ही जनसंख्या का घनत्व (Density) कहते हैं। स्पष्टतया किसी देश की जनसंख्या का घनत्व दो बातों पर निर्भर होता है: (१) उसके निवासियों की संख्या पर और (२) उसके क्षेत्रफल पर। यह सच है कि हमारे देश की जनसंख्या बहुत है, किन्तु साथ ही साथ उसका क्षेत्रफल भी बहुत अधिक है; इसलिये जनसंख्या का घनत्व अधिक नहीं। यह घनत्व सन् १९५१ में औसतन केवल ३०० व्यक्ति प्रति वर्गमील था; पर सन् १९६१ में यह बढ़कर ३८४ व्यक्ति प्रति वर्गमील हो गया है। संसार के अन्य प्रगतिशील देशों में जनसंख्या का घनत्व कहीं इससे अधिक है और कहीं कम। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जनसंख्या का घनत्व भारत की अपेक्षा काफी कम है। पर कुछ अन्य प्रगतिशील देशों की जनसंख्या का (प्रति वर्गमील) घनत्व ७००, युनाइटेड किंगडम में ५०० और जापान में ४०० है।

घनत्व की राज्यात्मक भिन्नता

इस देश का औसत घनत्व ३८४ व्यक्ति प्रति वर्गमील है। वास्तव में कुछ राज्यों में घनत्व इससे अधिक और कुछ दूसरों में इससे कम है। सबसे घना भाग दिल्ली है, जहाँ की जनसंख्या ४,६१४ व्यक्ति प्रति वर्गमील है। अंडमन में घनत्व सबसे कम—केवल २० व्यक्ति प्रति वर्गमील—है। नीचे की तालिका में कुछ राज्यों की जनसंख्या दिखाई गई है।*

* ये अंक ११६१ की जन-गणना के अनुसार हैं।

सारिणी १२

राज्यों में जनसंख्या का घनत्व (१९६१)

राज्य	घनत्व	राज्य	घनत्व
दिल्ली	४,६१४	मैसूर	३१८
लकादिव द्वीप	२,१९२	उड़ीसा	२९२
केरल	१,१२५	गुजरात	२८६
बंगाल	१,०३१	त्रिपुरा	२८३
बिहार	६९१	आसाम	२५२
मद्रास	६७१	पंजाब	१५२
उत्तर प्रदेश	६५०	हिमाचलप्रदेश	१२४
पंजाब	४३१	अंडमन-नीकोबार	२०
आन्ध्र प्रदेश	३३९		
महाराष्ट्र	३३२	कुल भारत	३८४

राज्यात्मक भिन्नता के कारण

विभिन्न राज्यों में जनसंख्या का घनत्व इतना भिन्न क्यों होता है—यह अध्ययन का एक दिलचस्प विषय है। यदि अन्य बातें समान हों तो देश का वह भाग जहाँ जीविका-निर्वाह के साधन सबसे प्रचुर मात्रा में प्राप्य होंगे, सबसे अधिक घना बन जायगा। जहाँ केवल थोड़े से ही व्यक्तियों का निर्वाह होना सम्भव होगा, वहाँ की जनसंख्या का घनत्व कम होना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है; अतः जिस भाग में खेती सबसे अधिक समृद्धिशाली है और जहाँ जीविका-निर्वाह के साधन सबसे प्रचुर हैं, वहीं जनसंख्या का घनत्व अधिकतम है। कृषि के अतिरिक्त अन्य बातें भी घनत्व का निर्धारण करती हैं और कुछ भागों में वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। किन्तु सामान्यतया कृषि पर प्रभाव डालने वाली बातें ही जनसंख्या के घनत्व का निर्णय करती हैं। ये बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) भूतल के लक्षण—कृषि की सफलता या असफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण भूतल की बनावट होती है; और इसलिए घनत्व के निर्णय में भी इसी का सबसे बड़ा हाथ है। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी भागों में खेती के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और उसमें जोखिम भी अधिक होती है। इसके विपरीत, समतल मैदान खेती के लिए बहुत अनुकूल होते हैं। अतः हमारे देश के पहाड़ी प्रदेशों की जनसंख्या छितरी है और मैदानों की जनसंख्या घनी है। वास्तव में, गंगा के मैदान की गिनती संसार के सबसे घने प्रदेशों में है।

(२) वर्षा—कृषि की सफलता वर्षा की मात्रा पर भी निर्भर होती है। सामान्यतया ४० इंच पानी, यदि वह ठीक तरह से वितरित हो तो, भारतीय कृषि के लिये सबसे उपयुक्त होता है। जहाँ वर्षा की मात्रा इतनी या इसके लगभग होती है, वहाँ की जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है; और जहाँ वर्षा इससे कम या ज्यादा होती है,

वहाँ घनत्व कम होता है। विद्यार्थियों को यह लिखने की गलती नहीं करनी चाहिये कि वर्षा जितनी अधिक होगी, घनत्व भी उतना ही अधिक होगा। वर्षा घनत्व की कुछ सीमा तक सहायक होती है; उसके पश्चात् वह घनत्व की घातक होती है। यदि वर्षा का अभाव कृषि के लिए हानिकारक है, तो वर्षा की अधिकता भी खेती को उतनी ही हानि पहुँचाती है। उदाहरण के लिए, वर्मा में वहुत पानी पड़ता है, किन्तु वहाँ की जनसंख्या छितरी है।

(३) **सिंचाई**—जहाँ वर्षा की कमी होती है, वहाँ सिंचाई घनत्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण काम करती है। सिंचाई खेती को सफल वनाती है और घनी जनसंख्या के अनुकूल होती है। पंजाव का वह भाग जो अव नहर-उपनिवेश कहलाता है, कुछ समय पूर्व अनुपजाऊ रेगिस्तान था; किन्तु नहरें वन जाने के पश्चात् वह सहस्रों किसानों का हँसता हुआ उपजाऊ खेतिहर प्रदेश वन गया। इसी प्रकार सक्कर वैरेज वन जाने से सिन्ध में खेती होने लगी और सहस्रों किसान भूमि पर वस गये।

(४) **मिट्टी की किस्म**—कृषि की सफलता मिट्टी की किस्म पर भी वहुत कुछ निर्भर रहती है। जहाँ मिट्टी उपजाऊ और सुगमता से जोती जाने वाली होती है, वहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। यदि इसके विपरीत मिट्टी पथरीली और अनुपजाऊ हुई, तो जनसंख्या छितरी होगी। यहाँ यह वता देना आवश्यक है कि यदि वर्षा पर्याप्त है, तभी मिट्टी की अनुकूलता का महत्व होता है अन्यथा नहीं। अकेली इसी वात का जनसंख्या के घनत्व पर वहुत थोड़ा प्रभाव होता है।

(५) **जलवायु**—कृषि की सफलता की एक और आवश्यक वात अनुकूल जलवायु है। अन्य वातें कृषि के कितने ही अनुकूल क्यों न हों, किन्तु यदि जलवायु अनुपयुक्त है तो कृषि नहीं की जा सकती। इसका प्रमाण यह है कि अनुपयुक्त जलवायु वाले समस्त भाग घनत्व वाले हैं।

कृषि-सम्वन्धी वातों के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य वातें भी जनसंख्या के घनत्व का निर्णय करती हैं:

(६) **सुरक्षा**—मनुष्य और सम्पत्ति की सुरक्षा जनसंख्या के घनत्व को वढ़ाती है। जिन क्षेत्रों में युद्ध, स्वाभाविक आपत्ति या राजनैतिक अत्याचार अथवा शोपण का भय होता है, उनमें आवादी छितरी होती है।

(७) **आवास-प्रवास पर प्रभाव डालने वाली वातें**—कुछ सीमा तक आवास को प्रोत्साहित करनेवाली वातें घनत्व को वढ़ाती हैं और प्रवास को प्रोत्साहित करनेवाली वातें घनत्व को कम करती हैं। वास्तव में हो सकता है ये वातें अन्य ऊपर वताई हुई वातों से भी अधिक शक्तिमान प्रमाणित हों।

(८) **आर्थिक उन्नति का सोपान**—देश या उसके किसी भाग की आर्थिक उन्नति के सोपान पर जनसंख्या का घनत्व निर्भर होता है। आखेट युग में मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को लगातार घूमते रहते थे; और उस समय जनसंख्या का घनत्व निरर्थक शब्द (term) था। चरागाह युग में मनुष्य एक प्रकार से कुछ स्थिरतापूर्वक एक स्थान में रहने लगे; क्योंकि पशुओं को वड़े-वड़े चरागाह की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिए जनसंख्या स्वाभाविक रूप से छितरी थी। कृषि युग में मनुष्य निश्चित स्थान में लगातार रहने लगे और खाद्य-सामग्री की मात्रा वढ़ गई; जनसंख्या का घनत्व वढ़ा। भारत के सव कृषि प्रधान प्रदेशों में घनी जनसंख्या है। उद्योग-युग में घनत्व और

भी बढ़ जाता है जैसा कि बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि औद्योगिक केन्द्रों की जनसंख्या से स्पष्ट है।

(९) औद्योगिक उन्नति—किसी प्रदेश की औद्योगिक उन्नति में सहायता देनेवाली बात भी घनी जनसंख्या के लिए उत्तरदायी होती हैं। सामान्यतया जहाँ भी उद्योगों का केन्द्रीयकरण होगा, वहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होगा। हमारे सारे औद्योगिक केन्द्र बहुत घने बसे हैं।

§ ३. स्वास्थ्य और जन्म-मरण के आँकड़े

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि हमारे देश में जनसंख्या बहुत अधिक है। पर उसकी कार्यक्षमता कैसी है? यह समझने के लिए भारतवासियों के स्वास्थ्य और उनकी शिक्षा के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। हम §३ में स्वास्थ्य और §४ में शिक्षा के विषय में कुछ बतावेंगे।

स्वास्थ्य

स्वस्थ जन-समाज सुदृढ़ आर्थिक प्रणाली का आधार होता है। उन्नति करने की इच्छा और उसे पूरी करने की सामर्थ्य, स्वस्थ शरीर और मस्तिष्क के ही परिणाम होते हैं। मनुष्यों की शारीरिक कुशलता समस्त आर्थिक उन्नति की जड़ है। हमारे देशवासी अधिकतर अशक्त होते हैं। यह उनकी घोर निर्धनता और अशिक्षा—विशेषकर उनकी स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों की ज्ञानशून्यता—का परिणाम है। देश के बहुत-से निवासियों को दो बार भोजन भी नसीब नहीं होता। अधिकांश मनुष्य कच्ची झोपड़ियों या गंदी कोठरियों में रहते हैं, जहाँ का गंदा और अस्वास्थ्यपूर्ण वातावरण कई प्रकार के रोगों का उत्पादक होता है। उनके वस्त्र भी खराब और अपर्याप्त होते हैं। अपनी शरीर-रक्षा तथा स्वास्थ्य के लिए वे जो कुछ करने के योग्य भी होते हैं, वे अपनी अज्ञानता और अशिक्षा के कारण उतना भी नहीं कर पाते। अतः वे अस्वास्थ्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और प्रायः अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी बीमारियों के शिकार बनते हैं। उन्हें सतानेवाली मुख्य बीमारियाँ निम्नलिखित हैं (१) हैजा जो पूर्वी भारत में बहुधा फैलता है; (२) मलेरिया जो अधिक वर्षा और अनुपयुक्त ढलाव वाले प्रदेशों में फैलता है; और (३) क्षय रोग जो कि हमारे औद्योगिक प्रदेशों में तेजी से फैल रहा है। छोटी बीमारियों में प्लेग, कालाजार, हुकवर्म आदि की गिनती होती है। ये बीमारियाँ होती तो छोटी हैं, किन्तु बड़ी बीमारियों के समान ही विनाशकारी होती हैं। ये रोग सहस्रों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारते हैं और उनसे भी अधिक को अशक्त बना देते हैं। अखिल भारतीय मेडिकल रिसर्च कानफ्रेंस ने एक बार कहा था कि, "साल में रोकी जा सकनेवाली बीमारियों से औसतन ५० से ६० लाख व्यक्तियों की मृत्यु होती है; औसतन प्रति व्यक्ति पीछे साल में दो या तीन काम के सप्ताह की हानि हो जाती है। औसतन प्रत्येक व्यक्ति की २०% कार्यक्षमता का ह्रास हो जाता है। भारत में उत्पन्न होनेवाले बच्चों में से केवल २० प्रतिशत ही मजदूरी कमाने की आयु तक पहुँचते हैं; इस प्रतिशत अंक को ८० या ९० प्रतिशत करना सम्भव है। रोकी जा सकने वाली बीमारियों द्वारा जो कार्यक्षमता का ह्रास होता है, वह भारतवर्ष की निर्धनता और गरीबी का सबसे बड़ा कारण है।"[1]

---

[1] Quoted by Vail and Patel, *Provincial Finance under Autonomy.*

जन्म-मरण के आंकड़े

जन्म या मृत्यु के आँकड़ों को जन्म-मरण के आंकड़े (Vital Statistics) कहते हैं। हम पिछले एक अध्याय में बता चुके हैं कि हमारे देश में जन्म-दर बहुत अधिक है; किन्तु मृत्यु की दर भी बहुत ऊंची है। अतः जनसंख्या-वृद्धि-दर कम है। नीचे की तालिका में भारत को कुछ सालों की जन्म-दर मृत्यु-दर तथा जनसंख्या-वृद्धि-दर दिखाई जाती है। इससे पता चलता है कि प्रति हजार व्यक्ति पीछे भारत मेंलगभग ४० बच्चे पैदा होते हैं और लगभग २७ व्यक्ति मर जाते हैं। अतः प्रति हजार व्यक्ति पीछे लगभग १३ व्यक्ति बढ़ जाते हैं। जनसंख्या-वृद्धि की दर १० प्रति हजार या १.३% प्रतिवर्ष है। जनसंख्या की वृद्धि की यह दर संसार के पुराने देशों से अधिक है। भारत की जनसंख्या पहले से ही इतनी अधिक है कि इसका प्रति वर्ष १३ प्रति हजार की दर से बढ़ना बहुत चिन्ताजनक है। यह दर इंगलैंड, जर्मनी और जापान में केवल ७ % ही है।[1]

सारिणी १३
भारत में जन्म-मृत्यु दर

वर्ष	जन्म-दर प्रति पजार	मृत्यु-दर प्रति हजार	जनसंख्या की वृद्धि प्रति हजार*
१९४७	२७	२०	७
१९४८	२५	१७	८
१९४९	२७	१६	११
१९५०	२५	१६	९
१९४१–५०	४०	२७	१३

किसी भी देश का जन-स्वास्थ्य तीन बातों को देखकर मालूम किया जा सकता है : (१) औसत जीवन-काल, (२) स्त्री-मृत्यु तथा (३) बाल-मृत्यु। हम नीचे भारत के सम्बन्ध में इन्हीं तीन बातों का विचार करेंगे।

औसत जीवन-काल

हमारे देश में मनुष्य का औसत जीवन भी बहुत छोटा होता है। यह बात हमारी आर्थिक उन्नति की अवरोधक है। मनुष्य की मृत्यु का अर्थ यह होता है कि उसने अपने जीवन भर में जितना अनुभव और कुशलता प्राप्त की थी, उन सब का लोप हो गया। भारतवर्ष में मनुष्य का औसत जीवन केवल ३२ वर्ष का होता है जब कि वह नेदरलैंड्स में

---

* ये अंक केवल भारत के हैं अर्थात् इसमें पाकिस्तान शामिल नहीं है।

१ संसार के नये देशों में जहां क्षेत्रफल अधिक और जनसंख्या कम है, जनसंख्या की वृद्धि ऊंचे दर से हो रही है। जैसे कनाडा में यह दर १८ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया में १४ प्रतिशत और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १३ प्रतिशत है। पर इन देशों में जनसंख्या कम होने के कारण वृद्धि की यह दर लाभकारी है, चिन्ताजनक नहीं।

७० साल, इंगलैंड, आस्ट्रेलिया, डेनमार्क और न्यूजीलैंड में ६६ साल, अमेरिका में ६२ साल और जापान में ५० साल है। यह अवश्य है कि भारत में जीवन-काल अब लम्बा हो
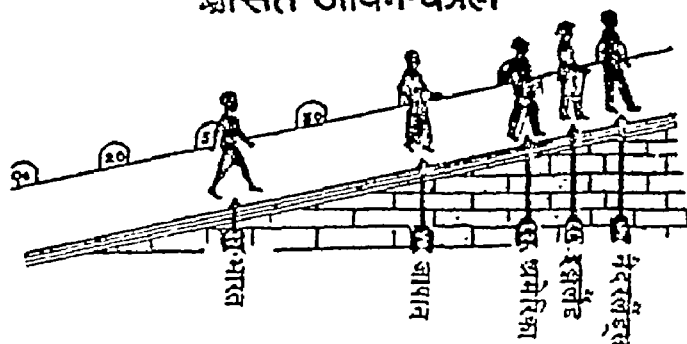
चित्र ४—औसत जीवन काल

रहा है। १९२१–३० में यह २७ वर्ष था; पर १९४१–५० में यह ३२ साल हो गया।* पर अन्य देशों की अपेक्षा यह बहुत कम है जैसा कि चित्र ४ से स्पष्ट है। हमारे देश में औसत जीवन-काल अमेरिका और इंगलैंड के आधे के बराबर है।

भारत में स्त्री-मृत्यु

भारत में स्त्रियों की मृत्यु-दर बहुत अधिक होती है। विशेषतया सन्तानोत्पत्ति के समय मृत्यु-संख्या ज्यादा होती है। अधिक स्त्री-मृत्यु के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(१) हमारी कुछ सामाजिक कुरीतियाँ हमारी स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक होती हैं। पर्दा प्रथा इसी प्रकार की एक कुरीति है। इस प्रथा के कारण भारतीय स्त्रियों को घर में बन्द रहना पड़ता है जहाँ उन्हें न तो ताजी वायु मिलती है और न कसरत का अवसर ही। यह हर्ष का विषय है कि ऐसी हानिकारक रीतियों का अब लोप हो रहा है।

(२) कम आयु में विवाह हो जाना, इससे भी भयानक कारण है। जिन कन्याओं की कम आयु में ही शादी हो जाती है, वे कच्ची आयु में ही माँ बन जाती हैं और बहुत-सी भयानक बीमारियों का शिकार हो जाती हैं : परिणाम यह होता है कि सहस्रों बाल-वधुएँ अपने थोड़े विवाहित जीवन के पश्चात् विवाह-शय्या से उठकर चिता को प्रस्थान करती हैं। क्षय-रोग तथा अन्य रोग उनके जीवन का विनाश कर डालते हैं।

(३) सन्तानोत्पत्ति के समय कभी-कभी अशिक्षित और गँवार दाइयों की सहायता ली जाती है। ये दाइयाँ सन्तानोत्पत्ति में गलत और हानिकारक उपायों का प्रयोग करती हैं जो कभी-कभी घातक सिद्ध होते हैं।

(४) हमारे देश में स्त्री-जीवन सस्ता समझा जाता है। अतः स्त्रियाँ अपने स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देतीं।

**Census of India* 1951, Vol. I, Part IA (Delhi, 1953), p. 187.

(५) कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों को वच्चा उत्पन्न होने के कुछ समय वाद ही काम पर जाना पड़ता है जो कभी-कभी उनके स्वास्थ्य को वहुत हानि पहुँचाता है।

(६) हमारे अधिकांश देशवासियों को पेट भर भोजन और पर्याप्त वस्त्र प्राप्त नहीं होते। इतनी निर्धनता के कारण स्त्रियों के रोगग्रसित हो जाने पर उनका उचित रीति से उपचार नहीं हो पाता और धीरे-धीरे श्मसान की ओर प्रस्थान करती जाती हैं।

भारत में वाल-मृत्यु

हमारे देश में वाल-मृत्यु भयानक अवस्था धारण कर चुकी है। संसार भर में सवसे ऊँची वाल-मृत्यु-दर भारत में ही है। सन् १९५१ की गणना के अनुसार, भारत में उत्पन्न होनेवाले वच्चों में से ११.६% एक वर्ष के होने से पहले ही मर जाते हैं।

सन् १९४८ में वाल-मृत्यु दर (१,००० वच्चों पीछे) १३० थी; और १९५१ में यह घटकर ११६ हो गई। अर्थात् इस दिशा में सुधार हो रहा है। पर वाल-मृत्यु दर का ११.६% होना वहुत चिन्ता की वात है। अन्य देशों में यह दर वहुत कम है। यदि हम एशिया को ही लें, तो लंका में वाल-मृत्यु दर केवल ८४ प्रति हजार है और जापान में यह केवल ५७ प्रति हजार है। इंगलैंड में यह ३०, अमरीका में २९, आस्ट्रेलिया में २५, न्यूजीलैंड में २३ और हालैंड में २२ है।*

चित्र ५—वाल-मृत्यु दर
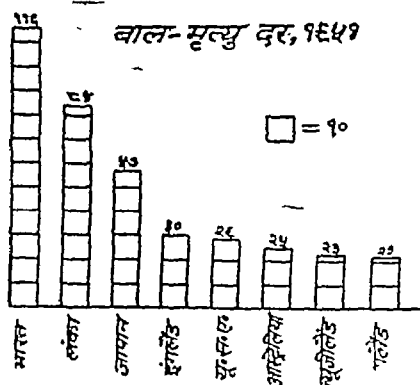
ऊँची वाल-मृत्यु-दर के कारण—भारत में इस ऊँची वाल-मृत्यु-दर के निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) **माता का वुरा स्वास्थ्य**—वहुत-सी माताओं का शरीर अशक्त होता है और वहुत-सी प्रतिकूल वातें उन्हें कमजोर वना देती हैं। किन्तु फिर भी वे गर्भवती हो जाती हैं। फल यह होता है कि माँ की कमजोरी के कारण वच्चा भी कमजोर होता है और एक वर्ष के होने के पहले ही मृत्यु का ग्रास हो जाता है।

(२) **शीघ्र और अधिक वच्चे होना**—भारतीय स्त्रियों के वच्चे अधिक होते हैं; और दो वच्चों के जन्म का मध्यांतर वहुत कम होता है। इस अत्यधिक गर्भ-धारण के कारण वच्चे का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और उसके प्राणों की रक्षा नहीं हो पाती।

(३) **गर्भ के पहले और वाद उचित उपचार का न मिलना**—हमारे देश में माताओं के गर्भ के पूर्व उचित डाक्टरी देख-रेख प्राप्त नहीं होती। वच्चा पैदा होते समय अक्सर दाई व अन्य अनपढ़ स्त्रियों की सहायता ली जाती है जो माँ और वच्चे दोनों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। जन्म के वाद माता तथा वच्चे को उचित डाक्टरी सेवा नहीं मिल पाती। इस कारण भी हमारे देश में वाल-मृत्यु-दर इतनी ऊँची है। भारतीय माताएँ प्रायः मातृत्व के स्वास्थ्य-सम्वन्धी सिद्धान्तों से अपरिचित होती हैं। अनुपयुक्त रीति से दूध पिलाना तथा गलत तरीके से पालन-पोषण करना, वाल-मृत्यु के महत्वपूर्ण

---

*World Health Organization, *Epidemiological and Vital Statistics Report* (Geneva 1954), Vol. 7, No. 1

कारण हैं। डायरिया या दस्त होना—छोटे बच्चे इनसे बहुधा ग्रसित रहते हैं और ये उनके कोमल जीवन के लिए कभी-कभी घातक भी बन जाते हैं।

(४) निर्धनता—जन-समाज की निर्धनता भी एक महत्वपूर्ण कारण है। जिन मनुष्यों को पेटभर खाना और तन ढँकने को कपड़ा नहीं नसीब होता और जो जीवन-पर्यन्त तंग और गंदी कोठरियों में रहते हैं, वे बच्चों का किस प्रकार उचित पालन कर सकते हैं ? वे अपने बच्चों के लिये हृष्ट-पुष्ट होने योग्य भोजन, वस्त्र और वातावरण प्राप्त नहीं कर सकते और जब उनके बच्चे बीमार हो जाते हैं तब उनके पास उनकी चिकित्सा के लिए पैसे नहीं होते और मृत्यु उनके बच्चों को उनकी गोद से छीन लेती है।

(५) माता का काम पर जाना—कभी-कभी माता को कारखाने में काम करना पड़ता है। उन्हें प्रायः सन्तानोत्पत्ति के पूर्व छुट्टी नहीं दी जाती और सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् ही उन्हें काम पर फिर जाना पड़ता है। वे अपनी निर्धनता के कारण कारखाने से अपने को अनुपस्थित नहीं कर सकतीं। कठिन परिश्रम उन्हें अशक्त बना देता है, जिसके फलस्वरूप बच्चा भी कमजोर हो जाता है।

(६) माता का काम-काज में व्यस्त रहना—प्रायः माताओं को घर या कारखाने में काम से इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे अपने बच्चे के लालन-पालन पर आवश्यकतानुसार ध्यान दे सकें। अतः अपने बच्चों को अफीम खिलाकर सुला देती हैं ताकि वे उन्हें तंग न करें। इससे बच्चों का सारा स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और वे अकाल ही काल के ग्रास बन जाते हैं।

§ ४. शिक्षा

भारतीयों की चित्तवृत्ति

व्यक्तियों की कार्यक्षमता बढ़ाने में शिक्षा बहुत सहायक होती है। शिक्षा अंशतः पैतृक होती है और अंशतः प्राप्त की जाती है।

भारतवासी स्वभाव से ही अक्रियात्मक होते हैं। वे दूसरे संसार का अधिक चिंतन करते और ध्यान रखते हैं और आर्थिक उन्नति की उपेक्षा करते हैं। हाँ, राजनैतिक जागृति ने हमारे देशवासियों को चौकन्ना कर दिया है। अब वे समझने लगे हैं कि बिना आर्थिक उन्नति किये स्वतन्त्रता की रक्षा करना असम्भव है और संसार में रह कर संसार के वास्तविक सत्यों को समझना और उनके अनुसार चलना होगा। अतः आर्थिक उन्नति के मार्ग में हमारे देशवासियों की चित्तवृत्ति अब अधिक रोड़े न अटका सकेगी।

शिक्षा

हमारे देशवासियों में शिक्षा का बहुत अभाव है और उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध है भी नहीं। प्राथमिक शिक्षा बहुत कम है। केवल एक-तिहाई गाँवों में ही प्राथमिक स्कूल पाये जाते हैं। प्राथमिक शिक्षा केवल थोड़े से म्युनिसिपल बोर्ड और ग्रामीण भागों को छोड़ कर, कहीं अनिवार्य भी नहीं। हमारे देश में प्रति १०० वर्गमील पीछे एक मिडिल स्कूल, प्रति ३१५ वर्गमील पीछे एक हाई स्कूल और प्रति ९,००० वर्गमील पीछे एक कालेज है। ऐसी दशा में हमारे श्रमिकों की मानसिक कार्यक्षमता का कम होना स्वाभाविक ही है, किन्तु बिना इस कमी को दूर किये उनकी कार्यक्षमता बढ़ नहीं सकती।

सारांश

१. भारत की जनसंख्या लगभग ४४ करोड़ है। इसमें १.२% की दर से प्रति वर्ष वृद्धि हो रही है। भविष्य में यह अधिक गति से बढ़ेगी। भारत में जनसंख्या का आधिक्य है।

२. भारत में जनसंख्या के घनत्व में राज्यात्मक विभिन्नता है। इसके कारण हैं भूतल के लक्षण, वर्षा, सिंचाई, मिट्टी की किस्म, जलवायु, सुरक्षा, आवास-प्रवास, आर्थिक उन्नति का सोपान तथा औद्योगिक उन्नति।

३. भारत में जन्म दर तथा मृत्यु दर ४० और २७ प्रति हजार हैं। औसत जीवनकाल ३२ साल है। भारत में स्त्री-मृत्यु तथा बाल-मृत्यु की दर ऊँची होने के कई कारण हैं।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी,

1. What are the causes of the rapid growth of population in India ? Is this rapid growth desirable ? (1958).

2. Is the large population of India a source of strength to its eonomy ? (1957).

3. What are the causes of the rapidly growing population of Delhi in recent years ? What are the problems created by this growth ? Suggest remedies. (1956).

4. Is the large population of India a source of strength or weakness for Indian economy ? (1955).

5. Is it correct to say that high birth rate is the main cause of poverty in India ? If so, what measures would you suggest to reduce it ? (1954).

पंजाब, इन्टर

6. What are the factors which determine regions of high and low density of population in India ? Is there any relationship between density and prosperity of population ? (1958).

7. Comment on the main features of the population situation in India. (1956).

8. Account for the rapid growth of population in India since 1921. Is such a high rate of increase desirable (1955).

9. Give approximately total area and total population of Punjab (I) (1955).

10. Consider the effect of Partition of Punjab on the distribution of population between rural and urban areas. (1954).

जम्मू एन्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

11. Write a note on the growth of population in India since 1921. (1955).

12. Write out India's population in 1951. (1955).

13. What is the population of India ? At what rate has the Indian population increased per decade since 1911 ? Do you think we are increasing too fast ? Give reason. (1954).

14. Explain the varrying density and distribution of population in India and give the importance of the variation. (1952).

15. Write a note on density of population in India. (1951).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्‌स

16. Explain why certain parts of India are thickly and others sparsely populated ? (1957).

17. Write a note on the factors on which the total population of India depends. (1956).

पटना, इन्टर आर्ट्‌स

18. Write a note on the high rate of infant mortality in India. (1956).

19. Discuss the main characteristics of the population of Bihar as revealed in recent census operations. What factors have influenced the distribution of population between the various parts of the State. (1956).

20. Is India overpopulated ? Account for the varying density of population in different parts of the country. (1954).

उस्मानिया इन्टर आर्ट्‌स

21. Is India over-populated ? What remedies do you offer to solve the problem ? (1951).

अध्याय ६

भारत में सिंचाई

कृषि की सफलता के लिए पर्याप्त मात्रा में जल की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि भारत की कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था में वर्षा का इतना ऊँचा स्थान है। किन्तु हमारे देश में वर्षा की मात्रा, समय और स्थान सभी अनिश्चित होते हैं। अतः उसके आधार पर स्थायी कृषि की नींव नहीं डाली जा सकती। इस कमी को दूर करने के लिए प्राचीन काल से ही मनुष्य खेत की कृत्रिम रीतियों द्वारा सिंचाई करते रहे हैं और अब सारे देश भर में खेतों की सिचाई एक सामान्य बात हो गई है। सिंचाई के महत्व के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) भारत में बरसात केवल तीन ही महीनों तक सीमित होती है; और इसके अतिरिक्त उसका समय और स्थान भी अनिश्चित होता है। कुछ क्षेत्र तो ऐसे हैं जहाँ वर्षा सर्वदा ही बहुत कम होती है और बिना कृत्रिम सिंचाई के खेती करना असम्भव है। राजपूताना ऐसा ही प्रदेश है। इसके अतिरिक्त कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ किसी-किसी वर्ष वर्षा कम होता है और जिन्हें अकाल का भय बना रहता है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य भारत और मद्रास अकाल-क्षेत्र में आते हैं। ऐसे सारे प्रदेशों में कृषि के लिए या मनुष्यों का अकाल से बचाने के लिए सिंचाई नितांत आवश्यक है।

(२) हमारे देश में कुछ फसलें ऐसी भी हैं जिन्हें काफी पानी काफी समय तक बराबर चाहिये। इतना पानी वर्षा द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता और सिंचाई का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए, धान और गन्ना सिंचाई द्वारा उत्पन्न होते हैं।

(३) भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है; और अब दूसरी या जाड़े की फसल उत्पन्न करना आवश्यक हो गया है। किन्तु भारत में जाड़ों में पानी नहीं बरसता। अतः सिंचाई का उपयोग आवश्यक हो गया है।

भारत में सिंचाई के साधन

यदि हम इलाहाबाद को छूती हुई एक रेखा उत्तर से दक्षिण तक खींच दें, तो भारत पूर्वी और पश्चिमी भागों में बँट जाता है। पश्चिमी भाग में सिंचाई बहुत महत्वपूर्ण है और पूर्वी भाग में अपेक्षाकृत बहुत कम। पश्चिमी भारत में जहाँ भी पानी की कमी है

चित्र ६——भारत में सिंचाई के साधन

और बड़ी-बड़ी नदियाँ विद्यमान हैं, वहाँ नहरें बना ली गई हैं। और भी कई नई-नई नहरें बनाने का आयोजन किया जा रहा है। किन्तु नहर के बनाने के लिये बहुत-सा धन चाहिये तथा पानी भी बराबर मिलता रहना चाहिए; और जहाँ भी ये दोनों बातें नहीं पाई जातीं वहाँ कुएँ बना लिये गये हैं। नहरों की अपेक्षा कुएँ बनाने तथा चालू रखने में बहुत कम खर्च होता है। जहाँ नहरें और कुएँ, दोनों में से एक भी नहीं बन सकते, वहाँ तालाब बना दिये गये हैं, जिनमें पानी बरसात में भर जाता है और फिर आवश्यकतानुसार उसको काम में लाया जा सकता है।
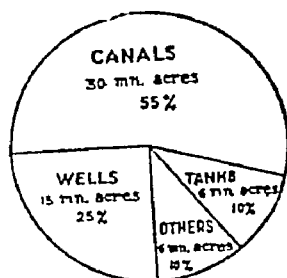
चित्र ७ सिंचाई के साधनों का सापेक्षित महत्त्व

अतः भारत में सिंचाई के तीन प्रमुख साधन हुए—नहर, कुएँ और तालाब। भारत में सन् १९५३ में सिंचाई का लाभ उठाने वाला क्षेत्रफल

सारिणी १४

भारत में सींचे जाने वाला क्षेत्रफल (१९५३)

साधन	सींचे जाने वाला क्षेत्रफल (लाख एकड़)	कुल सींचे जाने वाले क्षेत्रफल का प्रतिशत
१. नहर	२००	४०
२. कुएँ	१३०	२६
३. तालाब	९०	१८
४. अन्य	८०	१६
योग	५००	१००

केवल ५ करोड़ एकड़ था, जो कुल जोते जानेवाले क्षेत्रफल का पाँचवाँ भाग था। सींचे जानेवाले क्षेत्रफल का विभाजन कोष्ठक १२ में दिखाया गया है।* इससे स्पष्ट है कि सींचे जानेवाले क्षेत्रफल का ४% भाग नहरों द्वारा, २६% भाग कुओं द्वारा, १८% भाग तालावों द्वारा, तथा शेष १६% भाग अन्य साधनों द्वारा सींचा जाता है। पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई पर विशेष जोर दिया गया; और सींचे जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल सन् १९५५–५६ में ५६२ लाख एकड़ और १९६०–६१ में ७०० लाख एकड़ हो गया। आशा है कि सन् १९६५–६६ में यह ९०० लाख एकड़ हो जायगा।

§ १. भारत में कुएँ द्वारा सिंचाई

वैसे तो कुएँ द्वारा सिंचाई समस्त भारत में की जाती है, पर उत्तर प्रदेश में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उत्तर प्रदेश में ११ लाख से अधिक कुएँ काम में लाये जाते हैं। दूसरा नम्बर मद्रास का आता है, जिसमें ६॥ लाख कुएँ पाये जाते हैं। पंजाब, बम्बई, मध्य प्रदेश और राजपूताना क्रमशः इसके बाद आते हैं।

*Source: Ministry of Information and Broadcasting, *India* (Delhi 1953), p. 246

हमारे देश में जहाँ भी अनुकूल दशाएँ विद्यमान हैं, वहीं पर कुएँ खोद दिये गये हैं। जहाँ भी भूमि मुलायम है और पानी कम निचाई पर है, वहीं पर कुएँ पाये जाते हैं। पानी कम निचाई पर मिलने से यह लाभ होता है कि कुआँ कम गहरा होता है और इनको खोदने तथा बनाने में कम खर्चा होता है; इसके अतिरिक्त पानी खींचने में भी कम समय लगता है। मुलायम मिट्टी आसानी और शीघ्रता से खोदी जा सकती है। इन दोनों दृष्टि-कोणों से दोमट मिट्टी (Alluvial soil) बहुत अच्छी होती है। इसे आसानी से खोदा जा सकता है और इसमें पानी थोड़ी ही निचाई पर मिल जाता है। कपासवाली काली मिट्टी बहुत घनी होती है; इस कारण उसके अन्दर खोदे गये कुओं की बहुत समय तक मरम्मत नहीं करानी पड़ती।

कुएँ बनाने की आदर्श अवस्थाएँ गंगा के मैदान में मिलती हैं, और इसलिये यह क्षेत्र कुओं के लिए भारत में सबसे प्रमुख क्षेत्र है। मुख्यतया पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बहुत से कुएँ हैं। बनारस से लेकर दिल्ली तक का सारा क्षेत्रफल कुओं से चलनी की तरह छिदा हुआ है। कपास की काली मिट्टी वाला क्षेत्र भी कुओं के लिए प्रसिद्ध है। बिहार और आसाम में काफी कुएँ हैं।

उत्तर प्रदेश में कुएँ

ऊपर बताया जा चुका है कि उत्तर प्रदेश में कुएँ अन्य राज्य के मुकाबले में सबसे अधिक हैं।

साधारण कुएँ—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उत्तर प्रदेश में कुओं की संख्या अन्य सब राज्यों की अपेक्षा सबसे अधिक है। बनारस से लेकर दिल्ली तक सारे क्षेत्रफल में कुएँ ही कुएँ हैं। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बहुत-से कुएँ खुदे हैं। योजना के दूसरे वर्ष में ही वहाँ १२,००० कुएँ खुदे हैं।

नलकूप (Tube Wells)—हाल में ही ट्यूब के कुएँ चल जाने से उत्तर प्रदेश में कुएँ द्वारा सिंचाई को बहुत प्रोत्साहन मिला है। बहुत से कुओं को बड़े-बड़े नलकूपों में परिणत कर दिया गया है और उनमें बिजली के पम्प लगा दिये गये हैं। बहुत से नये नलकूप भी बनाये गये हैं। उत्तर प्रदेश में इतने नलकूप का बनना सरकारी दिलचस्पी तथा सहायता का ही फल है।

उत्तर प्रदेश में सरकार ने नलकूपों की एक स्कीम (Ganges State Tube Well Scheme) चलाई है जिसका उद्देश्य पश्चिमी उत्तर प्रदेश की भूमि के नीचे एकत्रित जल को नलकूपों द्वारा सिंचाई के काम में लाना है। जिस क्षेत्र में होकर 'गंगा की जल-विद्युत ग्रिड' (Ganges Hydro-electric Grid) गुजरती है, वहाँ बहुत से उपजाऊ खेत हैं। किन्तु नदियों में पानी सीमित होने के कारण नहरों द्वारा उनमें पानी नहीं पहुँचाया जा सकता। यह काम करने के लिए ही नल-कूपों की स्कीम का श्री-गणेश किया गया है। ट्यूब के कुएँ बिजली से चलते हैं। इस स्कीम के अन्तर्गत १,५०० नलकूप कुएँ बन चुके हैं और ये लगभग ७ लाख एकड़ भूमि सींचते हैं।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में बहुत-से नलकूप बनाये गये हैं। अमे-रिका के टेकनिकल सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत भी बहुत से नलकूप बने हैं और बन रहे हैं।

कुएँ द्वारा सिंचाई का भविष्य

कुएँ द्वारा सिंचाई का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। कुओं की सबसे बड़ी अच्छाई इनका सस्तापन है; और बहुत से किसान स्वयं अपने खर्चे से कुएँ बना सकते हैं। फिर

भी सरकार उन किसानों को जो कुएँ बनवाना चाहते हैं, धन-सम्बन्धी सहायता भी देती है; इससे भी कुएँ की सिंचाई को प्रोत्साहन मिल रहा है। नलकूप काम में बहुत अच्छे होते हैं और सस्ते भी होते हैं।

§ २. तालाब द्वारा सिंचाई

भारत में अनेक जगह बरसात का पानी तालाबों में एकत्रित कर लिया जाता है; और फिर बाद को सूखे मौसम में इस पानी का सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाता है। तालाब द्वारा सिंचाई की प्रथा हमारे देश में प्राचीन काल से चली आई है। मध्य और दक्षिणी भारत में बहुत से तालाब मिलते हैं। इन क्षेत्रों में नहरें नहीं बनाई जा सकतीं, क्योंकि एक तो वहाँ की नहरें गर्मी में सूख जाती हैं और दूसरे वहाँ चट्टानों और पथरीली भूमि होने के कारण खुदाई करने में बहुत कठिनता होती है। वहाँ कुएँ भी नहीं खोदे जा सकते क्योंकि भूमि पथरीली होती है और पानी की सिंचाई गहरी है। मध्यदक्षिण पहाड़ी और टूटी-फूटी भूमि में तालाब आसानी से बन सकते हैं। बहुत-से पुराने तालाब प्रयोग में न आने के कारण टूटे-फूटे पड़े हैं, जिनका पुनरुद्धार किया जा रहा है। यह नीति बहुत अच्छी है और इसका पालन करना आवश्यक है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत तालाबों के निर्माण और रक्षा का काम जोरों से जारी है।

§ ३. नहरों द्वारा सिंचाई

देश में सिंचाई का सर्व-प्रमुख साधन नहरें हैं। नहरें बनाने में बहुत धन लगाना पड़ता है जो किसानों के वश की बात नहीं। अतः नहरें सरकार स्वयं बनवाती है। ब्रिटिश सरकार को हमारे देश में सबसे पहले नहरें बनवाने का श्रेय प्राप्त नहीं, क्योंकि हमारे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने भी कुछ नहरें बनवाईं। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने नहरों पर विशेष जोर दिया और आज भारत में संसार में सबसे शानदार नहर-प्रणाली पाई जाती है। भारत की सब नहरों की लम्बाई ६०,००० मील है। इतनी लम्बी नहरें अन्य किसी देश में नहीं। हमारी नहरों में ८० करोड़ रुपये से अधिक रुपया लगा हुआ है।

बरसाती (Inundation) तथा अक्षय (Perennial) नहरें—नहर दो प्रकार की होती हैं: बरसाती और अक्षय। बरसाती नहरें नदियों में से निकाली जाती हैं और उनके उद्गम स्थान पर कोई बाँध नहीं बनाया जाता। अतः जब तक नदी में पानी की सतह एक खास ऊँचाई तक नहीं पहुँचती, तब तक ऐसी नहरों में पानी नहीं आता। उनमें पानी तभी आता है जब नदियों में बाढ़-सी आ गई हो, कम पानी होने पर नहीं। अक्षय नहरें उन नदियों से निकाली जा सकती हैं जिनमें वर्ष पर्यन्त पानी भरा रहता है और इन नहरों के उद्गम स्थान पर एक बाँध बना दिया जाता है। पानी, जब भी आवश्यकता हो, नदियों से नहरों में लाया जा सकता है, और जितने पानी की जरूरत हो उतना पानी दिया जा सकता है। अतः यदि नदी में पानी की सतह कम भी हो तब भी नहर में पानी की सतह ऊँची हो सकती है। उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब की नहरें इसी प्रकार की हैं।

नहरों का वितरण (Distribution)

भारत की अधिकांश नहरें पंजाब या उत्तर प्रदेश में पाई जाती हैं। इसके निम्न-लिखित भौगोलिक कारण हैं:

(१) गंगा आदि तथा उनकी सहायक नदियों में पर्वतों पर जमे हुए बर्फ के पिघलने से साल भर पानी आता रहता है। अतः वे नहरों को सर्वदा पानी दे सकती हैं।

(२) इन राज्यों की नहरों का वितरण (Distribution) भी बहुत अनुकूल है। उदाहरण के लिए पंजाब की नदियाँ खुले हुए हाथ की उँगलियों की भाँति फैली हुई हैं; अतः पंजाब के किसी भाग में आसानी से सिंचाई की जा सकती है। इन राज्यों में भूमि की सतह एक-सी और मिट्टी मुलायम होने के कारण नहरों के बनाने में बहुत सुविधा भी होती है।

(३) दोमट मिट्टी पानी की प्यासी तो अवश्य होती है पर यदि इसे पानी मिल जाय तो यह उपजाऊ होने के कारण अच्छी फसलें उत्पन्न करती है। वास्तव में नहरों की लागत व्यापारिक फसलों पर पानी का कर लगाकर बहुत अच्छी तरह वसूल की जा सकती है।

हम नीचे विभिन्न राज्यों में प्रधान सिंचाई-निर्माणों द्वारा सींचा जानेवाला क्षेत्रफल दिखाते हैं। इससे मालूम होगा कि देश के पाँच प्रमुख सिंचाई के लिये प्रसिद्ध राज्य हैं

सारिणी १५

राज्यों में प्रधान सिंचाई-निर्माणों द्वारा सींचा जाने वाला क्षेत्रफल

राज्य		चेसीं जानेवाला क्षेत्रफल (लाख एकड़)
(१)	पंजाब ..	६५
(२)	उत्तर प्रदेश ..	६२
(३)	आन्ध्र प्रदेश ..	२९
(४)	बिहार ..	१०
(५)	मद्रास ..	८
(६)	पश्चिमी बंगाल ..	८
(७)	मध्य प्रदेश ..	४
(८)	महाराष्ट्र ..	३
(९)	केरला ..	३
(१०)	मैसूर ..	३
(११)	राजस्थान ..	१
(१२)	गुजरात ..	.७
(१३)	काश्मीर ..	.२

पंजाब, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, बिहार तथा मद्रास। हम नीचे उन सिंचाई-निर्माणों की चर्चा करेंगे जो पूरी हो चुकी हैं।

उत्तर प्रदेश की नहरें

प्रमुख नहरें—नहरों के दृष्टिकोण से उत्तर प्रदेश का नम्बर दूसरा आता है।
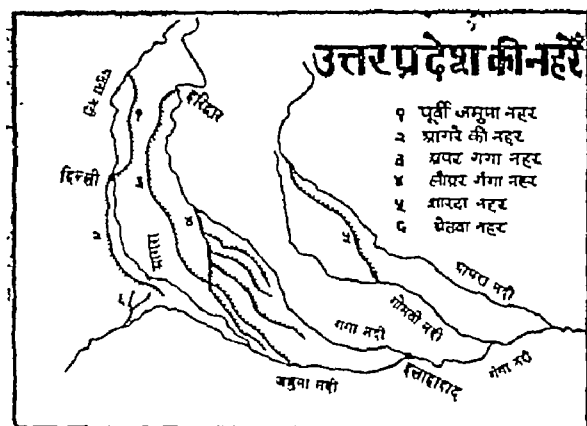
चित्र—८

उत्तर प्रदेश की समस्त नहर अक्षय (perennial) हैं। उनमें से कुछ का वितरण बगल के चित्र में दिखाया गया है। ये नहरें पूर्वी यमुना नहर (Eastern Jamuna Canal), आगरा नहर (Agra Canal), अपर गंगा नहर (Upper Ganges Canal), लोअर गंगा नहर (Lower Ganges Canal), बेतवा नहर और शारदा नहर (जो गोमती और घाघरा को मिलाती है) हैं।

(१) गंगा नहर—यह राज्य की सबसे पुरानी नहरों में से एक है और सन् १८९१ में पूरी हुई। यह १७ लाख एकड़ भूमि को पानी देती है।

(२) आगरा नहर—यह भी सन् १८९१ में पूरी हुई। पर यह अपेक्षाकृत छोटी है और ४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करती है।

(३) लोअर गंगा नहर—यह भी १८९१ में बन कर तैयार हुई और १२ लाख एकड़ की सिंचाई करती है।

(४) बेतवा नहर—यह १८९३ में पूरी हुई और २ लाख एकड़ भूमि को पानी पहुँचाती है।

(५) शारदा नहर—यह उत्तर प्रदेश की सबसे बड़ी नहर है और २० लाख एकड़ भूमि को सींचती है। यह सन् १९३० में बन कर तैयार हुई और इसकी लागत ११ करोड़ रु० है।

(६) शारदा नहर विस्तार—यह परियोजना सन् १९५६ में पूरी हुई और २ लाख एकड़ भूमि को पानी पहुँचाती है।

(७) माताटिला (सोपान १)—यह १९५८ में बनी और ३ लाख एकड़ सींचती है।

(८) शारदा नहर जलाशय——यह दो लाख एकड़ भूमि को पानी पहुँचाता है और सन् १९६१ में बन कर पूरा हुआ।

प्रदेश की नहरें

(१) गोदावरी डेल्टा प्रणाली इस प्रदेश की सबसे पुरानी नहर है जो सन् १८९० में बन कर तैयार हुई। यह ११ लाख एकड़ भूमि को सींचती है।

(२) निजाम सागर—१९३१ में बन कर तैयार हुआ और ३ लाख एकड़ को पानी देता है।

(३) K.C. नहर सन् १९५८ में वनी और ३ लाख एकड़ को सींचती है।

(४) गोदावरी (सोपान I) सन् १९५९ में वनी और अभी १ लाख एकड़ से कम भूमि की सिंचाई करती है।

(५) प्रकाशम वैरेज—सन् १९६० में पूरा हुआ। इससे १२ लाख एकड़ को पानी मिलता है। यह इस प्रदेश की सवसे नई और सवसे वड़ी नहर है।

विहार की नहरें

विहार में सवसे वड़ी नहर सोन नहर है जो सन् १८७४ में वनकर तैयार हुई। यह ९ लाख एकड़ को पानी देती है। तव से सिंचाई में कुछ उन्नति नहीं हुई। हाल में इस दिशा में काम हुआ है। कमला नहर (१९५१), मयूराक्षी वाँया किनारा नहर (१९५८), और त्रिवेणी नहर विस्तार (१९५९) इनके उदाहरण हैं। पर ये नहरें छोटी-छोटी हैं।

पंजाव की नहरें

देश के विभाजन के पहले देश भर में सवसे अच्छी नहर प्रणाली पंजाव में थी। किन्तु विभाजन-होने के कारण अव पंजाव में केवल चार नहरें शेष वची हैं :

(१) पश्चिमी यमुना नहर—यह नहर सन् १८८६ में वनी और यह दक्षिणी पंजाव को पानी देती है। यह १० लाख एकड़ भूमि सींचती है।

(२) सरहिंद नहर—यह नहर १८८७ में वनाई गई और सतलज नदी से निकली है। यह लगभग १५ लाख एकड़ भूमि सींचती है।

(३) अपर वारी दोआव नहर—यह सन् १८७९ में वनाई गई। यह रावी नदी से निकाली गई है और अमृतसर आदि जिलों को पानी देती है। यह ८ लाख एकड़ सींचती है।
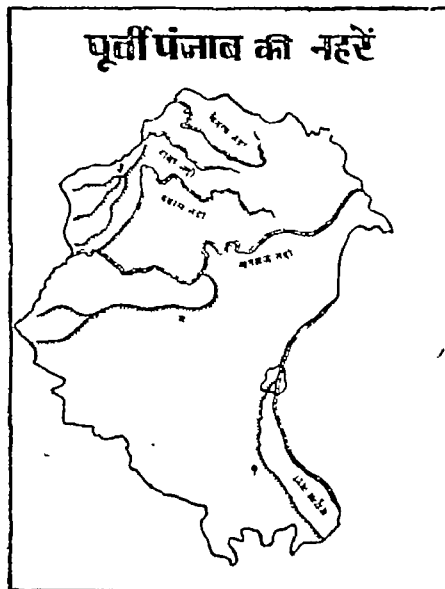
चित्र ९
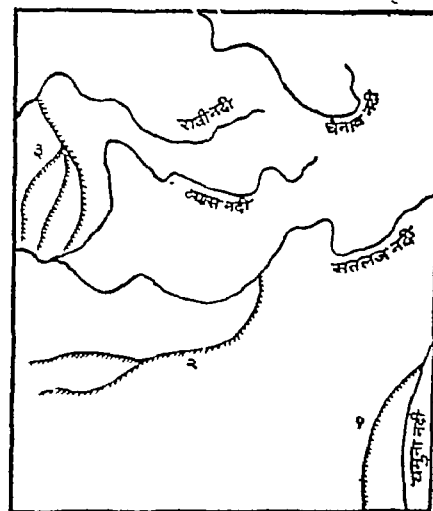
चित्र १०—पंजाव की नहरों का आसान स्कैच

(४) पूर्वी नहर विस्तार (Eastern Canal Extension)—यह सन् १९३३ में बन कर तैयार हुई। इसकी लागत ८ करोड़ रुपये हुई और यह २ लाख एकड़ सींचती है।

(५) पश्चिमी यमुना नहर विस्तार (Western Yamuna Canal Extension)—यह सन् १९४५ में १३ करोड़ रुपये की लागत से तैयार हुई। इसके द्वारा एक लाख एकड़ से अधिक भूमि की सिंचाई होती है।

(६) नन्गल बैरेज (Nangal Barrage)— यह सन् १९५४ में बनकर तैयार हुआ और इससे २८ लाख एकड़ भूमि को पानी मिलता है। इसकी लागत ४ करोड़ रुपये हुई।

मद्रास की नहरें

सामान्यतया दक्षिणी भारत नहरों में गरीब है। इस भाग की सबसे पुरानी और बड़ी नहरें मद्रास में पाई जाती हैं। मद्रास राज्य के उत्तरी भाग में कुछ छोटी-छोटी (Tidal) नहरें अकाल के समय मनुष्यों की सहायता करने की दृष्टि से बनाई गई हैं। पैरियर नहर-प्रणाली (Periyar System) इस राज्य की सबसे पुरानी नहर है जो सन् १८९७ में बन कर तैयार हुई और १ लाख एकड़ से अधिक सींचती है। पैरियर नदी पहले अरब सागर में जाकर गिरती थी। किन्तु अब एक सुरंग बना कर इस नदी का पानी पूर्वी किनारे की ओर मोड़ दिया गया है और अब यह मदुरा के जिले को पानी देता है। सन् १९३४ ई० में राज्य की दूसरी नहर कावेरी मेटूर नहर (Kaveri Mettur Canal) बनकर समाप्त हुई। उसका उद्देश्य है कि कावेरी डेल्टे में अपर्याप्त पानी की मात्रा में वृद्धि की जाय। यह ३ लाख एकड़ की सिंचाई करती है। मद्रास की शेष नहरें नई हैं। जैसे पैरिनचारी (१९५६), लोअर भवानी (१९५६), मैटुर नहरें (१९५७), अरनियार जलकोप (१९५७), कृष्णगिरि (१९५८), अम्रावती (१९५९) आदि। इनमें लोअर भवानी बड़ी नहर है जो २ लाख एकड़ भूमि सींचती है।

पश्चिमी बंगाल की नहरें

पश्चिमी बंगाल की पुरानी नहर दामोदर नहर है जो सन् १९३५ में बनी। इससे २ लाख एकड़ को पानी मिलता है। मयूराक्षी नहर सन् १९६२ में बनकर तैयार होगी और ७ लाख एकड़ सींचेगी।

मध्य-प्रदेश की नहरें

मध्य प्रदेश की प्रमुख नहरें केवल दो हैं : (१) तन्दुला नहर सन् १९२५ में बनी और २ लाख एकड़ सींचती है, और (२) महानदी नहर जो सन् १९२७ में पूरी हुई और यह भी २ लाख एकड़ सींचती है।

महाराष्ट्र की नहरें

महाराष्ट्र की नहरें छोटी-छोटी हैं। इनमें से प्रमुख निम्न हैं—नीरा बांया किनारा नहर (१९०६), प्रवारा नदी नहर (१९११), नीरा दाहिना किनारा नहर (१९३८) और गंगापुर जलाशय (१९५९)।

§ ४. प्रमुख अपूर्ण (या निर्माणाधीन) नहरें

पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ से भारत में बहुत-सी महान् सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण कार्य शुरू हुआ। ये परियोजनाएँ इतनी बड़ी हैं कि वे अभी पूरी नहीं हुईं। इनकी सूची नीचे दी जाती है :

सारिणी १६

अपूर्ण प्रधान नहर परियोजनाएँ

परियोजनाएँ			पूर्ण होने पर अनुमानित लागत (करोड़ रु०)
(अ) जो प्रथम योजना में शुरू हुई			
(१) भाखरा-ननगल (पंजाब-राजस्थान)		..	१७०
(२) दामोदर घाटी (बंगाल-बिहार)		..	१३२
(३) हीराकुड (सोपान १) (उड़ीसा)		..	९३
(४) चम्बल (सोपान १) (राजस्थान-मध्य प्रदेश)			६२
(५) तुंगभद्रा (आंध्र प्रदेश-मैसूर)		..	६०
(६) मयूराक्षी (बंगाल)	..	..	२०
(७) भद्रा (मैसूर)	..	..	३४
(८) कोसी (बिहार)	..	..	४५
(९) ककरापरा नहर (गुजरात)		..	१९
(अ) दूसरी योजना में शुरू हुई			
(१) नर्मदा (गुजरात)	..	..	४३
(२) तावा (मध्यप्रदेश)	..	..	२८
(३) कांगसाबारी (बंगाल)	..	..	२५
(४) तुंगभद्रा (आंध्र प्रदेश-मैसूर)		..	१३
(५) पूर्णा (महाराष्ट्र)	..	..	१३
(६) वामसाधरा (आंध्र प्रदेश)		..	१३
(७) नया खड़गवासला (महाराष्ट्र)		..	१२
(८) गिरना (महाराष्ट्र)	..		१०

इनमें से कुछ का वर्णन हम नीचे देते हैं।

भाखरा-ननगल योजना (पंजाब, राजस्थान)—यह देश की सबसे बड़ी बहु-प्रयोजनीय योजना है। इसके अन्तर्गत सतलज नदी पर भाखरा नामक गाँव में एक बाँध बनाया जा रहा है; और भाखरा बाँध से ८ मील दूर ननगल में भी बाँध बनाया जा रहा है। इसीलिये इस योजना को भाखरा-ननगल योजना कहा जाता है। इस योजना पर सन् १९४६ में ही काम शुरू कर दिया गया था और (भाखरा बाँध तथा शक्तिगृह के अतिरिक्त) समस्त निर्माण-कार्य अब पूरा हो चुका है। सन् १९५९–६० में इसके द्वारा २५ लाख एकड़ की ाई हुई। पूरा होने पर यह ३६ लाख एकड़ को पानी दे सकेगी। इस पर कुल व्यय १७० करोड़ रुपया होगा। इस योजना को पंजाब तथा राजस्थान

चित्र—११ भाकरा ननगल योजना की स्थिति

चित्र १२—हीराकुड और दामोदर घाटी योजना
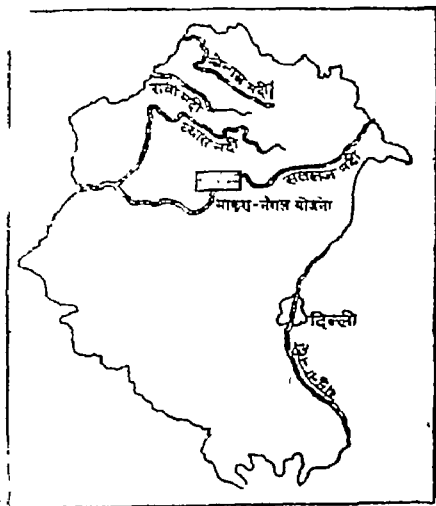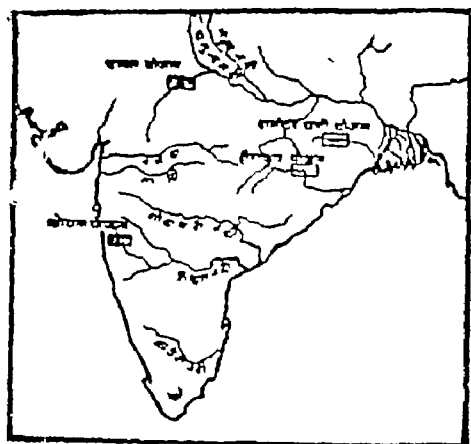
कार्यान्वित कर रहे हैं और इसके लाभों का ये ही राज्य सुख उठावेंगे। सन् १९५४ से सिंचाई का कार्य आरंभ हो गया।

२. हीराकुड योजना (उड़ीसा)—यह योजना उड़ीसा राज्य में है और इसके अंतर्गत महानदी पर संभलपुर शहर से ९ मील उत्तर की ओर निर्माण-कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। इस योजना पर सन् १९४८ से काम चालू है। इस पर कुल ७१ करोड़ रुपया व्यय होगा। काम लगभग ¾ सीमा तक पूरा हो चुका है। इससे लगभग ६ लाख एकड़ की सिंचाई हो सकेगी। खास-खास बांध बन चुके हैं और इस समय ४ लाख एकड़ की सिंचाई हो रही है। नहरें भी बनकर पूरी हो चुकी है।

दामोदर घाटी योजना (बंगाल और बिहार)—दामोदर नदी अपनी विनाशकारी बाढ़ों के लिये देश भर में प्रसिद्ध रही है। किन्तु बिहार और बंगाल की सरकारों ने भारत सरकार की सहायता से इस नदी की घाटी में चार बड़े बांध बनाये हैं जिनमें अतिरिक्त जल एकत्रित कर लिया जाता है और सिंचाई तथा जल-विद्युत् उत्पादन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसका संगठन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के टी० वी० ए० (Tennesse Valley Authority) के आधार पर किया गया है; और जिस प्रकार टी० वी० ए० ने टेनेसी की सूखी घाटी को हरा-भरा और उपजाऊ बना दिया है, वैसी ही आशा डी०वी०ए० (Damodar Valley Authority) से भी की जाती है। यह परियोजना चार जलाशय (तिलैया, कोनार, माईथान और पंचट) का समूह मात्र है; और हर जलाशय पर शक्तिगृह है। तिलैया बांध १९५३ में, कोनार बांध १९५५ में, माईथान बांध १९५७ में और पंचट बांध १९५९ में पूरे हो चुके हैं। इस पर कुल मिलाकर रु० १०५ करोड़ खर्च होंगे।

अन्य परियोजनाएँ—कुछ अन्य परियोजनाएँ निम्नलिखित है: (अ) कोसी योजना (बिहार)—इसे बिहार सरकार बना रही है और इस पर ४५ करोड़ रुपये से अधिक खर्च होगा। यह १४ लाख एकड़ को पानी देगी। (आ) कोयना योजना (महाराष्ट्र, गुजरात)—इस योजना पर ३८ करोड़ रुपये से अधिक रकम लगेगी। इस पर १९५४ से काम जारी है। (इ) चम्बल योजना (राजस्थान तथा मध्यभारत)—इस पर लगभग ५० करोड़ रु० व्यय करने पड़ेंगे। इससे १४ लाख एकड़ की सिंचाई के लिये जल प्राप्त हो सकेगा। सिंचाई का काम कुछ सीमा तक १९६० में शुरू हो गया है। वैसे १९६३-६४ में इसका निर्माण पूरा होगा।

§ ५. पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों का विकास

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों का गति से विकास हो

हो रहा है। जैसा कि बगल की सारिणी से स्पष्ट है, १९५०–६० में सींचे जाने वाले क्षेत्रफल में ३६% की वृद्धि हुई; और तीसरी योजना के अन्तर्गत इसमें २९% की और वृद्धि होने का प्रयास किया जा रहा है। यदि हम विनियोग को लें, तो प्रथम योजना के अंतर्गत सिंचाई पर ३८० करोड़ रुपये लगाये गये; और दूसरी योजना में ३९० करोड़ रुपये। तीसरी योजना में उनपर ६५० करोड़ रुपये का विनियोग और किया जायगा।

वर्ष	लाख एकड़
१९५०–५१	५१५
१९५५–५६	५६२
१९६०–६१	७००
१९६५–६६ (लक्ष्य)	९००

नवीन निर्माणों के विभाग

जयोना के अन्तर्गत सिंचाई के निर्माण कार्यो को तीन विभागों में बांटा गया है—वड़े निर्माण कार्य, माध्यमिक निर्माण-कार्य, तथा छोटे निर्माण कार्य। नल-कूप छोटे निर्माणकार्यों की श्रेणी में आते हैं।

वड़े निर्माण कार्य वे है जिनपर ५ करोड़ रु० से अधिक व्यय होता है। इस श्रेणी में देश के "वहुप्रयोजनीय निर्माण-कार्य" आते हैं जो योजनाओं की देन हैं। वहु-प्रयोजनीय निर्माण कार्य उन योजनाओं को कहते हैं जो सिंचाई के साधन प्रस्तुत करने के अतिरिक्त विजली पैदा करते, बाढ़ रोकते; मनोरंजन के स्थान प्रदान करते तथा अन्य प्रयोजन पूरा करते हैं। इनके तीन विशेप लक्षण हैं: (१) ये वड़े पैमाने पर किये जा रहे हैं। संसार की महान् नदी योजनाओं में इनकी गिनती की जाती है। (२) अक्षय पानी के श्रोत अब काम में लाये जा चुके हैं। अतः इन निर्माणों के अन्तर्गत बरसात का पानी एकत्रित किया जाता है और बाद में उसे काम में लाया जाता है। (३) ये निर्माण-कार्य वहुत से प्रयोजन पूरा करेंगे, जैसे सिंचाई करना, जल विद्युत उत्पन्न करना; बाढ़ रोकना आदि। पंचवर्षीय योजना में चार वहु-प्रयोजनीय योजनायें प्रारम्भ की गई जिनके नाम निम्नलिखित हैं: भाकरा ननगल योजना, हीराकुड योजना, दामोदर घाटी योजना तथा हरीके योजना।

माध्यमिक निर्माण-कार्य वे होते हैं जिन पर १० लाख रुपयें से ५ करोड़ रुपयें तक का खर्च होता है।

छोटे निर्माण-कार्य वे होते हैं जिन पर १० लाख रुपये से कम खर्च होता है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई के वहुत छोटे-छोटे निर्माण-कार्य भी शुरू किये गये हैं। खेती की पैदावार शीघ्र बढ़ाने के लिए इनका निर्माण आवश्यक समझा गया। इन पर खर्च कम होता है; और उनसे सिंचाई के लिये पानी शीघ्र उपलब्ध हो जाता है। अतः इन पर योजनाओं के अन्तर्गत काफी जोर डाला गया है। इस श्रेणी में कुएँ खोदना, तालाव वनाना, नल-कूप वनाना, छोटे नाले वनाना, आदि आते हैं। साधारण कुएँ खोदने का सबसे अधिक काम उत्तर प्रदेश में हुआ।

तालाव और नाले बनाने का काम खासकर पूर्वी राज्यों में हुआ है, प्रधानतया बंगाल और बिहार में। नलकूप खोदने का काम भी जोरों से चल रहा है। सन् १९५३ के अन्त तक उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में १,००० नलकूप खोदे गये। अमेरिका के टेक्निकल सहयोग कार्यक्रम के अंतर्गत ३,००० नल-कूप बनाने का काम भी चल रहा है। इससे प्रधानतया उपरोक्त राज्य ही लाभान्वित होंगे।

दो योजनाओं के अन्तर्गत विकास

प्रथम योजना में विकास—प्रथम योजना में रु० ३८० करोड़ सिंचाई पर व्यय हुए और उसमें सींचे जाने वाला क्षेत्रफल ५१५ लाख एकड़ से बढ़कर ५६२ लाख एकड़ हो गया। इस योजना में बहु-प्रयोजनीय निर्माण-कार्यों पर विशेष बल दिया गया। जो बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ इस योजना-काल में आरम्भ हुई और अब भी अपूर्ण है, उनमें से कुछ के नाम निम्न हैं : भाखरा-ननगल, दामोदर घाटी, हीराकुंड, चम्बल, तुंगभद्रा, मयूराक्षी और कोसी।

दूसरी योजना में विकास—दूसरी योजना में रु० ३९० करोड़ सिंचाई पर व्यय किये गये; और इसके फलस्वरूप सींचा जानेवाला क्षेत्रफल ५६२ लाख एकड़ से बढ़कर ७०० लाख एकड़ हो गया। इस योजना काल में पहली योजना की अपूर्ण स्कीमों का आगे निर्माण किया गया; और उसके अतिरिक्त कुछ नई स्कीमें शुरू की गई। नई स्कीमों के कुछ नाम ये हैं : नर्मदा, तावा, कांगसावटी, तुंगभद्रा। नई स्कीमें प्रथम योजना की महान् स्कीमों की अपेक्षा छोटी हैं यद्यपि इनमें से बहुत से बड़े निर्माण-कार्य की श्रेणी में आती हैं।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में सिंचाई

तीसरी योजना में सिंचाई पर रु० ६५० करोड़ व्यय किया जायगा और इस काल में सींचे जानेवाला क्षेत्र ७०० लाख एकड़ से ९०० लाख एकड़ हो जायगा। इस रकम का खर्च इस प्रकार होगा :

		(करोड़ रु०)
(१) पुरानी स्कीमों पर	....	४७०
(२) नई स्कीमों पर	....	१००
(३) बाढ़ रोकने पर	....	८०
		६५०

पुरानी स्कीमों पर विनियोग के फलस्वरूप १२५ लाख एकड़ की और सिंचाई होने लगेगी। नई स्कीमों में पंजाब में व्यास नदी पर जलाशय की स्कीम तथा उत्तर प्रदेश में गंडक परिनिर्माण शामिल है।

§ ६. सिंचाई के लाभ और हानियाँ

सिंचाई के लाभ

(१) सिंचाई, मानसून के चापल्य (Vagaries) से किसान की सहायता करती है और अकाल को रोकती है।

(२) इसने बहुत से सूखे और रेगिस्तानी प्रदेशों को हँसते हुए खेतिहर प्रदेशों में बदल दिया है। उदाहरण के लिये, पंजाब के बसने और समृद्धिशाली होने वाला श्रेय सिंचाई को ही है। यह मानवीय विकास के नये केंद्र स्थापित करती है और जनसंख्या का वितरण सुधारती है।

(३) सिंचाई के साधन बन जाने से उप-मिट्टी का पानी (subsoil water) ऊपर आ जाता है। साथ ही कुओं का बनाना सस्ता और आर्थिक (economic) हो जाता है।

(४) सिंचाई ने हमारे देश में दो फसलें उत्पन्न करना संभव कर दिया है जो कि हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए बहुत बड़ी बात है।

(५) सिंचाई ने प्रति-एकड़ पैदावार बढ़ा दी है : और क्योंकि खेती की पैदावार एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जाती है, इसलिए इसने यातायात के साधनों को भी प्रोत्साहन दिया है; और खेती के लाभ (Profits) को तो बढ़ाया ही है। सिंचाई ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि की है और हमारे देशवासियों की उन्नति में सहायता पहुँचाई है। सिंचाई का शिक्षात्मक महत्व भी बहुत है क्योंकि यह बताती है कि मनुष्य प्रकृति पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकते हैं।

(६) सिंचाई ने सरकारी आय बढ़ा दी है। जो भूमि अब तक बेकार पड़ी थी, उसकी अब जुताई होने लगी है और सरकार को अब उससे मालगुजारी, पानी के टैक्स तथा अन्य व्यापारिक एवं औद्योगिक करों के रूप में आय मिलती है।

सिंचाई से हानियाँ

सिंचाई से हानियाँ भी होती हैं। ये हानियाँ नहरों के बनने से विशेषकर प्रकट होती हैं। नहरों के बनने से कभी-कभी मिट्टी में पानी की अधिकता (Waterlogging) हो जाती है और कभी-कभी भूमि में कुछ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं। इनके फलस्वरूप बहुत-सी भूमि बेकार हो गई है। पानी की अधिकता हो जाने से मलेरिया तथा अन्य बीमारियाँ फैलने लगती हैं जो सहस्रों व्यक्तियों को मौत के मुँह में ढकेलती और उनसे भी अधिक को अशक्त और अकुशल बना देती हैं।

सरकारी साधन

देश के प्रमुख सिंचाई के साधन सरकारी सम्पत्ति हैं। इन साधनों को उत्पादक निर्माण (Works) और अनुत्पादक निर्माण की श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। दोनों प्रकार के निर्माण मिलकर लगभग ३ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई करते हैं। उत्पादक निर्माण वे कहलाते हैं जो बनने से १० साल के अन्दर ही अन्दर अपनी लागत पर दी जाने वाली व्याज तथा अपने चालू खर्च (Working expenses) देने लायक आय उत्पन्न करने लगते हैं। अनुत्पादक निर्माण इतनी आय उत्पन्न करने में सफल नहीं होते। वे उन क्षेत्रों में बनाये जाते हैं जहाँ सूखा और अकाल का भय बना रहता है, जिससे कि अकाल न पड़े और अकाल के समय सहायता सम्बन्धी व्यय बच जाय। उत्पादक निर्माण ऋण से बनाये जाते हैं। किन्तु अनुत्पादक निर्माण वार्षिक आय तथा अकाल के समय सहायता करने के लिए सालाना ग्रांट से बनाये जाते हैं। हमारे देश के अधिकांश बड़े-बड़े सिंचाई के साधन उत्पादक हैं।

सारांश

भारत में सिंचाई बहुत आवश्यक है। नहर, कुएँ, तालाब आदि सिंचाई के प्रमुख साधन हैं।

१. कुएँ उत्तर प्रदेश में सबसे महत्वपूर्ण हैं। इस साधन का भविष्य उज्ज्वल है। नलकूप लोकप्रिय हो रहे हैं।

२. मध्य और दक्षिणी भारत में तालाब से सिंचाई होती है। पुराने तालाब साफ किये जा रहे हैं।

३. उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास, बम्बई, बंगाल तथा बिहार नहरों के लिये प्रसिद्ध हैं।

४. सिचाई के लिये १५–२० वर्ष की योजना बना ली गई है। प्रथम तथा द्वितीय योजना में सिचाई को बहुत महत्व दिया गया है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकंडरी

1. Why is irrigation important to Indian agriculture? Describe briefly the different kinds of irrigation works in the country. (1958).

What are river valley projects? Name and give the location of some of these projects in India. What benefits are likely to come out of them? (1956).

पंजाब, इन्टर

2. Give approximately the area under irrigation in the Union. (1955).

जम्मू एन्ड काश्मीर, इंटर आर्ट्स

3. What means of irrigation are employed in India and where? Examine the importance of Multipurpose River Valley Projects for the development of irrigation and flood control in India. (1955).

4. Write a note on the importance of irrigation in India. (1951).

5. Point out the importance of irrigation in Punjab and give a brief account of its development in that province. (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

6. Write a note on river valley projects. (1956).

7. Examine the part played by irrigation in India. What are the different forms of irrigation prevalent in India and what do you consider to be their relative importance? (1953).

पटना, इन्टर आर्ट्स

8. What is the importance of irrigation in the Indian economic life? Describe any important river valley project of your state. (1957).

8A. Give an idea of Kosi Development Scheme. How is it likely te benefit the states concerned. (1955).

विहार इन्टर आर्ट्स

9. Indicate the importance of irrigation for Indian agriculture. What are the different sources of irrigation available in India? (1958).

10. Describe the importance of minor irrigation works for agricultural production in Bihar. What policy would you like Government to follow in this connection? (1957).

11. Describe the different types of irrigation works in India. What improvements have been made by the Government in this respect in recent years? (1956, Suppl.)

12. Mention the defects of the system of marketing of agricultural produce in India. How would you remove them? (1955).

13. Describe the irrigation systems of the country. What is the policy of the Government in this respect? (1954, Supple.)

अध्याय ७

भारत में शक्ति (Power) के साधन

जिस प्रकार कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई आवश्यक है, उसी प्रकार औद्योगिक उन्नति के लिए शक्ति आवश्यक होती है। 'शक्ति' का शाब्दिक आशय ताकत या जोर से है; किन्तु अब इसका प्रयोग मशीन चला सकने वाली शक्ति के अर्थ में होने लगा है। उद्योगों की उन्नति दो तात्विक पदार्थों पर निर्भर होती है: शक्ति और कच्चे माल पर। बहुत-सी बड़ी-बड़ी मशीनें, जो मनुष्य या पशु नहीं चला सकते, वे शक्ति द्वारा चालू की जाती हैं। आधुनिक उद्योगों के लिए शक्ति का क्या महत्व है, यह इस बात से जाना जा सकता है कि जिन स्थानों में शक्ति सस्ते दर पर और आसानी से प्राप्त होती है वहाँ उद्योगों का स्थानीयकरण (Localisation) होने लगता है। शक्ति की प्राप्ति केवल बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए ही नहीं प्रत्युत घरेलू उद्योगों के लिए भी बहुत आवश्यक हो गई है। जर्मनी, जापान, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में सहस्रों घरेलू मजदूर, शक्ति के प्रताप से, अपनी झोपड़ियों में, स्त्री-बच्चों के बीच, स्वास्थ्यपूर्ण खुले और सस्ते वातावरण में अपनी जीविका कमाते हैं। कृषि में भी अनेक यंत्र—जैसे ट्रैक्टर, एलीवेटर आदि—शक्ति द्वारा ही चलाये जाते हैं। यातायात के क्षेत्र में भी शक्ति ही चालक बल (Motive Force) प्रदान करती है। हम अपनी आर्थिक प्रणाली में चाहे जिस पहलू पर दृष्टि डालें, हमें शक्ति का महत्व सब ओर महान् ही दिखाई देगा।

हमारे देश में शक्ति के साधन कई हैं। शक्ति का शायद ही कोई ऐसा साधन हो जो भारत में विद्यमान न हो। शक्ति के प्रधान साधन निम्नलिखित हैं: (१) मनुष्य; (२) पशु; (३) वायु; (४) ईंधन; (५) कोयला; (६) तेल; और (७) पानी।

§ १. मनुष्य, पशु, कोयला आदि

मानवीय शक्ति

मनुष्य स्वयं शक्ति का साधन है, यद्यपि मनुष्यजन्य शक्ति की मात्रा बहुत सीमित होती है। किसी भी देश की कुल मानवीय शक्ति का सम्बन्ध उस देश की जनसंख्या और वहाँ के निवासियों की कार्यक्षमता से होता है। भारत की जनसंख्या तो बहुत अधिक है, पर भारतवासी कमजोर होते हैं; अन्य शब्दों में, हमारे देश की मानवीय शक्ति गणना के हिसाब से तो महान् है, किन्तु कार्यक्षमता की दृष्टि से गई-बीती है। हमारे देशवासी इतने निर्धन होते हैं कि उन्हें स्वास्थ्य-वर्धक भोजन, स्वास्थ्यप्रद घर और जीवन की अन्य आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त नहीं होतीं: अतः वे शरीर से बहुत अशक्त होते हैं। देश में फैलनेवाले छोटे और बड़े रोगों के वे आसानी से शिकार भी बन जाते हैं और ये रोग उन्हें और भी अशक्त बना देते हैं। शारीरिक अशक्ति के साथ ही साथ हमारे देशवासी अशिक्षित भी होते हैं और इसलिए उनका बौद्धिक स्तर नीचा होता है। यदि भारतवासी पेट भर भोजन प्राप्त करने में असमर्थ हैं, तो वे शिक्षा प्राप्त करने में और भी असमर्थ हैं। किन्तु जनसंख्या के आधिक्य तथा रहन-सहन के नीचे स्तर के परिणामस्वरूप भारत में श्रम सस्ता है, और यह यंत्रों के प्रयोग में अवश्य बाधक होगा।

पशु-शक्ति

पशु भी शक्ति के साधन हैं; और बहुत से काम—जो मानवीय शक्ति के परे हैं—सम्पन्न कर सकते हैं। हमारे देश में पशु-शक्ति का बड़ी मात्रा में प्रयोग होता है। देश की कृषि-व्यवस्था में गाय और बैलों का महत्वपूर्ण स्थान है : वे पानी खींचने, खेत जोतने, वस्तुएँ लाने-ले जाने तथा अन्य कामों के लिए शक्ति प्रदान करते हैं। हमारे देश में ६ करोड़ बैल हैं जो ३० करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई करते हैं, अनाज को कूटते और उसे बाजार तक पहुँचाते हैं। ऊँट, गधे और खच्चर भी अपने-अपने क्षेत्र में बहुत काम आते हैं।

हमारे देश में पशुओं की संख्या तो अवश्य बड़ी है, किन्तु उनकी अकुशलता भी उतनी ही अधिक है। रायल कमीशन आव एग्रीकल्चर ने ठीक लिखा था कि भारत के गाय-बैल और चाहे किसी बात में पीछे हों, किन्तु संख्या के हिसाब से पीछे नहीं। हमारे पशुओं की अकुशलता के कई कारण हैं। इनम से प्रमुख खाद्य-सामग्री की कमी, नस्ल के सम्बन्ध में असावधानी तथा उनके रहने तथा चिकित्सा आदि के मामलों में अनुपयुक्त प्रबन्ध है। यदि इन बाधाओं को दूर किया जाय, तो हमारे पशुओं की कुशलता काफी बढ़ जायगी।

वायु-शक्ति

मनुष्यों और पशुओं के अतिरिक्त, वायु भी चालक शक्ति का साधन है। पहाड़ के निवासी बहुधा वायु का चालक-शक्ति प्रदान करने के लिए प्रयुक्त करते हैं, और मैदान में रहने वाले भी इसका ऐसा ही प्रयोग करते हैं। पहाड़ी प्रदेशों में अनाज पीसने तथा पानी उठाने के लिए पवन-चक्की का बहुत प्रयोग होता है। मैदानों में किसान हवा से ही अनाज साफ करते है। वे ऊपर से अनाज गिराते जाते हैं और हवा स्वयं उसमें से भूसा आदि अलग करती जाती है।

ईंधन-शक्ति

ईंधन या लकड़ी जलाकर भी बहुधा शक्ति उत्पन्न की जाती है। आजकल हमारे देश में जंगल काफी होने पर भी इस काम के लिए ईंधन का अधिक प्रयोग नहीं होता, क्योंकि यातायात तथा संदेश-वाहन के साधनों का अभाव तथा अन्य कारण जंगलों का पूर्ण रूप से शोषण नहीं होने देते। यदि यातायात के साधन पर्याप्त मात्रा में मिल भी जावें तब भी शायद ईंधन द्वारा हम अपनी आवश्यकता के अनुकूल काफी शक्ति उत्पन्न न कर पावें। आजकल ईंधन अधिकतर घरेलू काम में प्रयुक्त किया जाता है।

इंडस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) ने यह सिफारिश की थी कि लकड़ी के द्रवण (Distillation) करने के व्यवसाय को उन्नत करना चाहिये जिससे कि हमें लकड़ी का कोयला तथा साथ ही साथ कई उप-वस्तुएँ (By-products) जैसे मद्य, टार आदि प्राप्त हो सकें। ये उपवस्तुएँ अच्छे दाम पर बिक सकती हैं, और इसके परिणाम-स्वरूप कोयले पैदा करने की लागत कम हो सकती है।

कोयले की शक्ति

कोयला शक्ति का मूल्यवान साधन है। हम पिछले एक अध्याय में अपने देश में

पाये जाने वाले कोयले के विषय में जिक्र कर चुके हैं। भारतीय कोयले की किस्म खराब होती है और यह कारखानों में प्रयुक्त नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अधिकांश कोयला पूर्वी भारत में पाया जाता है। अतः यातायात की दर ऊँची होने के कारण देश के बहुत से भाग में यह कोयला बहुत तेज पड़ता है। अतः हम कोयले द्वारा काफी मात्रा में अथवा प्रतिस्पर्धित (competitive) लागत पर शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते।

तेल-शक्ति

तेल से भी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। जैसा पहले बताया जा चुका है, हमारे देश में तेल बहुत कम मिलता है। तेल केवल आसाम में मिलता है, और वह भी बहुत सीमित मात्रा में। अतः शक्ति उत्पन्न करने की दृष्टि से हमारे देश में तेल का कुछ भी महत्व नहीं।

§ २. बिजली (Electricity)

उपरोक्त साधनों द्वारा हम पर्याप्त मात्रा में शक्ति प्राप्त नहीं कर पाते। अतः हम बिजली उत्पन्न करके इस कमी को पूरा करते हैं। आजकल (मार्च १९६१) हमारी बिजली उत्पन्न करने की सामर्थ्य (installed capacity) ५८० लाख किलोवाट है, जिसका वर्गीकरण इस प्रकार है:

		(लाख किलोवाट)
(१) पानी की बिजली	...	२१०
(२) भाप की बिजली	...	३४५
(३) तेल की बिजली	...	२५
		५८०

दूसरे शब्दों में, कुल सामर्थ्य का ६०% भाग भाप की बिजली के कारखानों के रूप में, १६% भाग पानी की बिजली के कारखानों के रूप में, और शेष ४% भाग तेल की बिजली के कारखानों के रूप में है।

३३० किलोवाट की सामर्थ्य सार्वजनिक क्षेत्र में है और शेष २५० किलोवाट की सामर्थ्य व्यक्तिगत क्षेत्र में है। सार्वजनिक क्षेत्र में बिजली पानी और भाप, दोनों से ही पैदा की जाती है।

इन तीनों प्रकार की बिजलियों में पानी की बिजली सबसे सस्ती होती है। पानी की बिजली की लागत १.२ नया पैसा प्रति किलोवाट-आवर (kWh) होती है; कोयले की बिजली का ३ नया पैसा प्रति किलोवाट-आवर; तथा तेल की बिजली का २५ नया पैसा प्रति किलोवाट-आवर। अतः डीजिल के शक्तिगृह, अकेले स्थानों में बनाये जाते हैं जहाँ अन्य प्रकार की बिजली उपलब्ध नहीं होती।

बिजली का उत्पादन हमारे औद्योगीकरण के लिये नितान्त आवश्यक है। समस्त बिजली का ⅔ भाग औद्योगिक उपयोगों में व्यय होता है।

पानी की बिजली का महत्व

हमारे देश में जल-शक्ति के साधनों का महान् सम्भाव्य (Potential) है। पानी को शक्ति उत्पन्न करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, इसे जल-शक्ति या

बिजली कहते हैं। जल-शक्ति को बहुत दूर तक ले जाया जा सकता है और इसका आवश्यकतानुसार इच्छित मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है। समस्त संसार में बिजली की बहुत उन्नति हुई है, यहाँ तक कि किसी भी देश में उत्पन्न की जाने वाली जल-शक्ति की मात्रा को उस देश के औद्योगिक विकास का संकेत (index) माना जा सकता है। भारत में बिजली के साधनों की मात्रा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इंडस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) के कहने के अनुसार एक हाइड्रोग्राफिक सर्वे (Hydrographic Survey) किया गया। इस सर्वे से पता चला कि बिजली उत्पन्न करने के साधन हमारे देश में प्रचुर हैं। केन्द्रीय बिजली कमीशन (Central Electricity Commission) की रिपोर्ट (१९५०) के अनुसार भारत में २.५ करोड़ किलोवाट बिजली उत्पन्न करने के साधन (Resources) हैं।[१] वास्तव में, भारत बिजली के मामले में संसार के अग्रगण्य देशों में से एक हो सकता है।

जल-शक्ति के अनेक गुण हैं। पहले यह सबसे सस्ती शक्ति होती है। कोयले, ईंधन या तेल की अपेक्षा, इसकी लागत ७५ प्रतिशत कम होती है। दूसरे, पीछे रह जाने वाला जल (tail water) सिंचाई के काम आ सकता है। तीसरे, तारों द्वारा बिजली दूर-दूर तक आसानी से और सस्ती दर पर पहुँचाई जा सकती है।

वैसे प्रतीत तो यह होता है कि जल-शक्ति की स्कीम भारत में कठिनता से ही कार्यात्मक हो सकती है, क्योंकि उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि बिजली बराबर उत्पन्न होती रहे और मिलती रहे और यह तभी हो सकता है जब कि जलवृष्टि बराबर और लगातार होती रहे, जैसा कि हमारे देश में नहीं होता। भारत में लगभग समस्त वर्षा कुछ ही महीनों में केन्द्रित होती है, और ऐसी नदियाँ, जिनमें साल भर पर्याप्त जल रहता है, कम हैं। किन्तु यह कठिनाई वर्षा ऋतु में जल एकत्रित करके दूर की जा सकती है। विशेषतया पहाड़ी प्रदेशों में, जहाँ पानी बड़ी मात्रा में बरसता है, पानी एकत्रित करने के लिए अनुकूल स्थान आसानी से मिल सकते हैं। इनमें से कई स्थानों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है। जल-शक्ति जहाँ भी प्राप्त हो चुकी है, बहुत सुविधापूर्ण भी प्रमाणित हुई है। अतः जलशक्ति का भविष्य भारत में निस्संदेह उज्ज्वल है। जल-शक्ति की स्कीमों को सिंचाई के साधनों से संयुक्त किया जा सकता है, क्योंकि बिजली की मशीन चला चुकने के पश्चात् जल का सिंचाई के लिए उपयोग हो सकता है।

बिजली के कारखाने

भारत में सबसे अधिक बिजली पश्चिमी बंगाल में उत्पन्न होती है; और उसके बाद महाराष्ट्र, बिहार, मद्रास और उत्तर प्रदेश का नम्बर क्रमशः आता है। नीचे की सारिणी में बिजली उत्पन्न करने की सामर्थ्य का राज्यात्मक विभाजन दिखाया गया है

मोटे तौर पर शक्ति-विकास का ढाँचा इस प्रकार का है :—

(१)	मैसूर, केरल, पंजाब, उड़ीसा, जम्मू-काश्मीर	मुख्यतया पानी की बिजली
(२)	बिहार, पश्चिमी बंगाल और गुजरात	मुख्यतया कोयले की बिजली
(३)	महराष्ट्र, मद्रास, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, आसाम, मध्य प्रदेश, और राजस्थान	दोनों प्रकार की बिजली

---

१ Central Electricity Commission, *Planning for Electric Power Development in India* (1950), p. 6.

सारिणी १७

बिजली की स्थापित सामर्थ्य का राज्यात्मक विभाजन (१९६०–६१ अन्त)

राज्य			लाख किलोवाट
(१) पश्चिमी बंगाल	..	..	९६६.५
(२) महाराष्ट्र	..	..	७८८.५
(३) बिहार	..	..	६४१.५
(४) मद्रास	..	..	५८२.०
(५) उत्तर प्रदेश	..	..	४२३.०
(६) गुजरात	..	..	४०५.०
(७) पंजाब	..	..	३७७.४
(८) मध्य प्रदेश	..	..	३०५.२
(९) आंध्र प्रदेश	..	..	३०३.६
(१०) उड़ीसा	..	..	२८०.६
(११) मैसूर	..	..	२३४.०
(१२) राजस्थान	..	..	१६९.१
(१३) केरल	..	..	१६६.०
(१४) दिल्ली	..	..	८९.०
(१५) जम्मू-काश्मीर	..	..	२६.५
(१६) अन्यान्य यूनियन क्षेत्र		..	११.५
		योग	५७८९.४

(१) पश्चिमी बंगाल में बिजली के कारखाने—

पश्चिमी बंगाल में मुख्यतया कोयले या भाप की बिजली के शक्ति-गृह (thermal power stations) हैं। यह सब राज्यों में बिजली के मामले में अगुआ है। दूसरी योजना-काल में इसे दामोदर घाटी परियोजना, दुर्गापुर भाप-बिजली शक्ति-गृह आदि से भी बिजली मिलना शुरू हो गया।

(२) महाराष्ट्र में बिजली के कारखाने—महाराष्ट्र में बिजली उत्पन्न करने के लिए पश्चिमी घाट सबसे अधिक उपयुक्त है। अतः इस राज्य के सबसे प्रमुख बिजली के कारखाने इसी क्षेत्र में स्थित हैं। इस क्षेत्र में टाटा एण्ड संस, लिमिटेड, ने तीन बिजली के कारखाने स्थापित किये हैं। पहला कारखाना टाटा हाइड्रो-इलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी ने सन् १९१५ ई० में चलाया। यह कारखाना भोरघाट के ऊपर लोनावला (Lonavala) में स्थित है। वर्षा का पानी कई झीलों में एकत्रित किया जाता है और फिर खोपाली को, जहाँ शक्ति-गृह (Power House) है, ले जाया जाता है।

टाटा एण्ड संस ने फिर अनुसंधान के पश्चात् पता लगाया कि आंध्र नदी पर एक ऐसा उपयुक्त स्थान है जहाँ बिजली उत्पन्न की जा सकती है, अतः उन्होंने सन् १९२२ ई० में आंध्र वैली इलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी स्थापित की।

टाटा एण्ड संस की तीसरी योजना का केन्द्र नीलामूला नदी पर स्थित है। यहाँ विजली उत्पन्न करने के लिए सन् १९२७ ई० में टाटा पावर कम्पनी चलाई गई। यहाँ विजली उत्पन्न करके ८० मील तार द्वारा वम्बई तक पहुँचाई जाती है। यही योजना कारखानों, मिलों, रेलों आदि को विजली प्रदान करती है।

ये तीनों कम्पनियाँ एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत, एक इकाई की भाँति काम कर रही हैं। ये मिल कर समस्त ट्रामवेज, वैस्टर्न रेलवे तथा पूना, थाना, कल्यान और वम्बई के उपनगरों (suburbs) के निवासियों को विजली पहुँचाती हैं। मिलों, कारखानों और रेलों को शक्ति दो पैसा प्रति इकाई की दर से दी जाती है, जो वहुत सस्ती है। जैसे-जैसे विजली का अधिक प्रचार होता गया है और माँग वढ़ती गई, वैसे-वैसे विजली का मूल्य और भी कम होता जायगा। दूसरी योजना के अन्तर्गत २१ करोड़ रुपये लगाकर टाटा शक्ति प्रणाली, ट्रामवे की सामर्थ्य वढ़ाई जा रही है।

इनके अतिरिक्त प्रथम योजना के अन्तर्गत दो नई स्कीमों से (चोला और खापरखेड़ा से) भी महाराष्ट्र को विजली मिलने लगी है। ये स्कीमें पहली योजना में ही पूरी हो चुकी हैं। दूसरी योजना में इसे कोयना स्कीम से भी विजली मिलने लगी है।

(३) **बिहार में बिजली के कारखाने**—विजली उत्पन्न करने में विहार का स्थान तीसरा है। यहाँ प्रधानतया कोयले से विजली पैदा की जाती है। प्रथम योजना-काल में बोकारो स्कीम पूरी की गई जिससे इसे विजली मिलने लगी। दूसरी योजना के अन्तर्गत उसे दामोदर घाटी परियोजना, दुर्गापुर कोयला शक्तिगृह, वोकारो विस्तार, आदि से भी विजली मिलना आरम्भ हो गया। इसी योजना-काल में वरौनी भाप शक्तिगृह तथा चंद्रपुर भाप शक्तिगृह भी वनाये जा रहे हैं।

(४) **मद्रास में बिजली के कारखाने**—मद्रास सरकार ने पाईकारा हाइड्रो-इलेक्ट्रिक सन् १९३२ ई० में स्थापित की। इस स्कीम में विजली जिस जल से उत्पन्न की जाती है, वह पाईकारा नदी से प्राप्त होता है। दूसरा महत्वपूर्ण विजली का कारखाना मैटूर हाइड्रो-इलेक्ट्रिक स्कीम के नाम से प्रसिद्ध है और यह १९३६ में वना। मैटूर का वाँध अपनी भाँति का संसार में सवसे वड़ा वाँध है और यह १०० अरव क्यूविक फीट पानी एकत्रित कर सकता है। एकत्रित किया हुआ पानी प्रधानतया सिंचाई के काम आता है, किन्तु इससे विजली भी उत्पन्न की जाती है। मद्रास की तीसरी स्कीम पापनासम स्कीम है जो सन् १९४४ में चालू हुई है। यह पापनासम से टिनावली और मदुरा तक विजली पहुँचाती है, जहाँ यह पाइकारा स्कीम में मिल जाती है।

पहली योजना में इस राज्य में मोयार स्कीम पूरी की गई जिससे विजली मिलने लगी। दूसरी योजना में पैरियर, मद्रास भाप शक्तिगृह, आदि से भी विजली मिलना आरम्भ हो गया।

(५) **उत्तर प्रदेश में बिजली के कारखने**—उत्तर प्रदेश में पानी और भाप, दोनों के ही शक्तिगृह हैं। प्रथम योजना से पहले की प्रसिद्ध परियोजना "हाइड्रो-इलेक्ट्रिक ग्रिड स्कीम" के नाम से प्रसिद्ध है। अपर गंगा कैनाल हरद्वार से निकलती है और हरद्वार से अलीगढ़ तक उसमें १३ झरने हैं। इन्हीं झरनों से विजली उत्पन्न करने के लिए सात कारखाने स्थापित किये गये हैं। इस योजना के अन्तर्गत राज्य के पश्चिमी जिलों को (जैसे सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, अलीगढ़, हाथरस, आगरा, एटा आदि जिलों को) विजली दी जाती है। इस योजना की विशेषता यह है कि यह कृषि प्रधान क्षेत्रों से होकर

गुजरती है और गाँवों को यह न केवल सस्ती विजली देती है पर सस्ता सिंचाई का पानी भी प्रदान करती है। इस क्षेत्र में वे सैंकड़ों ट्यूब वेल्स (Tube Wells) लगे हुए हैं जो विजली से चलते हैं और जिनसे खेती को बहुत लाभ हुआ है।

(६) दूसरी योजना-काल में वनारस इलेक्ट्रिक, लखनऊ इलेक्ट्रिक सप्लाई, युनाइटेड प्राविंसेज इलेक्ट्रिक सप्लाई (इलाहबाद), वरेली इलेक्ट्रिक, आदि का विस्तार आरम्भ हो गया है। इसके अतिरिक्त इस राज्य को रिहंड परियोजना से भी विजली मिलने लगी है पर यह अभी अपूर्ण है। अपूर्ण परियोजनाओं में, जिनसे आगे चल कर विजली मिलेगी, यमुना हाइड्रोइलेक्ट्रिक स्कीम, रामगंगा हाइड्रोइलेक्ट्रिक स्कीम, हरदुआगंज स्टीम स्टेशन, मातातिला हाइड्रोइलेक्ट्रिक स्कीम, आदि, शामिल हैं।

(७) **पंजाब में विजली के कारखाने**—पंजाब में सन् १९३१ में "मंडी प्रोजेक्ट" चालू हुआ। उहल नदी में वर्ष भर पिघले हुए वर्फ का पानी भरा रहता है और यही पानी विजली उत्पन्न करने के काम में आता है। इस योजना की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी जल के साधारण वहाव से ५०,००० अश्वशक्ति उत्पन्न करती है। दूसरी श्रेणी में जल एकत्रित किया जाता है और यह पहली श्रेणी से दुगुनी मात्रा में विजली पैदा करती है। तीसरी श्रेणी में इसी पानी से ५४,००० अश्वशक्ति और उत्पन्न की जाती है।

प्रथम योजना में नन्गल शक्तिगृह पूरा हुआ और इससे विजली भी मिलने लगी। दूसरी योजना-काल में भाखरा-नन्गल परियोजना से भी विजली मिलना आरम्भ हो गया है।

(८) **मध्यप्रदेश में विजली के कारखाने**—मध्य प्रदेश में पानी और कोयले, दोनों से ही विजली पैदा की जाती है। दूसरी योजना-काल में इसे चम्वल परियोजना, कोर्वा भाप शक्तिगृह, आदि से भी विजली मिलना आरम्भ हो गया पर ये परियोजनाएँ अभी अपूर्ण हैं।

(९) **राजस्थान में विजली के कारखाने**—दूसरी योजना-काल में राजस्थान को भाखरा-नन्गल परियोजना, चम्वल परियोजना, राजस्थान भाप शक्तिगृह, आदि से विजली मिलने लगी है, यद्यपि ये परियोजनाएँ अभी पूरी नहीं हुई हैं।

(१०) **मैसूर में विजली के कारखाने**—यहाँ सवसे पहला विजली का कारखाना सरकार ने सन् १९०२ में वनाया। इसका प्रधान उद्देश्य कोलार की सोने की खान को विजली पहुँचाना था। विजली उत्पन्न करने का स्टेशन शिवसुन्दरम है जो कोलार से १२ मील दूरी पर है। वहुत समय तक विजली ले जाने के लिए यह एशिया भर में सवसे लम्वी लाइन रही। सवसे पहली मशीन में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह प्राप्त जल से उत्पन्न की जा सकने वाली अधिकतम शक्ति उत्पन्न कर सके। किन्तु अव नये यंत्र में इतनी सामर्थ्य है। किन्तु इस क्षेत्र में विजली का उपयोग तेजी से वढ़ता गया है, अतः मैसूर सरकार ने दो विजली के कारखाने (शिमसा और जोग नामक स्थानों पर) और स्थापित किये। ये तीनों कारखाने एक दूसरे से संयुक्त हैं।

प्रथम योजना में मैसूर में जोग स्कीम पूरी हुई जिससे विजली मिलने लगी। दूसरी योजना के अंतर्गत तुंगभद्रा, तुंगभद्रा वायाँ किनारा, आदि से भी शक्ति मिलने लगी। इसी योजना-काल में तुंगभद्रा विस्तार, भद्रा, आदि स्कीमों का भी श्रीगणेश हुआ जिनसे भविष्य में शक्ति मिलेगी।

(११) **काश्मीर में बिजली के कारखाने**—देश का दूसरा बिजली का कारखाना काश्मीर सरकार ने ही स्थापित किया।

बिजली उत्पन्न करने का स्टेशन बारामूला (Barahmulla) में है जो झेलम नदी के किनारे स्थित है। अब बारामूला में बिजली है। वहाँ से बिजली श्रीनगर तक ले जाई गई है और बिजली के तार सरकारी सिल्क फैक्टरी में जाकर समाप्त होते हैं, जहाँ बिजली द्वारा मशीन चलाई जाती है और बिजली प्रकाश करने तथा गर्म करने के काम भी आती है

दूसरी योजना-काल में काश्मीर में गंदरबल तथा मोहोरा शक्तिगृह में बनाना आरम्भ किया गया जिनसे आगे चल कर बिजली प्राप्त होगी।

३. पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बिजली का विकास

प्रथम योजना के अन्तर्गत विकास

सन् १९५०-५१ में (जब प्रथम योजना का प्रारम्भ हुआ) देश में बिजली पैदा करने की सामर्थ्य केवल २३ लाख किलोवाट थी। प्रथम योजना में बिजली के विकास पर रु० २०२ करोड़ लगाया गया। इसके फलस्वरूप बिजली पैदा करने की सामर्थ्य बढ़कर ३४ लाख किलोवाट हो गई; अर्थात् उसमें लगभग ५०% की वृद्धि हुई। इस योजना में दो प्रकार के निर्माणों को शामिल किया गया : *(अ)* **बहुप्रयोजनीय योजनएँ** (Multi-purpose Projects) जो बिजली पैदा करने के अतिरिक्त 'सिंचाई के लिए जल देंगे, बाढ़ रोकने तथा और भी प्रयोजन पूर्ण करते हैं; और (आ) **शक्ति योजनाएँ** (Power Projects) जो केवल शक्ति उत्पन्न या वितरित करते है।

(अ) **बहुप्रयोजनीय योजनएँ**—पिछले अध्याय में हम उन बहुप्रयोजनीय योजना क वर्णन कर चुके हैं जो आजकल पूरी की जा रही हैं। उनके स्वभाव तथा उनके विवरण का ज्ञान उपरोक्त स्थान से प्राप्त किया जा सकता है। इनके विषय में जलशक्ति सम्बन्धी बातें हम नीचे देते हैं। **भाकरा-नंगल योजना (पंजाब, राजस्थान)** योजना के अंतिम वर्ष (१९५५–५६) में १ लाख किलोवाट के लगभग जल-विद्युत उत्पन्न करने लगी। गंगवाल शक्तिगृह से बिजली दिये जाने का काम १९५५ के शुरू से होने लगा। **हीराकुड योजना (उड़ीसा)** योजना के अंतिम वर्ष (१९५५-५६) में ५० लाख किलोवाट बिजली मिलने लगी। यह योजना अभी बन ही रही है। पर १९५६ में इसने बिजली उत्पन्न और वितरित करना शुरू कर दिया। **दामोदर घाटी योजना (बंगाल और बिहार)** योजना के *अंतिम वर्ष में २ लाख किलोवाट बिजली पैदा होने लगी। बोकारो पर तीन शक्तिगृह* और तिलैया पर एक शक्तिगृह चालू हो गया। यहाँ से कलकत्ता तथा बिहार में दिवागढ़ तथा रामगढ़ को बिजली पहुँचाई जाने लगी। **हरी के योजना (पंजाब)** योजना पूरी हो चुकी है और इसके द्वारा बिजली दी जाने लगी है। **कोसी योजन** सात भागों में बाँटी गई है जिसमें से केवल पहला भाग प्रथम पंचवर्षीय योजना में पूरा हुआ। **कोयना योजना** का पहला भाग ही पहली योजना में पूरा हुआ।

(आ) शक्ति योजनाएँ *(Power Projects)*

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रायः हर राज्य में ऐसे भी निर्माण किये गये जनका उद्देश्य जल-विद्युत उत्पन्न करना या उसके वितरण का प्रबन्ध करना है। इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं : बिहार में गया और हजारीबाग की बिजली पूर्ति की स्कीम; बम्बई में राधानगरी जल-विद्युत योजना; मध्यप्रदेश में अकोला शक्ति वितरण

योजना; मद्रास में पायकारा योजना, पापनासम योजना और तुंगभद्रा जल-विद्युत योजना; उत्तर प्रदेश में शारदा शक्तिगृह और पथरी शक्तिगृह आदि।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत विकास

दूसरी योजना के अन्तर्गत बिजली के विकास पर रु० ४७५ करोड़ खर्च किया गया। इसके फलस्वरूप बिजली पैदा करने की सामर्थ्य ३४ लाख किलोवाट से बढ़कर ५८ लाख किलोवाट हो गई; अर्थात् उसमें ७०% से अधिक वृद्धि हुई।

काम दो भागों में बांट दिया गया; (१) पुरानी अपूर्ण स्कीमों को पूरा करना। इस वर्ग में भाखरा-नन्गल, दामोदर घाटी, हाराकुड, चम्बल, रिहंड आदि प्रमुख हैं। (२) नई स्कीमें चलाना। नई स्कीमों में यमुना (उत्तर प्रदेश), सर्वयी (मैसूर), कुंडा (मद्रास), चन्द्रपुरा (बंगाल, बिहार), रामगंगा (उत्तर प्रदेश) आदि परियोजनाएं प्रमुख हैं जो अभी अपूर्ण हैं।

तीसरी योजना : भविष्य का कार्यक्रम

तीसरी योजना (१९६१-१९६६) में बिजली पर रु०९२५ करोड़ व्यय होने का आयोजन है। इनके फलस्वरूप बिजली पैदा करने का सामर्थ्य ५८ लाख किलोवाट से बढ़कर ११८ लाख किलोवाट हो जायगी; अर्थात् उसमें १०३% की वृद्धि होगी। धन का विनियोग इस प्रकार होगा:—

	(रु० करोड़)
(१) दूसरी योजना की अपूर्ण परियोजनाओं पर	२३०
(२) नयी परियोजनाएं जो तीसरी योजना-काल में बिजली देने लगेंगी	६२०
(३) नयी परियोजनाएं जो तीसरी योजना-काल के बाद बिजली देंगी	७५
	९२५

§ ४. बिजली की उन्नति के आर्थिक परिणाम

ऊपर के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि हाल में ही हमारे देश में बिजली उत्पन्न करने की दिशा में बहुत उन्नति हुई है। इस सवेग आर्थिक विकास ने हमारे देश की आर्थिक उन्नति पर तात्विक प्रभाव डाला है और कृषि एवं उद्योगों की उन्नति में काफी सहयोग दिया है। इसमें कोई शंका नहीं कि बिजली की उत्पत्ति जितनी ही बढ़ेगी, हमारी आर्थिक उन्नति उतनी ही अधिक होगी।

बिजली की उन्नति से हमारी कृषि को लाभ अवश्य होगा। यदि सस्ती और अच्छी बिजली मिलने लगे, तो वह अशक्त और अकुशल बैलों का स्थानापन्न हो सकती है। बिजली द्वारा कुएं से पानी निकाला जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप सिंचाई सस्ती और आसान हो सकती है। इस प्रकार के विकास एक ओर तो उत्पत्ति में वृद्धि करते हैं और दूसरी ओर उत्पत्ति की लागत कम करते हैं। इस प्रकार किसानों को दो ओर से लाभ होता है। यह निश्चय है कि बिजली के आ जाने से कुछ मजदूर बेकार हो जायेंगे, किन्तु किसानों को जितनी निकट काल में हानि होगी, उससे कई गुना लाभ उन्हें दीर्घकाल में हो जायगा।

बिजली के आ जाने से ग्रामीण उद्योगों को भी बहुत लाभ होगा। ऐसे बहुत से उद्योग हैं जो हमारे गाँवों में चलाये जा सकते हैं किन्तु शक्ति से सस्ते और सुविधापूर्ण

साधन के अभाव के कारण अभी चलाये नहीं गये हैं। बिजली प्राप्त हो जाने पर ऐसे उद्योगों की उन्नति होने में बहुत सहायता मिलेगी। रुई धुनने, तेल निकालने, मूंगफली छीलने आदि ऐसे अनेक उद्योग स्थापित हो सकेंगे और ग्राम निवासियों के सहायक (subsidiary) एवं वैकल्पिक (alternative) पेशे बन जायेंगे। इस प्रकार भूमि पर से जनसंख्या का दबाव कम हो सकेगा। जब ग्रामीण उद्योग स्थापित होने लगेंगे, तब सामान्य उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण (decentralisation) किया जा सकेगा और वर्तमान औद्योगिक केन्द्रों का घनत्व (congestion) कम हो सकेगा।

ग्रामीण और घरेलू उद्योगों के अतिरिक्त बड़े पैमाने के उद्योगों को बिजली से बहुत लाभ हुआ है और होगा। यदि बिजली प्राप्त न होती, तो बहुत से कारखाने जो हमें आज दीख पड़ते हैं स्थापित ही न हुए होते, और शेष कारखाने की उत्पन्न की हुई वस्तुएँ इतनी सुन्दर और अच्छी न होतीं, जितनी कि वे हैं।

सारांश

१. भारत में मानवीय, पशु तथा वायु, ईंधन, कोयला तथा तेल शक्ति का प्रयोग होता है।

२. जल-शक्ति के लिये मैसूर, काश्मीर, मद्रास, उत्तर प्रदेश, पंजाब प्रसिद्ध हैं।

३. प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में जल-शक्ति के लिये एक महान् कार्य-क्रम निर्धारित किया गया।

४. बिजली की उन्नति के आर्थिक परिणाम शुभ होंगे।

परीक्षा-प्रश्न

पंजाब, इन्टर

1. Write a note on Damodar Valley Project. (1958)

2. What is the importance of Hydro-electricity as a source of Power for production in India? Describe the Bhakra-Nangal project. (1956).

3. Write a short note on the benefits that will accrue to Punjab from the Nangal Bhakra Project. Name some of the districts of Punjab that will not benefit from irrigation facilities. (1955).

जम्मू एन्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

4. Have they any large hydro-electric projects in hand in Jammu and Kashmir? Describe these and show how they can increase the economic well-being of the people of the state? (1954)

5. To what extent has the development of hydro-electricity gone in the Punjab? Point out its results. (1953).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

6. Give an account of the present development of hydro-electric-power in India. What would be its effect on the economic life of our country? (1958).

7. What are the principal sources of power in India Bring out the economic importance of water-power and discuss the possibilities of further development. (1957).

8. The natural resources of India are very great. What is required is their proper conservation, development and use. Explain this statement, particularly with reference to water power. (1956)

9. Write a note on the development of hydro electric schemes in India. (1955).

पटना, इन्टर आर्ट्स

10. Describe the principal sources of power available in India. What are the possibilities of developing hydro electric power ? (1958).

11. Write a note on power resources of Bihar. (1956).

विहार, इन्टर आर्ट्स

12. What are the principal sources of power available in India ? What are the possibilities of developing hydro-electric power ? (1957.)

13. Point out the importance of hydro-electricity in the development of industries in India. (1954, Suppl.).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

14. What are the principal sources of motive power in India ? Discuss their relative importance. (1952).

अध्याय ८

भारतीय वन-व्यवसाय

प्रकृति ने वनों के रूप में एक बहुमूल्य उपहार भारत को प्रदान किया है। वन या जंगल देश की प्राकृतिक वनस्पति होती है। प्रारम्भ में पृथ्वी का एक बड़ा भाग जंगलों से ढका हुआ था; किन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई, वैसे ही वैसे जंगल काट डाले गये जिससे कि मनुष्यों के लिये निवास-स्थान प्राप्त किया जा सके। हमारे देश का इतिहास बताता है कि किस प्रकार बहुत काल बीते हमारी भूमि घने और भयानक वनों से ढकी थी और किस प्रकार धीरे-धीरे भूमि को खेती के काम में लाया गया। गंगा के मैदान में तो कोई जंगल रह ही नहीं गया, यद्यपि पहाड़ी और कम घने प्रदेशों में वे अब भी पाये जाते हैं। देश का लगभग एक-चौथाई क्षेत्रफल जंगलों से ढँका हुआ है और उनका आर्थिक महत्व बहुत है।

§ १. भारतीय जंगल

भारतीय वनों को कई भागों में बांटा जा सकता है। नीचे हम एक वर्गीकरण देते हैं :

(१) ज्वार-प्रान्तिक वन (Tidal Fores)
(२) सदावहार वन (Evergreen Forests)
(३) पतझड़ वाले (या मानसून) वन (Monsoon Forests)
(४) पहाड़ी वन (Mountain Forests)

(१) ज्वार प्रान्तिक वन—ज्वार-प्रान्तिक वन (जो चित्र १३ के मानचित्र में ठोस काले रंग से दिखाये गये हैं) उन प्रदेशों में पाये जाते हैं जहाँ कि समुद्र का ज्वार चढ़ आता है। ये नदी के उन डेल्टाओं में पाये जाते हैं जो कुछ काल के लिये नमकीन पानी में डूबे रहते हैं। "सुन्दर वन" इसी प्रकार का है।

चित्र १३—भारत में वनों का वितरण

(२) सदावहार वन—सदावहार वन (जो मानचित्र में खड़ी लकीरों से दिखाये गये हैं) उन प्रदेशों में पाये जाते हैं जहाँ अधिक जलवृष्टि होती है। अतः इनका पश्चिमी घाट और हिमालय प्रदेश में पाया जाना स्वाभाविक ही है। इन पेड़ों की लकड़ी बहुत कड़ी होती है। इनका अभी तक कोई खास रूप से व्यापारिक शोषण नहीं हुआ।

(३) मानसून वन—मानसून वन (जो मानचित्र में तिरछी रेखाओं से दिखाये गये हैं) कम जलवृष्टि के प्रदेशों में पाये जाते हैं। दक्षिणी पठार और उत्तरी-पूर्वी भारत में ये बहुतायत से पाये जाते हैं। मानसून के महीने में, जब जल-वृष्टि बहुत होती है, तब ये खूब उत्पन्न होते हैं। गर्मी के महीनों में ये अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं और इस प्रकार जल को उड़ने नहीं देते। इनमें टीक और साल के वृक्ष सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका महत्व इस बात से भली भाँति जाना जा सकता है कि सरकार ने इनकी रक्षा करने के उद्देश्य से इन्हें "रक्षित वन" की श्रेणी में सम्मिलित कर दिया है।[१]

(४) पहाड़ी वन—पहाड़ी प्रदेशों में पहाड़ी वन पाये जाते हैं (जो कि मानचित्र में लेटी हुई रेखाओं द्वारा दिखाये गये हैं) इनमें से ओक (Oak) की भाँति के पेड़ों की पत्तियाँ चौड़ी होती हैं; और पाइन आदि पेड़ों की पत्तियाँ नुकीली होती हैं। पहाड़ी वन हिमालय प्रदेशों में बहुत मिलते हैं।

§ २. वनों का आर्थिक महत्व

वनों का आर्थिक महत्व बहुत ऊँचा है और वे देश के धन तथा कल्याण की वृद्धि में बहुत सहयोग देते हैं। वे किसानों को वर्षा देते हैं; सरकार को कर; कारखानों को कच्चा माल; ग्रामीणों को ईंधन और चरागाह। उनके लाभ प्रत्यक्ष (Direct) और परोक्ष (Indirect) दोनों हैं।

प्रत्यक्ष लाभ—वनों का प्रत्यक्ष लाभ यह है कि वे बहुत सी प्रधान (Major) और छोटी-मोटी (Minor) वस्तुएँ प्रदान करते हैं।

वनों की प्रधान उपजों में लकड़ी, ईंधन और चारा सम्मिलित किये जाते हैं। वनों में कड़ी और मुलायम लकड़ी उत्पन्न होती है। कड़ी लकड़ी, सुदृढ़ वस्तुएँ जैसे जहाज बनाने के काम आती है; और मुलायम लकड़ी प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तुएँ बनाने के काम। हमारे कृषि-प्रधान देश में ईंधन की पूर्ति (Supply) और भी महत्वपूर्ण है। ईंधन के अभाव में हमारे किसान उपले या कंडे जलाते हैं, जो बहुमूल्य खाद का काम दे सकते हैं। यह सच है कि उपले जलाते समय किसान अपनी समृद्धि जलाते हैं। अभी तक जंगलों में जो कुछ ईंधन पैदा होता है उसे सुसंगठित रूप से एकत्रित और वितरित नहीं किया जाता। वनों से पशुओं को चारा मिलता है। अनुमान लगाया गया है कि भारतीय वनों में प्रति वर्ष लगभग १॥ करोड़ पशु चरते हैं। जंगलों में उत्पन्न होने वाली घास के गट्ठे (bales) भी बनाये जाते हैं जो आसानी से लाये-ले जाये जा सकते हैं और अकाल के समय बहुत काम आते हैं।

जंगलों में उत्पन्न होनेवाली छोटी-मोटी वस्तुएँ अनेक उद्योगों की आधार हैं। हमारे वनों में बाँस, भावर और सवाई घास पैदा होती है, जो कागज बनाने के काम आती है। Pine resin को चमड़ा, साबुन, चिकना कपड़ा और ग्रामोफोन के रेकार्ड बनाने के काम में लाते हैं? तारपीन, वार्निश और पालिश बनाने में प्रयुक्त होता है।

परोक्ष लाभ—वनों के परोक्ष लाभ उनके प्रत्यक्ष लाभ से भी अधिक उपयोगी हैं।

(१) जंगलों के द्वारा बहुत सी नमी निकलकर वातावरण में फैल जाती है, जिसके

---

१ जल का उड़ना या भाप बनना पत्तियों के द्वारा होता है। अतः यदि पत्तियाँ गिर जायें तो जल नहीं उड़ सकता।

परिणामस्वरूप उसका तापक्रम कम हो जाता है। इस प्रकार जलवायु सम (Equable) हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त जब जल से भरी हवाएँ जंगल के ऊपर वाले ठंडे वातावरण में होकर निकलती हैं तब वह भी ठंडी हो जाती है और जल की वर्षा करती हैं।

(२) जंगल वनस्पति का मोल्ड (mould) उत्पन्न करते तथा पत्तियाँ गिराकर मिट्टी को उपजाऊ बना देते हैं।

(३) वे गतिशील हवाओं को रोककर बहुत से प्रदेशों को तेज हवाओं के भय से मुक्त करते हैं।

(४) जंगल पानी के आगमन को समान बनाने, तेज बाढ़ की गति को कम करने तथा नदियों में जल के आगमन को निर्विरोध बनाने का भी काम करते हैं।

(५) वे देश की रक्षा में सहयोग देते हैं और साथ ही साथ मनोहर दृश्य प्रदान करके मनुष्यों की सौन्दर्य-संज्ञा को तेज बनाते हैं।

§ ३. ब्रिटिश शासन में वन-व्यवस्था

वनों के लाभ इतने तात्विक और महान् हैं कि प्रत्येक देश की सरकार उन्हें बहुमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति मानती है और उनकी रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न करती है। सरकार वनों के शासन में जंगलों के अँधाधुंध काटे जाने से रक्षा करने, वैज्ञानिक नियमों के पालन करने और दोबारा जंगल लगाने का ध्यान रखती है। ब्रिटिश शासन-काल में सरकार जंगलों की ओर ध्यान नहीं देती थी और गाँव वाले तथा जंगली जातियाँ उनका जी भर कर विनाश किया करती थीं। बाद को सरकार ने उनको अपने अधिकार में लिया और उनकी रक्षा तथा उनके व्यवस्थित शोषण की ओर ध्यान दिया जाने लगा। सरकार ने सन् १८९४ ई० में अपनी वन सम्बन्धी नीति का प्रतिपादन करते समय वनों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा :

(१) वे वन जिनकी रक्षा करना जलवायु सम्बन्धी तथा भौतिक दृष्टिकोण से आवश्यक है।

(२) वे वन जो व्यापारिक कामों के लिये बहुमूल्य लकड़ी उत्पन्न करते हैं।

(३) छोटे-छोटे जंगल जो मामूली लकड़ी उत्पन्न करते हैं और जो ईंधन, चारा, चरागाह और स्थानीय उपभोग के योग्य वस्तुएँ प्रदान करते हैं।

(४) चरागाह जो वन में शामिल नहीं किये जा सकते।

किन्तु हमारे देश का वन-उद्योग बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में ही रहा। यह इससे जाना जा सकता है कि भारत सरकार समस्त वनों से केवल ५ करोड़ रु० प्रति वर्ष कमाती थी जब कि जर्मनी की सरकार अपने बहुत थोड़े से वनों से ९ करोड़ रुपया प्रति वर्ष कमाती है।

सरकार ने हमारे वनों की रक्षा की ओर ही अधिक ध्यान दिया, उनके उचित शोषण की ओर कम। पतित अवस्था का एक बड़ा कारण यातायात और संदेशवाहन के साधनों का अभाव था। ट्रामवे और सड़कों की जंगली प्रदेशों में बहुत कम उन्नति हुई। फिर, वन-विज्ञान के नियमों का पालन बहुत कम किया जाता था; और दोबारा जंगल लगाने का काम भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। यह भी शिकायत की जाती थी कि फारेस्ट सर्विस में बहुत कम वेतनवाले व्यक्ति थे; और व्यापारिक पहलू को सर्वदा सम्मुख नहीं रखा जाता था।

§ ४ भारतीय वन-व्यवसाय का हाल में विकास

स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भारत सरकार ने देश के वनों के विकास एवं संरक्षण पर गम्भीर ध्यान देना आरम्भ कर दिया। सन् १९५१ से जब कि प्रथम योजना का सूत्रपात्र हुआ इस दिशा में व्यवस्थित कार्य शुरू किया गया।

वन-पदार्थों की माँग में वृद्धि

देश की आर्थिक उन्नति उसके वन-व्यवसाय के सुधार के बिना होना सम्भव नही है। औद्योगीकरण में होने वाली उन्नति का प्रत्येक पर्व वन पदार्थो की माँग में वृद्धि करता है। बहुत से उद्योगों में लकड़ी प्रत्यक्ष रूप से कच्चे माल की भाँति प्रयुक्त होती है। इसके अतिरिक्त कारखानों की इमारत बनाने और निर्मित माल पैक करने में लकड़ी का प्रयोग होता है। संसार के महत्वपूर्ण औद्योगिक देशों में बड़े क्षेत्र में जंगल उपास्थित है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति व्यक्ति पीछे १.८ हैक्टेयर जंगल का क्षेत्रफल है और रूस में ३.५ हैक्टेयर, जब कि भारत में यह केवल .२ हेक्टेयर ही है। इससे स्पष्ट है कि हमारे देश की आर्थिक उन्नति के लिए हमारे वन संसाधनों का शीघ्र विकास नितांत आवश्यक है।

१९५२ की वन नीति

भारत सरकार की वन नीति उसके सन् १९५२ के "वन नीति प्रस्ताव" में पाई जाती है। उसमें निश्चय किया गया है कि भारत की कुल भूमि के क्षेत्रफल का $\frac{1}{3}$ भाग जंगलों के रूप में रखना चाहिये। हिमालय, दक्षिण, और पहाड़ी क्षेत्रों में जहाँ कि भूमि का कटाव होता रहता है, वहां भूमि की रक्षा के लिए लगभग ६० प्रतिशत क्षेत्रफल जंगल के रूप में रखना अभीष्ट होगा। मैदानों में जहाँ कि भूमि चपटी है और साधारणतया भूमि का कटाव चिन्ताजनक नहीं है, जंगलों का क्षेत्रफल २० प्रतिशत हो सकता है। इस प्रस्ताव में वन सम्बन्धी अन्य आदर्श भी स्थापित किये गये हैं। इस नीति को कार्यान्वित करने से देश को लाभ भी हो रहा है।

हाल का विकास

(१) वन-व्यवसाय की योजनात्मक प्रगति—भारत की आर्थिक योजनाओं के अन्तर्गत वनों का काफी विकास हुआ है। प्रथम योजना-काल में जंगलों की उन्नति एवं प्रयोग के ऊपर १ करोड़ रुपया व्यय किया गया, और दूसरी योजना के अन्तर्गत २७ करोड़ रुपये व्यय करने का व्यवधान किया गया है। विकास चतुर्मुखी हो रहा है। जिन क्षेत्रों में जगलों का शोषण निर्दयतापूर्वक हो चुका है, वहाँ अवस्था सुधारी जा रही है। जिन क्षेत्रों मे भूमि कटाव गम्भीर रूप धारण कर चुका है, वहाँ फिर से जंगल लगाने का काम गतिपूर्वक किया जा रहा है। जंगली क्षेत्रों में यातायात के साधन स्थापित किये जा रहे हैं, ईधन की पूर्ति बढ़ाने के लिए पेड़ लगाने का काम किया जा रहा है, अच्छी किस्म की लकड़ियों के पेड़ लगाये जा रहे हैं, और वन-शासन में सुधार किया जा रहा है।

(२) जंगलों के क्षेत्रफल में वृद्धि—हाल में ही देश का जंगलों से ढका हुआ क्षेत्रफल काफी बढ़ाया गया है। सन् १९५०-५१ में यह क्षेत्रफल १५ करोड़ एकड़ था और कुल भूमि का १८ प्रतिशत भाग जंगलो से ढका था। प्रथम योजना के फलस्वरूप जंगलों का क्षेत्रफल बढ़कर कुल भूमि के २२ प्रतिशत के बराबर हो गया है। उनकी

उन्नति बहुत ही संतोषजनक हुई है, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ काम करना अवशेष है। राष्ट्रीय वन नीति प्रस्ताव ने जो लक्ष्य स्थिर किया है, हमें उसे पूरा करना है। दूसरे शब्दों में, जंगलों के क्षेत्रफल को हमें उत्तरोत्तर बढ़ाना है जिससे कालांतर में वह कुल भूमि के ३३ प्रतिशत के बराबर हो जाय।

(३) **संतुलित विकास**—हमारे देश में जंगल प्रधानतया हिमालय, विन्ध्याचल तथा दक्षिणी क्षेत्रों में पाये जाते हैं और सिन्धु-गंगा का मैदान जंगलों से लगभग शून्य है। मैदानों में नदियों के किनारे पर या ऐसे स्थानों में जो खेती के योग्य हैं, जंगल लगाना चाहिये।

(४) **उपज में वृद्धि**—हमारे जंगलों की उत्पत्ति अधिकतर बहुत कम है। वैसे तो उनमें कई किस्मों के पेड़ पाये जाते हैं, परन्तु उनमें से थोड़े से पेड़ों का आर्थिक महत्व होता है। अच्छे प्रकार के पेड़ लगाकर कुछ अन्य उपायों द्वारा इस अवस्था में सुधार किया जा सकता है। दियासलाई की लकड़ी के पेड़ तथा मलाया बेंत के पेड़ इसके उदाहरण हैं।

(५) **वन-यातायात**—बहुत से जंगलों का उचित शोषण इस कारण नहीं हो पाता कि यातायात के साधन उपलब्ध नहीं होते। इस दिशा में भी सुधार के लिए सतत् प्रयत्न किया जा रहा है।

(६) **विवेक से जंगल लगाना**—अब विभिन्न उद्देश्यों को सामने रखकर जंगलों को लगाया जा रहा है। पहाड़ी क्षेत्रों में उनको इसलिए लगाया जा रहा है कि हमारी नदियों का पानी अक्षय रूप से बहता रहे। नदी किनारे और बेकार भूमि पर पेड़ों को इसलिए लगाया जा रहा है, जिससे कि भूमि का कटाव रुक सके। समुद्र के किनारों पर और राजपूताना के रेगिस्तान में उनको इसलिए उगाया जा रहा है कि बालू का हमला रोका जा सके।

(७) **ग्रामीण क्षेत्रों में जंगलों का लगाना**—हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन तथा चारे की पूर्ति के लिए जंगलों को निर्दयता से समाप्त किया जा चुका है। अतः अब नहरों के किनारे-किनारे, ग्रामीण सड़कों के सहारे-सहारे और रेल की पटरियों के साथ-साथ पेड़ों का लगाना आरम्भ हो चुका है। इस दिशा में वन-महोत्सव के कार्यक्रम ने सफलतापूर्वक काम किया है। अब गाँवों में ऐसे पेड़ भी लगाये जा रहे हैं जो ईंधन और चारा प्रदान कर सकें।

(८) **वन उद्योगों में सुधार**—जंगल ऐसे बहुत से उपयोगी कच्चे पदार्थ प्रदान करते हैं जिन पर देश के महत्वपूर्ण उद्योग आधारित हैं। इस प्रकार के कच्चे पदार्थों की पैदावार में सुधार करने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है और उन पर आधारित उद्योगों में भी उन्नति हो रही है। बाँस और सवाई घास कागज बनाने में काम आती हैं। बेंत देश में ही उपयोग कर लिया जाता है। लाख, चमड़ा पक्का करने के पदार्थ, गोंद तथा रेज़िन आदि का देश के अन्दर भी उपयोग होता है और उनका निर्यात भी किया जाता है।

(९) **वन शासन में सुधार**—जंगल राज्य सरकारों के क्षेत्र में आते हैं। वन विकास नीतियों में सामंजस्य लाने के लिये भारत सरकार ने एक अफसर (जंगलों का इन्स्पेक्टर-जनरल) नियुक्त किया है। राज्य सरकारों की वन-सम्बन्धी स्कीमें इन्स्पेक्टर-

जनरल को उसके सुझावों के लिए भेजी जाती हैं; और अंतर्राज्य सम्मेलन भी किये जाते हैं।

(१०) वन अनुसंधान एवं शिक्षा—वन व्यवसाय के सम्बन्ध में शिक्षा देने, काम सिखाने तथा अनुसन्धान करने पर अब विशेष ध्यान दिया जा रहा है। उन्नतिशील वन-व्यवस्था के लिए ऐसा करना नितान्त आवश्यक है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी

1. Discuss the importance of forests in Indian economic life. What steps are being taken to increase the area under forests in the country ? (1954).

पंजाब, इन्टर

2. What is the relation of forests to India's National economy ? What is the forest policy that you would advocate for the country ? 1956.

3. Write a note on Vanmahotsav. (1956).

4. Give the importance of Forests in our economy. Name two states of the Indian Union which have adequate area under forests and two which have not. (1954).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

5. Discuss the importance of forests in the economic life of India. Indicate the forest policy of the Government. (1957).

6. Write a note on economic porentialities of forests in India. 1955).

बिहार, इन्टर आर्ट्स

7. How do forests promote national welfare ? Describe briefly the steps taken by the Government for preservation of forests ? (1958).

8. Give an idea of the forest resources of your country. Discuss their importance in Indian agriculture. (1957).

9. Describe the forest resources of India. What is their utility ? (1954, Suppl).

अध्याय ९

भारत में खनिज पदार्थों की उत्पत्ति

खनिज पदार्थों का आर्थिक महत्व आधुनिक काल में दिन-प्रति-दिन प्रायः प्रत्येक देश में बढ़ता जा रहा है। उद्योग में तो क्या, हमारे रहन-सहन में भी खनिज पदार्थ का उपयोग अधिक होता जा रहा है। आधुनिक औद्योगिक उन्नति के मूल आधार यंत्र और शक्ति हैं जो क्रमशः लोहे और कोयले से उत्पन्न होते हैं। हमारा देश विभिन्न खनिज पदार्थ में धनी है। खनिज पदार्थ पुरानी चट्टानों में मिलते हैं। स्वाभाविक रूप से दक्षिणी भारत में, जहाँ देश की सबसे प्राचीन चट्टान स्थित है, खनिज पदार्थ का बाहुल्य है और उत्तरी भारत जो कि अभी हाल का ही है, खनिज पदार्थ में इतना धनी नहीं।

हाल में देश के औद्योगिक विकास को जो बल दिया गया है, उसके कारण खनिज का महत्व भी बढ़ गया है। आधुनिक उद्योगवाद खनिज और धातुओं की पर्याप्त पूर्ति के ऊपर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए, लोहे के उद्योग की वृद्धि कच्चे लोहे, कोयले, चूने, पत्थर तथा डोलोमाइट की पूर्ति के बिना नहीं हो सकती। इसी प्रकार अल्यूमीनियम उद्योग के विकास के लिए बाक्साइट की पूर्ति का होना आवश्यक है और सीमेंट के उद्योग के लिए चूने का पत्थर, जिप्सम और मिट्टी की पूर्ति में वृद्धि होना आवश्यक है। देश की बढ़ती हुई औद्योगिक उन्नति का भार सम्हालने के लिए देश के खनिज संसाधनों के विकास के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में खनिज के विकास पर ३ करोड़ रुपया व्यय हुआ, दूसरी योजना में ७३ करोड़ रुपये व्यय करने का व्यवधान किया गया है।

§ १. खनिज पदार्थों का भौगोलिक विभाजन और उनकी उत्पत्ति

कोयला

हमारे देश में सबसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ कोयला है। कोयला उद्योगों को शक्ति प्रदान करता है; और लोहा बनाने, कारबोनाइजेशन एवं अन्य उद्योगों में यह कच्चे माल की भाँति भी काम आता है। इस कारण कोयले के व्यवसाय पर सर्वप्रथम ध्यान दिया जा रहा है।

उत्पादन—ब्रिटिश काल में कोयले का सालाना उत्पादन २ करोड़ टन हुआ करता था। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के समय उत्पत्ति विशेष रूप से बढ़ी, पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कोयले की उत्पत्ति बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया गया और सन् १९५०-५१ में इसकी उत्पत्ति ३ करोड़ टन हो गई। इसके पश्चात् ५ सालों में ही इसकी उत्पत्ति ४ करोड़ टन तक बढ़ गई। इसकी उत्पत्ति सन् १९६०-६१ में ५ करोड़ टन की सीमा तक पहुँच जायगी। इस प्रकार कोयले की उत्पत्ति १० सालों में ६६% बढ़ी। तीसरी योजना में यह उत्पत्ति १० करोड़ टन करने का प्रयास किया जायगा।

भौगोलिक वितरण—लगभग सभी भारतीय कोयला, चट्टानों की गोंडवाना प्रणाली से आता है। यह दक्षिण भारत में फैली हुई है और बंगाल तथा बिहार तक पहुँचती है।

कोयला उत्पन्न करने वाला सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र झरिया है जो समस्त भारत में निकाले जाने वाले कोयले का ४० प्रतिशत भाग स्वयं उत्पन्न करता है। इसके बाद रानीगंज क्षेत्र आता है जो समस्त देश की उत्पत्ति का २५ प्रतिशत भाग उत्पन्न करता है। इनके अतिरिक्त मध्य प्रान्त और हैदराबाद में भी कोयले की छोटी-छोटी खानें हैं। चट्टानों की टर्टियारी (Tertiary) प्रणाली में भी कोयला मिलता है। किन्तु कुल उत्पत्ति का केवल २ प्रतिशत भाग ही इन चट्टानों से मिलता है। यह कोयला देश के दोनों किनारों—बंगाल और पंजाब—में पाया जाता है।

नवीन अनुसन्धान—हमें अपने कोयले के संसाधनों का सावधानी से अनुमान लगा लेना चाहिये जिससे कि हमारी भावी आवश्यकताओं की उपेक्षा न हो। इस दिशा में जियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया (Geological Survey of India) और इण्डियन ब्यूरो आफ माइन्स (Indian Bureau of Mines) ने काम आरम्भ कर दिया है। यह पता लगाया गया है कि रानीगंज, झरिया और बोकारो क्षेत्रों में जितना पहले अनुमानित किया गया था उससे कही अधिक मात्रा में कोयले के स्रोत हैं। करनपुर क्षेत्र में कई कोयले की नई सतह खोज निकाली गई हैं। अन्य क्षेत्रों में भूगर्भिक अनुसन्धान किये जा रहे हैं।

कोयला व्यवसाय में सरकार का प्रवेश—भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि भविष्य में कोयले के समस्त नवीन फर्म सार्वजनिक क्षेत्र में हों। इस कार्य पर ६० करोड रुपये की धन-राशि खर्च की जायगी। सरकारी खानों का प्रबन्ध करने के लिए एक नया अफसर "कोल प्रोडक्शन एण्ड डेवलपमेंट कमिश्नर" (Coal Production & Development Commissioner) नियुक्त किया गया है और सरकारी खानों का प्रबन्ध करने के लिए एक नई कम्पनी स्थापित की जा रही है।

लोहा

यह हमारा सौभाग्य है कि हमारा देश लोहे में बहुत धनी है। हमारे देश में लोहे की मात्रा तो प्रचूर है ही, साथ ही साथ उसमें मिलावट बहुत कम होती है। सबसे अधिक लोहा उड़ीसा उत्पन्न करता है। सिंहभूमि, मयूरगंज, बोनाई और क्योंझर लोहे के लिये विख्यात है। उड़ीसा में लोहे को खोदकर निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती; इसे केवल भूमि से बटोर लिया जाता है। लोहे के लिए दूसरा महत्वपूर्ण राज्य मध्य प्रदेश है जिसमें बालाघाट, दुर्ग और चाँदा के जिले लोहे के लिए प्रसिद्ध हैं। मैसूर में भी लोहा मिलता है। हमारी प्रति वर्ष उत्पत्ति लगभग १२० लाख टन होती है।

भारतीय लोहे का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि समस्त एशिया में भारतीय लोहा ही सुविधापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। लोहे का कच्ची अवस्था में निर्यात करना अनार्थिक हो जाता है; और इसलिये इसे 'पिग आयरन' (pig iron) के स्वरूप में बाहर भेजना चाहिये। पंचवर्षीय योजना ने इसी नीति की सिफारिश की है।

हाल में ही कच्चे लोहे की उत्पत्ति बढ़ाने का प्रयास इस देश में किया गया है। यदि उद्योगों को शक्ति प्रदान करने के लिए कोयले की आवश्यकता है, तो उन्हें मशीन प्रदान करने के लिए लोहे की भी जरूरत है। अतः कच्चे लोहे का उत्पादन भी बढ़ाना आवश्यक है। सन् १९५०-५१ में लोहे की उत्पत्ति ३० लाख टन थी। उसके पश्चात् पाँच सालों में इसमें २० प्रतिशत की वृद्धि हुई और इस प्रकार सन् १९५५-५६ में यह बढ़कर ४७ लाख टन हो गई। सन् १९६०-६१ में यह उत्पत्ति १२० लाख टन हो गई। तीसरी योजना में इसे ३२० लाख टन बढ़ाने का प्रयास होगा।

पैट्रोल

कोयले की भाँति पैट्रोल भी विविध उद्योगों को शक्ति प्रदान करता है। भारत पैट्रोल में निर्धन है। हमारे देश में पैट्रोल केवल आसाम में ही पाया जाता है। आसाम राज्य में, डिगबोई में 'शेल' (shale) से कुछ पैट्रोल निकाला जाता है। हमारे देश में तेल साफ करना भी ठीक ढंग से नहीं होता और सारी उप-वस्तुएँ (by-products) प्राप्त नहीं की जातीं।

आधुनिक औद्योगिक जीवन के लिए पैट्रोल एक महान खनिज पदार्थ है; और यह बहुत आवश्यक है कि हमारे कोयले के संसाधनों का पता लगाया जाय और फिर उनका सुव्यवस्थित रूप से विकास किया जाय। अतः देश में तेल सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए भारत सरकार प्रयत्नशील है। जैसलमेर, कैम्बे, ज्वालामुखी क्षेत्रों में कोलम्बो योजना के अन्तर्गत कनाडा से प्राप्त विशिष्टों द्वारा अनुसन्धान का काम किया जा रहा है, और इस काम के लिए १२ करोड़ रुपया खर्च करने का आयोजन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार स्टैंडर्ड वैकुअम आयल कम्पनी के पश्चिमी बंगाल में अनुसन्धान करने के काम में सहयोग दे रही है; और इसी प्रकार आसाम आयल कम्पनी आसाम क्षेत्र के अनुसन्धान में सहयोग प्रदान कर रही है।

मैनगेनीज

बहुत अच्छे और अधिक काम करने वाले लोहे को बनाने के लिए मैनगेनीज का उपयोग किया जाता है। एक समय भारत संसार में मैनगेनीज का सबसे बड़ा उत्पादक था। किन्तु योजनात्मक उन्नति के फलस्वरूप, रूस अब हमसे कहीं आगे बढ़ चुका है। मैनगेनीज मध्य प्रदेश में सबसे अधिक पाया जाता है। बालाघाट और नागपुर इसके लिए विशेषतया विख्यात हैं। बम्बई में भी रत्नागिरी के समीप मैनगेनीज पाई जाती है। हम पहले अमेरिका को बड़ी मात्रा में मैनगेनीज भेजते थे; किन्तु अब यह रूस से मैनगेनीज खरीदता है। अब इंगलैंड और फ्रांस को ही मैनगेनीज का निर्यात करते हैं। हमारी सालाना उत्पत्ति ६ लाख टन के लगभग है।

हाल में ही भारत सरकार ने मैनगेनीज की उत्पत्ति बढ़ाने में उत्साहपूर्वक प्रयास करना आरम्भ कर दिया है। इसकी उत्पत्ति सन् १९५० में ९ लाख टन थी: सन् १९५४ में यह बढ़कर १४ लाख टन हो गई, और आशा की जाती है कि सन् १९६०-६१ में यह २० लाख टन हो जायगी। यह खनिज अधिकतर विदेशों को जाता है और भारत सरकार इसका निर्यात बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है। सन् १९५४-५५ में हमने ९ लाख टन मैनगेनीज का निर्यात किया था और १९६०-६१ में इसका निर्यात १५ लाख टन तक बढ़ा दिया गया। साथ में ही मध्य प्रदेश में मैनगेनीज पाये जाने वाले क्षेत्र में विस्तृत अनुसन्धान किया जा रहा है, जिससे संसाधनों का विस्तृत पता लग सके।

अबरख (Mica)

अबरख पर गर्मी और बिजली का प्रभाव नहीं होता। अतः यह बिजली सम्बन्धी सामग्री बनाने के लिए काम आता है। समस्त संसार में भारत अबरख का उत्पन्न करने वाला सबसे महत्वपूर्ण देश है। बिहार राज्य इसके लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ट्रावनकोर में कुछ नीला अबरख मिलता है।

सोना

संसार के सोने की वार्षिक उत्पत्ति का ५% भाग भारतवर्ष से प्राप्त होता है।

भारतीय सोना लगभग सारा मैसूर रियासत में स्थित कोलार की खानों से निकाला जाता है। किन्तु उनमें से बहुत काल से सोना निकाला जा रहा है; इसलिये बहुत गहरी खुदाई करनी पड़ती है। फिर भी सोना बहुत कम मात्रा में निकलता है।

§ २. वर्तमान विकास और उन्नति

हमने ऊपर विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली उन्नति का जो विवेचन किया है, उससे यह पता चलता है कि देश के खनिज उद्योग को प्रगतिशील और वैज्ञानिक बनाने के लिए उचित प्रयास किया जा रहा है। सरकार की खनिज नीति सामान्यतया ४ मूल विचारों पर आधारित है। पहले, यह बात मान ली गई कि खनिज विकास उत्साह और तेजी से किया जायगा जिससे देश का औद्योगीकरण तीव्र गति से हो सके। दूसरे, खनिज विकास के कार्य करने में कोयले को केन्द्रीय महत्व दिया गया है; और हमारे कोयले के संसाधनों की खोज करने और उनके विकास करने का काम वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप से आरम्भ कर दिया गया है। तीसरे, खनिज उत्पत्ति को सामान्यतया अधिक बढ़ाने की नीति अपनायी गई है और कार्यान्वित की जा रही है। अन्त में, देश के खनिज धन के खोजने और उसका पता लगाने की नीति पर जोर दिया जा रहा है। इस दिशा में Geological Survey of India और Indian Bureau of Mines काम करेंगे और उनको इस काम के लिए ५ करोड़ रुपये क्रमशः दिये गये हैं।

सारांश

भारत में कोयला, लोहा, पैट्रोल, मैंगनीज, अबरख, सोना आदि विभिन्न मात्राओं में तथा विभिन्न भागों में पाया जाता है। भारत सरकार की खनिज नीति इस उद्योग को प्रगतिशील और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न कर रही है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकिन्डरी

1. What are the chief mineral resources of India? Do you think India has enough of these resources for her industrial requirements? (1958).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

2. Give an account of the principal mineral resources of India and point out their utility for its industrial development. (1955).

पटना, इन्टर आर्ट्स

3. Describe the present condition of the coal mining industry in Bihar. (1958).

4. Describe the mineral resources of Bihar. Are they sufficient for the growth of industries in the State? (1957).

5. Examine the richness and deficiency of Bihar in mineral resources suitable for industrial development. (1954).

अध्याय १०

भारतीय कृषि

भारतवर्ष की भौगोलिक अवस्था ने इसे संसार का एक महत्वपूर्ण कृषि-प्रधान देश बना दिया है। हमारे देश के प्रत्येक चार व्यक्तियों में से तीन व्यक्ति कृषि पर निर्भर हैं। प्रत्येक वर्ष लगभग ३२ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। वार्षिक कृषि सम्बन्धी उत्पत्ति का मूल्य लगभग १,००० करोड़ रुपया है।

भारत में भूमि उपयोग

भारत में कुल भूमि का क्षेत्रफल लगभग ८१ करोड़ एकड़ है। इसमें से केवल ३२ करोड़ एकड़ पर खेती होती है। दूसरे शब्दों में, देश की भूमि का केवल ४०% भाग प्रति वर्ष बोया जाता है। नीचे की अनुसूची में भूमि का उपयोग दिखाया गया है। यदि

सारिणी १५

भारत में भूमि उपयोग (१९५५–५६)

उपयोग	करोड़ एकड़
(क) जुताई के लिए प्राप्य भूमि :	
बोया गया क्षेत्रफल	३२
परती भूमि	६
	३८
(ख) खेती के लिए अप्राप्य भूमि :	
जंगलों का क्षेत्रफल	१३
वृक्षों आदि का क्षेत्रफल	१
चरागाह	२
गैर-खेती में प्रयुक्त	३
बंजर भूमि	९
खेती योग्य बेकार भूमि	५
	३४
(ग) वे क्षेत्र जिनके विषय में सूचना नहीं है :	९
योग	८१

हम खेतों का पूरा क्षेत्रफल (अर्थात् बोया गया क्षेत्रफल तथा परती भूमि) को ले लें, तो यह कुल भूमि का ४६% होता है।

भारत की प्रधान फसलें

उपज—नीचे की सारिणी में भारत की प्रधान फसलों की सन् १९५५–५६ में उपज दिखाई गई है।

सारिणी १६

भारत की प्रधान फसलों की उपज

फसल	लाख टन
I. अनाज :	
i. चावल	२६८
ii. गेहूँ	८६
iii. जुआर	६६
iv. दालें	५५
v. चना	५३
vi. अन्य	१२५
	६५३
II. तिलहन	५७
III. गन्ना	६०
IV. कपास	४०
V. सन	४२

फसलों का ढाँचा—भारत में उत्पन्न होने वाली फसलों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) खाद्य फसलें, जैसे गेहूँ, चावल, दाल आदि; और

(२) अन्य फसलें, जैसे चाय और कहवा आदि पेय पदार्थ, तथा कपास और सन आदि कच्चा माल।

खाद्य फसलें अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। कुल जोते जाने वाले क्षेत्रफल का ९० प्रतिशत भाग (३० करोड़ एकड़) खाद्य फसलें उत्पन्न करने में प्रयुक्त होता है और शेष १० प्रतिशत भाग (२ करोड़ एकड़) अन्य फसलें पैदा करने में।

मौसम के हिसाब से फसलों को खरीफ और रबी में बाँटा जा सकता है। खरीफ फसल को बहुत-सा पानी चाहिये और यह वर्षा ऋतु के आरम्भ में बोई जाती है। यह सितम्बर, अक्टूबर या नवम्बर में तैयार हो जाती है। रबी की फसल को अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती। यह अक्टूबर या नवम्बर में बोई जाती है और मार्च या अप्रैल में काटी जाती है।

§ १. भारत में कृषि सम्बन्धी-फसलें

(अ) खाद्य फसलें

कुछ समय से खाद्य फसलों की उपज में वृद्धि करना हमारी सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक समस्या बन गई है। भारत की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है और यह आव-

श्यक है कि अन्नों की पैदावार भी उतनी ही गति से बढ़े। सन् १९५०–५१ में खाद्यान्नों की समस्त उपज ५२२ लाख टन थी। सन् १९५५–५६ में यह बढ़कर ६५८ लाख टन हो गई। दूसरे शब्दों, में ५ वर्ष के अन्दर उत्पादन २० प्रतिशत बढ़ गया। यह वृद्धि काफी अच्छी है। इस कारण इस बात का प्रयत्न बराबर किया जा रहा है कि अन्नों की उपज और अधिक बढ़ायी जाये। सन् १९६०–६१ में इनकी उपज ७५० लाख टन हो गई। इसके फलस्वरूप फी मनुष्य अन्न का उपभोग १७ औंस से बढ़कर १८ औंस प्रतिदिन हो जायगा।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, हमारे किसान अधिकतर खाद्य-फसलें ही उत्पन्न करते हैं। इनमें से चावल और गेहूँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं; और उनके पश्चात् जौ, मक्का, मोटे अनाज तथा दालों का नम्बर आता है। फल और तरकारियों की खेती अधिक लोक-प्रिय होती जा रही है, तथा गन्ने ने अब एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है।

चावल (Rice)—साधारणतया साल में लगभग ६ करोड़ एकड़ भूमि (अर्थात् जोती जानेवाली भूमि को २८% भाग) पर चावल उगाया जाता है और उत्पन्न किये हुए चावल की मात्रा लगभग ३०० लाख टन होती है। इतना बड़ा क्षेत्रफल और किसी फसल के उगाने में नहीं लगाया जाता। भारत की जनसंख्या के एक बड़े भाग के भोजन में चावल का प्रधान स्थान है। इसलिये हमारी अपनी पैदावार इतनी अधिक होने पर भी हमें बाहर से काफी चावल मँगाना पड़ता है। यह आयात १० लाख टन के लगभग होता है।

चावल को बहुत-सी गर्मी और बहुत-से पानी की आवश्यकता होती है। अतः यह देश के गर्म और नम भाग में बहुतायत से उत्पन्न किया जाता है, जैसा कि ऊपर वाले चित्र से स्पष्ट है। पश्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा चावल के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। चावल उत्तर प्रदेश और मद्रास में भी उत्पन्न होता है।

चावल विभिन्न मिट्टियों में और विभिन्न जलवायु में उत्पन्न किया जाता है। इसकी किस्में भी अनेक होती हैं। अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में चावल की प्रति एकड़ पैदावार बहुत कम होती है। चावल की खेती में बहुत उन्नति की आवश्यकता है। यह आवश्यकता अब समझी जाने लगी है। हाल में चावल सम्बन्धी अनुसंधान की एक स्कीम प्रारम्भ की गई है जिसका व्यय सम्बन्धी भार इंडियन काउंसिल आव एग्रीकल्चरल रिसर्च ने लिया है।

यह सन्तोष का विषय है कि हाल में ही चावल की उत्पत्ति में काफी वृद्धि हुई है। सन् १९५०–५१ में चावल की कुल उपज २०० लाख टन थी किन्तु सन् १९५५–५६ में

इसमें ५२ लाख टन वृद्धि हो गई, अर्थात् कुल उपज २५.२ लाख टन हो गई। सन् १९६०–६१ में यह लगभग ३०० लाख टन की सीमा तक पहुँच गई।

गेहूँ (Wheat)—भारत का दूसरा महत्वपूर्ण अनाज गेहूँ है। गेहूँ की उत्पत्ति के लिए लगभग २२ करोड़ एकड़ भूमि (अर्थात् जोती जानेवाली भूमि का १०% भाग) प्रति वर्ष प्रयुक्त होती है और वार्षिक पैदावार लगभग १०० लाख टन होती है। गेहूँ को कम पानी और ठण्डी जलवायु चाहिये। अतः भारत में यह जाड़ों में उत्पन्न होता है जब कि ये अवस्थाएँ विद्यमान होती हैं। जैसा कि बगल के चित्र में दिखाया गया है, पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश गेहूँ उत्पन्न करने वाले सबसे प्रमुख राज्य हैं। समस्त देश में उत्पन्न होनेवाले गेहूँ का ७५% भाग इन दोनों राज्यों में पैदा होता है। मध्य प्रदेश में भी गेहूँ उत्पन्न होता है।
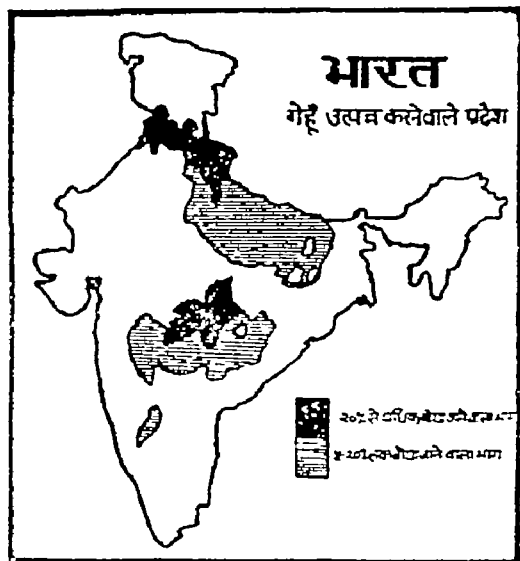
देशी गेहूँ की किस्म खराब होती है। गेहूँ काटने, पछारने आदि की रीतियाँ इतनी खराब होती हैं कि उसमें मिट्टी तथा अन्य मोटे अनाज मिले रहते हैं। गेहूँ की किस्म में सुधार करने की चेष्टा की जा रही है। कई कृषि कालेजों तथा इंडियन रिसर्च इंस्टीट्यूट में इस उद्देश्य से प्रयोग किये जा रहे हैं। सरकार ने भी गेहूँ सम्बन्धी समस्या पर सोच-विचार करने के लिये एक स्थायी कमेटी नियुक्त कर दी है। अच्छे प्रकार का गेहूँ अब उत्पन्न किया जाने लगा है और लगभग ५० लाख एकड़ भूमि अच्छा गेहूँ उत्पन्न करती है। गेहूँ के वर्गीकरण (grading) में भी उन्नति की गई है और पूसा ८, लायलपुर ५ तथा कानपुर ४ काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं।

स्वेज नहर खुलने के पश्चात् भारत से गेहूँ का काफी निर्यात होने लगा था। पर धीरे-धीरे प्रत्येक देश ने गेहूँ उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया और भारत की स्वयं जनसंख्या बढ़ती गई। अतः कुछ काल बाद भारत गेहूँ का निर्यात तभी करता था जब कि विदेशी मूल्य बहुत ऊँचा होता। उसके कुछ वर्षों बाद भारत ने गेहूँ का बराबर आयात करना आरम्भ कर दिया। बिना आयात किये अब हमारे देश-वासियों का जीवित रहना कठिन है।

आवश्यकता इस बात की है कि गेहूँ की खेती में सुधार और वृद्धि की जाय जिससे हम गेहूँ में आत्म-निर्भर हो जायँ।

हाल में गेहूँ की उपज में काफी वृद्धि हुई है। सन् १९५०–५१ में गेहूँ की उपज केवल ६४ लाख टन ही थी। किन्तु सन् १९५५–५६ में यह बढ़कर ८६ लाख टन हो गई। इतनी वृद्धि काफी माननी चाहिये। निकट भविष्य में और भी उन्नति होने की आशा है। सन् १९६०–६१ में यह बढ़कर १०० लाख टन हो गई।

जौ (Barley)—जौ भी गेहूँ की भाँति जाड़े की फसल है और गेहूँ के साथ ही उत्पन्न किया जाता है। यह सस्ता अनाज है और इसे गरीव लोग खाते हैं। अतः यह सभी राज्यों में उत्पन्न किया जाता है। फिर भी उत्तर प्रदेश, विहार और उड़ीसा इसके लिए सवसे अधिक प्रसिद्ध हैं। जौ का निर्यात नहीं होता।

मक्का (Maize)—मक्का चावल की भाँति गर्म और नम जलवायु में उत्पन्न होता है। यह उत्तरी भारत में—मुख्यतः उत्तर प्रदेश, विहार और उड़ीसा में—होता है। यह खाया जाता है, और अधिकतर जहाँ उत्पन्न किया जाता है वहाँ इसका उपभोग भी किया जाता है।

मोटे अनाज (Millets)—मोटे अनाजों को गरीव लोग और जानवर खाते हैं। इनमें जुआर और वाजरा मुख्य हैं। जुआर को वाजरा की अपेक्षा अधिक उपजाऊ भूमि चाहिये। इनकी उत्पत्ति भूमि की किस्म पर वहुत निर्भर होती है। इन अनाजों के सस्ते होने के कारण इनकी खेती लापरवाही से की जाती है। न अच्छी भूमि में ये पैदा ही किये जाते हैं और न खाद का ही ध्यान रक्खा जाता है। इनकी उत्पत्ति के लिए वम्वई, मद्रास और उत्तर प्रदेश प्रसिद्ध हैं। पंजाव में वाजरा तो होता है पर जुआर नहीं। इसके विपरीत मध्य प्रदेश में जुआर उत्पन्न होता है और वाजरा विल्कुल नही। एक और मोटा अनाज रागी कहलाता है जो दक्षिणी भारत (मैसूर, हैदरावाद और मद्रास) में पैदा होता है। इसे सिंचाई की आवश्यकता होती है और यह कीमती अनाज है। निर्धन व्यक्ति इसे विलासिता की वस्तु समझते हैं।

मोटे अनाज की वढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए हमें उनकी उत्पत्ति को वढ़ाना होगा। इस दिशा में किये गये प्रयत्न सफल हुए भी हैं। मोटे अनाज की उत्पत्ति जो सन् १९५०–५१ में ८५ लाख टन थी, वह सन् १९५५–५६ में वढ़कर १२० लाख टन हो गई।

दालें (Pulses)—भारत में अनेक प्रकार की दालें उत्पन्न होती हैं। कृषि तथा स्वास्थ्य, दोनों दृष्टियों से दालों का वड़ा महत्व है। दालों की फसल, भूमि की उर्वरा शक्ति वढ़ाने के लिये फसल की हेर-फेर (Rotation of crops) में भी प्रयुक्त की जाती है। कभी-कभी दालें मोटे अनाजों से मिला-जुला कर भी उत्पन्न की जाती हैं और इस प्रकार भी भूमि की उत्पादक शक्ति को वढ़ाती हैं। दालों के उपभोग से प्रोटीन प्राप्त होती है। हमारे ऐसे शाकाहारी देश के निवासियों के लिए प्रोटीन केवल दाल द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए इसका महत्व स्वास्थ्य की दृष्टि से वहुत ऊँचा है। दालें पशुओं के स्वास्थ्य के लिए भी वहुत आवश्यक हैं, और दालों की भूसी, उनके वीज तथा उनके पेड़ों के हरे-हरे भाग जानवर वड़े चाव से खाते हैं। उनकी पैदावार भी वहुत अच्छी होती है। दाल की प्रधान किस्में अरहर और चना हैं। उर्द, मूंग और मसूर की दालें इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

जन साधारण को शक्ति प्रदान करने के लिए दालों का महत्व काफी अधिक है और भारत सरकार ने उनकी उपज को वढ़ाने के लिए काफी काम किया है। यह प्रयास सफलता प्राप्त कर चुका है। दालों की कुल उपज सन् १९५०–५१ में ८० लाख टन थी किन्तु सन् १९५५–५६ में वढ़कर १०० लाख टन हो गई। सन् १९६०–६१ में यह १२० लाख टन हो गई।

फल और तरकारी—आजकल हमारे देश में फल और तरकारी की खेती वहुत

लापरवाही से की जाती है। किन्तु उनकी माँग बढ़ती जा रही है और धीरे-धीरे वैज्ञानिक ढंग लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

इस बात को समझा जाने लगा है कि जैसे-जैसे देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता जाता है, वैसे ही वैसे सहायक खाद्यों, जैसे तरकारी तथा फलों की उत्पत्ति को बढ़ाने की आवश्यकता अधिक होती जाती है। हमारे देश में भी इस दिशा में बहुत ध्यान दिया जाने लगा है।

(अ) फल—भारत में अनेक प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं। इनमें से केले, अमरूद अनार, जामुन, लीची, तरबूज, खरबूजा और गोले प्रसिद्ध हैं। हमारे देश में फलों का उपभोग बढ़ रहा है और कुछ फल जैसे आम का निर्यात भी होने लगा है। यह भी समझा जाने लगा है कि फलों की कृषि खेतों के अनार्थिक (uneconomical) होने की सफल औषधि है। इन दो कारणों से हम आशा करते हैं कि फल की कृषि निकट भविष्य में हमारे देश मे उन्नति करेगी। किन्तु फलों की क़िस्म और कृषि के तरीकों में काफी सुधार की आवश्यकता है। इस ओर सरकार के कृषि विभागों (Agricultural Departments) और इण्डियन काउन्सिल आव एग्रीकलचरल रिसर्च ने ध्यान देना आरम्भ कर दिया है।

(आ) तरकारी—भारत में तरकारियों का उपभोग बड़ी मात्रा में होता है। तरकारियाँ सब गाँवों और शहरों की समीप वाली बस्तियों में उत्पन्न की जाती हैं। तरकारियों का, उनकी बिक्री के लिए कुछ दूर तक तो यातायात किया जाता है, किन्तु अधिक दूर तक ले जाने में वे सड़ने लगती हैं। आलू, गोभी, टमाटर, गाजर, भाटा, तथा मटर इस देश की कुछ सुप्रसिद्ध तरकारियां हैं। आशा की जाती है कि यातायात के साधनों की शीघ्र उन्नति एवं शीतागार (Cold Storage) के चल जाने के परिणामस्वरूप तरकारी तथा फलों की कृषि को समुचित प्रोत्साहन मिलेगा।

मसाले (Spices)—भारतवासियों को मसालेदार वस्तुएँ खाने की आदत है। इस कारण हमारे देश में मसालों का उपभोग बड़ी मात्रा में होता है। हल्दी और मिर्च प्रायः सभी जगह पाये जाते हैं। इलायची, लौंग, काली मिर्च और अदरक, मलावार और ट्रावनकोर के तटों पर उत्पन्न होती है।

गन्ना या ईख (Sugarcane)—संसार मे भारत सबसे प्रमुख ईख पैदा करने वाले देशों की गिनती में आता है। क्यूबा को छोड़कर, यह संसार में सबसे अधिक ईख उत्पन्न करता है। गन्ना उपजाऊ भूमि पर उत्पन्न होता है और उसे ऊँचा तापक्रम और एकसा किन्तु काफी पानी चाहिये। सिंचाई से इसकी उत्पत्ति में बहुत सहायता मिलती है। भारत में सबसे अधिक गन्ना उत्तर प्रदेश उत्पन्न करता है। उसके पश्चात् पंजाब, बिहार और बंगाल का नाम आता है।

हमारे देश में चीनी के उद्योग को सन् १९३२ ई० में संरक्षण (pretection) मिला और तब से चीनी के उद्योग ने बहुत उन्नति की है। इस के परिणामस्वरूप गन्ने की खेती को भी बहुत प्रोत्साहन मिला है। गन्ने की मात्रा में तो वृद्धि हुई ही है, साथ ही साथ उसकी किस्म में भी उन्नति हुई है। गन्ना उत्पन्न करने वाले समस्त क्षेत्रफल का लगभग ⅔ भाग अब सुधरी हुई किस्म के गन्ने उत्पन्न करने में लगाया जाता है। भारत भर में अनेक अन्वेषण स्टेशनें खुली हैं जहाँ गन्ने की खेती में सुधार करने, इसके कीड़े और रोगों का अध्ययन करने और इसके सम्बन्ध की अन्य वैज्ञानिक समस्याओं पर विचार करने के लिए बराबर काम होता रहता है। इंडियन एग्रीकलचरल रिसर्च इंस्टीटयूट, नई

दिल्ली में भी इसी प्रकार का काम होता है। कानपुर में स्थित इंडियन इंस्टीटयूट आव सुगर टेक्नालाजी भी अच्छा काम कर रही है।

हमारे देश में उत्पन्न होने वाले गन्ने की पूरी मात्रा का केवल १५ प्रतिशत भाग चीनी बनाने के काम आता है। लगभग २० प्रतिशत भाग खाने तथा अन्य कामों में लगाया जाता है, शेष ६५ प्रतिशत भाग गुड़ बनाने के काम आता है जिसे अधिकतर किसान खाते हैं।

भारत में गन्ने की उत्पत्ति बढ़ाने की सक्रिय चेष्टा की जा रही है। सिंचाई के साधन उपस्थित किये जा रहे हैं, अच्छे बीज तैयार किये जा रहे है तथा उनके वितरण का प्रबन्ध हो रहा है, खाद एवं रसायन गन्ना उगाहने वालों के पास पहुँचाये जा रहे हैं, और कीड़ों तथा बीमारियों को रोका जा रहा है। इनके फलस्वरूप गन्ने की उत्पत्ति जो सन् १९५१–५२ में ५६० लाख टन गुड़ के बराबर थी वह सन् १९५५–५६ में बढ़कर ५९० लाख टन गुड़ के बराबर हो गई। किन्तु इतना सुधार काफी नहीं है। चीनी की मिलों की बढ़ती हुई माँग तथा गुड़ की बढ़ती हुई उत्पत्ति को आधार प्रदान करने के लिए गन्ने की उत्पत्ति काफी सीमा तक बढ़ानी होगी। इसकी उत्पत्ति ७२० लाख टन गुड़ के बराबर सन् १९६०–६१ में हो गई। तीसरी योजना में यह ९० लाख टन गुड़ के बराबर उत्पत्ति हुई।

पेय पदार्थ और नशे की वस्तुएँ

हमारे देश मे उत्पन्न होनेवाले पेय पदार्थ तथा नशीली वस्तुओं की फसलें मुख्यतया चार हैं : चाय, कहवा, तम्बाकू तथा अफीम (Opium)

चाय (Tea)—हमारा देश संसार भर में सबसे प्रमुख चाय उत्पन्न करनेवाला देश है। गर्म जलवायु में उत्पन्न होनेवाली एक झाड़ी से चाय नुकाई जाती है। चाय की झाड़ी गरमी और पानी की शौकीन होती है। जड़ के पास रुका हुआ पानी चाय को नुकसान पहुँचाता है। इसीलिए चाय बहुधा पहाड़ के ढालों पर उत्पन्न की जाती है जिससे कि पानी बह जाय। भारत में आसाम सबसे अधिक चाय उत्पन्न करनेवाला राज्य है। कुल भारतीय पैदावार का आधा भाग आसाम में उत्पन्न होता है। बंगाल भी काफी चाय पैदा करता है। उसके पश्चात् मद्रास का नाम आता है, पर उसका महत्व बहुत कम है।

हमारे देश के अन्दर चाय का उपभोग बहुत नहीं होता। अतः हमारी उत्पत्ति का बड़ा भाग निर्यात के लिए प्राप्त हो जाता है। संसार में जितना भी चाय का उपभोग किया जाता है उसका ४० प्रतिशत भाग भारत उत्पन्न करता है। इंगलैंड हमारी चाय का सबसे महत्वपूर्ण खरीदार है। कुछ काल बीते जावा और सुमात्रा की चाय ने हमारे लिए कठिन समस्या उत्पन्न कर दी थी। हमारे चाय के व्यवसाय में संकट (Crisis) सा आ गया था। किन्तु चाय की पैदावार कम करके और भारत के अन्दर चाय के उपभोग के लिए प्रचार करके इस संकट का सामना किया गया।

सरकार ने चाय की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए जिस नीति को अपनाया है, उसके फलस्वरूप उसमें काफी वृद्धि हो चुकी हैं। सन् १९५०–५१ में चाय की उपज कुल ६१ करोड़ पौंड थी जो सन् १९५५–५६ में बढ़कर ६७ करोड़ पौंड हो गई। सन् १९६०–६१ में यह अंक ७३ करोड़ पौंड की सीमा तक पहुँच गया।

यह सर्व विदित है कि हमारे देश के निर्यातों में चाय का स्थान बहुत ऊँचा है। हमा आर्थिक विकास को आवश्यक वित्त प्रदान करने के लिए इसका निर्यात बढ़ाते रह बहुत जरूरी है। अतः सरकार चाय के निर्यात को बढ़ाने की नीति का भी अनु

कर रही है। सन् १९५०–५१ में भारत ने ४३ करोड़ पौंड चाय का निर्यात किया और सन् १९५४ में ४७ करोड़ पौंड चाय का। सन् १९६०–६१ में यह निर्यात ५० करोड़ पौण्ड हो गया।

कहवा (Coffee)—कहवा भी चाय की तरह पेय पदार्थ है और इसको भी चाय की तरह की जलवायु चाहिये। भारत में यह मुख्यतः दक्षिणी पठार पर ही उगता है। मैसूर, कुर्ग और ट्रावनकोर इसके लिए प्रसिद्ध हैं। भारत से कहवे का काफी मात्रा में निर्यात होता है। हम जावा और लंका से कहवे का आयात भी करते हैं, जिसका कि निर्यात कर दिया जाता है। हमारा स्वयं अपना उपभोग तो बहुत ही कम है।

भारतीय कहवा बोर्ड आजकल एक ऐसी १५-वर्षीय योजना बना रहा है जो कहवे की उत्पत्ति २५ हजार टन से बढ़ाकर ४८ हजार टन कर दे। प्रयत्न यह किया जा रहा है कि कहवे की उत्पत्ति गहरी खेती द्वारा १० हजार टन की मात्रा में बढ़ जाय और नई भूमि पर नये पौधे लगाकर १३ हजार टन की मात्रा प्राप्त की जाय।

तम्बाकू (Tobacco)—भारतवासियों के उपभोग पदार्थों में तम्बाकू का एक महत्वपूर्ण स्थान है। तम्बाकू भारत में कसरत से उत्पन्न होता है। मद्रास, बंगाल, विहार और उड़ीसा इसके लिये प्रसिद्ध हैं। वैसे यह गुजरात और बम्बई में भी पैदा किया जाता है। तम्बाकू की फसल दिसम्बर से जून तक रहती है।

हमारे देश में उत्पन्न होनेवाला तम्बाकू लगभग सारा-का-सारा देश में ही प्रयुक्त किया जाता है; यह हुक्का या बीड़ी पीने के काम में आता है। कुछ लोग इसे पान के साथ भी खाते हैं। भारतीय तम्बाकू की किस्म बहुत अच्छी नहीं होती। इस बात का उद्योग हो रहा है कि हम अच्छी किस्म की तम्बाकू उत्पन्न करने लगें जो कि सिगार और सिगरेट बनाने के काम में आ सके।

अफीम (Opium)—अफीम एक पेड़ के फल का सूखा हुआ रस होता है। लगभग ४० वर्ष पहले इसे "रुपये की फसल" (Money Crop) कहा जाता था। सन् १९११ ई० में भारत सरकार ने चीन से एक राजीनामा कर लिया जिसके अनुसार भारत ने अफीम का निर्यात चीन को बन्द कर दिया। देश के अन्दर भी अफीम का उपभोग बहुत कम हो गया है। इन दोनों कारणों से अब अफीम का व्यापार नष्टप्राय हो चुका है। बिहार और उत्तर प्रदेश में अफीम कड़े सरकारी निरीक्षण में उत्पन्न की जाती है। इन्दौर, ग्वालियर और भोपाल भी अफीम की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध हैं।

कच्चा माल

भारत में उत्पन्न होने वाले मुख्य कच्चे माल कपास, सन, तिलहन और नील हैं।

कपास (Cotton)—व्यापारिक फसलों में सर्वप्रथम स्थान कपास का है। इस फसल में लगभग १.२ करोड़ एकड़ भूमि लगाई जाती है। देश के विभाजन के पहले संसार भर में प्रमुख कपास पैदा करने वाले देशों में पहला नाम यू० एस० ए० का था और दूसरा भारत का। किन्तु पाकिस्तान के पास बहुत-सा कपास उत्पन्न करने वाला भाग चला गया है और अब भारत केवल ४० लाख गाँठ कपास पैदा करता है जब कि विभाजन के पहले यह पैदावार ३५ लाख गाँठ थी। अतः अब हमें कपास का आयात करना पड़ता है। इसके लिए सूखी भूमि, सिंचाई, गर्मी और काफी धूप चाहिये। भारत में रुई काली मिट्टी के प्रदेश में पैदा की जाती है जो हमारी कुल पैदावार का ५०% भाग उत्पन्न करता है। कपास के लिए बम्बई और मध्य प्रदेश सबसे प्रमुख प्रान्त हैं। पंजाब, मद्रास और उत्तर प्रदेश में भी कपास पैदा होता है।

भारतीय कपास छोटे रेशे का होता है। अतः यह खराब किस्म का होता है और अच्छे महीन वस्त्र बनाने के लिए अनुपयुक्त होता है। साथ ही साथ, कपास की प्रति एकड़ पैदावार भी बहुत कम है। कपास की किस्म तथा प्रति एकड़ पैदावार में उन्नति करने के लिए उद्योग किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में कृषि विभागों तथा इंडियन सेंट्रल काटन कमेटी ने सराहनीय कार्य किया है। इस कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने मिलावट रोकने तथा कपास की बिक्री में सुविधाएँ प्रदान करने के लिए रुई क़ानून (Cotton Acts) भी बनाये हैं।

सरकार कपास की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए बहुत चेष्टा कर रही है। अच्छे बीज उगाहना और उनका वितरण करना, खाद और रसायन का प्रयोग उत्साहित करना, किसानों को खेती के अच्छे तरीके सिखाना और कपास की खेती करने वालों में प्रचार करना, इन प्रयत्नों के उदाहरण हैं। इनके परिणाम काफी अच्छे हुए भी हैं। कपास की उत्पत्ति जो सन् १९५०–५१ में २९ लाख गाँठ थी वह सन् १९५५–५६ में ४० लाख गाँठ हो गई; और आशा है कि सन् १९६०–६१ में यह बढ़कर ५५ लाख गाँठ हो गई। यह बात भी मार्के की है कि लम्बे रेशे की कपास में विशेष वृद्धि हो रही है। ऐसी कपास की उत्पत्ति सन् १९४८–४९ में कुल उत्पत्ति की १७ प्रतिशत थी किन्तु सन् १९५४–५५ में यह ३२ प्रतिशत हो गई।

सन या जूट (Jute)—देश के विभाजन के पूर्व कच्चे जूट को पैदा करने में भारत का एकाधिकार था। किन्तु विभाजन के फलस्वरूप जूट उगाहने वाले प्रदेशों का केवल १९ प्रतिशत भाग ही भारत में अवशेष रहा। सन् १९४७–४८ में हमने जूट की केवल १७ लाख गाँठ पैदा की जब कि हमारी मिलों को ७२ लाख गाँठों की आवश्यकता थी। सन् १९५०–५१ में जूट की उपज बढ़कर ३३ लाख गाँठें हो गई और सन् १९५५–५६ में ४२ लाख गाँठें। हमें आशा है कि सन् १९६०–६१ में ५५ लाख गाँठों के बराबर इसकी उपज हो गई। देश के विभाजन के पहले भारत संसार भर में सबसे अधिक सन उत्पन्न करता था। जूट को नम और गरम जलवायु तथा उपजाऊ और नर्म भूमि की आवश्यकता होती है। बंगाल में इसकी उत्पत्ति के लिए आदर्श दशाएँ विद्यमान थीं जिनके फलस्वरूप वह भारत का सबसे महत्वपूर्ण सन उत्पन्न करने वाला राज्य बन गया था। हमारी पैदावार का ९०% बंगाल से आता था और शेष १०% बिहार, उड़ीसा और आसाम से आता था। किन्तु विभाजन होने के कारण अधिकांश जूट उत्पन्न करने वाला प्रदेश अब पाकिस्तान में चला गया; और भारत में केवल १५ लाख गाँठ जूट पैदा होने लगी और पाकिस्तान में ६५ लाख गाँठ।

विभाजन के पहले से ही जूट की उत्पत्ति आसाम आदि में बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। विभाजन के बाद से अन्य प्रान्त भी जूट उत्पन्न करने लगे हैं जिनमें मद्रास का नाम उल्लेखनीय है। अतः १९४८ में भारत में लगभग ८ लाख एकड़ भूमि पर जूट उत्पन्न किया गया, और कुल उत्पत्ति बढ़ कर २० लाख गाँठ हो गई। पर यह हमारी मिलों के लिए बहुत थोड़ा है, और हमें बहुत-सा जूट अब पाकिस्तान से आयात करना पड़ता है। आशा है कि बहुत शीघ्र जूट की पैदावार हमारे देश में काफी बढ़ जायगी और इस दिशा में जो प्रयत्न किये जा रहे हैं वे सफल होंगे।

सिल्क (Silk)—भारत सिल्क भी उत्पन्न करता है। सिल्क का कीड़ा शहतूत के पेड़ पर रहता है। हमारे देश में सिल्क आसाम, बंगाल और कुछ पहाड़ी प्रदेशों में उत्पन्न होती है।

तिलहन (Oilseeds)—तिलहन को "निर्यात-फसल" (Export Crop) कहा जाता है। इनमें मूंगफली, अलसी, सरसों, तिल और अरंडी शामिल हैं। तिलहन की फसल जोखिम की वस्तु है क्योंकि तिलहन के दाम बहुत उतरते-चढ़ते रहते हैं। फिर भी तिलहन सारे देश में खूब पैदा किये जाते हैं।

तिलहन तथा उनसे प्राप्त किये जाने वाले वनस्पति तेल देशवासियों के भोजन में चर्वी प्रदान करते हैं तथा उनका निर्यात भी होता है।

पाँच प्रधान तिलहनों (मूंगफली, अलसी, सरसों, तिल और अरंडी) की उत्पत्ति सन् १९५०–५१ में ५१ लाख टन थी : किन्तु ५ वर्षों में यह बढ़कर ५७ लाख टन हो गई। सन् १९६०–६१ में यह बढ़कर ७० लाख टन हो गई। भारतीय तिलहन कमेटी ने अच्छे किस्म के बीजों को तैयार करने और उनका वितरण करने की जो स्कीमें बनाईं थीं, उनको कार्यान्वित किया गया है और उन्होंने आशापूर्ण फल दिया है।

(अ) मूंगफली—मूंगफली भारत की आदि फसल नहीं, यह कुछ काल से ही भारत में उत्पन्न की जाने लगी है। किन्तु अब भारत की कृषि-व्यवस्था में इसने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। मुख्यतः सन् १९२२ ई० से इसका प्रचार शीघ्रता के साथ हुआ। यह दक्षिणी भारत में—मुख्यतः मद्रास, बम्बई और हैदराबाद में—उत्पन्न होती है। द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप विदेशी बाजारों का लोप हो गया और मूंगफली की कीमतें बहुत गिर गईं। (आ) अलसी—अलसी मुख्यतः निर्यात के लिए उत्पन्न की जाती है। इस शताब्दी के आरम्भ में भारत अकेला ही संसार भर की अलसी की मांग संतुष्ट करता था, किन्तु अब विदेशों से स्पर्द्धा होने लगी है और हमारे विदेशी बाजार सिकुड़ गये हैं। अलसी उत्पन्न करने के लिए मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा प्रमुख हैं। वैसे अलसी देश भर में पैदा की जाती है। सन् १९३४ की क्राप प्लानिंग कान्फ्रेन्स ने अलसी की पैदावार बढ़ाने की सिफारिश की थी। (इ) सरसों—सरसों ऐसे स्थान पर होती है जहाँ वर्षा और ताप दोनों अधिक हों। यह अधिकतर उत्तर प्रदेश, बंगाल, पंजाब, बिहार आदि में पैदा होती है। यह यू० के०, इटली, बेल्जियम आदि को जाती थी। (ई) तिल—तिल प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। पर बम्बई, मद्रास, एम० पी० आदि इसके लिए प्रसिद्ध हैं। संसार की एक चौथाई पैदावार हमारे देश में होती है। (उ) अरंडी—अरंडी के लिए अधिक वर्षा चाहिये। यह मद्रास, हैदराबाद, बम्बई और एम० पी० में पैदा होती है। यह यू० के०, फ्रांस, संयुक्त राष्ट्र और जर्मनी आदि को जाती थी।

हमारे देश में तिलहन के निर्यात की समस्या एक बड़ी आर्थिक समस्या रही है। यदि भारतीय तेल उद्योग की यथेष्टय उन्नति हो जाय तो सारा तिलहन हमारे देश में ही काम आने लगे। तब हमें तेल तो मिलने ही लगे, साथ ही साथ खली, जो बहुमूल्य खाद है, वह भी प्राप्त हो जाय। अब तक हम तिलहन का निर्यात करते रहे हैं और इसके बदले में तेल का आयात करते रहे हैं। खली विदेशों में ही रह जाती है। यह हमारी बड़ी हानि है। अतएव बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि तिलहन के निर्यात का निषेध कर दिया जाना चाहिए।

नील (Indigo)—कुछ काल पूर्व नील भारत की एक महत्वपूर्ण फसल थी। यह मद्रास, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और पंजाब में उत्पन्न होती थी। किन्तु कृत्रिम नील के चल जाने से, जो बहुत सस्ता होता है, इस फसल का विनाश हो गया। इस फसल का भविष्य बहुत ही चिन्ताजनक है।

§ २. भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि

कृषि का महत्व

भारत कृषि-प्रधान देश है। खेती की उन्नति के लिये आवश्यक प्रयास करना कई कारणों से आवश्यक है।

(क) हम ऊपर बता चुके हैं कि कार्यशील जनसंख्या का ६८ प्रतिशत भाग खेतों पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में, हर १० कमाने वालों में से ७ व्यक्ति अपनी जीविका खेती से कमाते हैं। जनसंख्या के इतने बड़े भाग का खेती पर निर्भर होना स्वयं इसके महान् महत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही नहीं, हमारी कुल राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग खेती से ही प्राप्त होता है।[1] अतः राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में खेती का महत्व महान् है।

(ख) इसीलिये भारत को कृषि-प्रधान देश कहा जाता है। खेती का देश की अर्थ-व्यवस्था में महत्व इससे भी जाना जा सकता है कि जब भी वर्षा कम होने, या न होने, या बाढ़ आ जाने से खेती अच्छी नहीं होती, तब सहस्रों व्यक्तियों पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ता है और देश भर में संकट आ जाता है। जब किसानों के पास पैसा नहीं होता है तो उनकी खरीद कम हो जाती है; अतः उद्योग, यातायात, व्यापार अर्थात् पूरी अर्थ-व्यवस्था शिथिल हो जाती है।

(ग) भारतीय अर्थ-व्यवस्था में खेती का इतना महत्व होना उसकी कमजोरी है। अच्छी अर्थ-व्यवस्था (economy) वह होती है जो किसी एक पेशे पर बहुत ज्यादा निर्भर न हो, जिससे कि उस पेशे के असफल होने पर अधिकांश देशवासियों पर आर्थिक संकट न आ जाय। ऐसी अर्थ-व्यवस्था को संतुलित (Balanced) कहा जाता है। अभाग्यवश हमारा देश खेती पर बहुत बड़ी सीमा तक निर्भर है। हमारी अर्थ-व्यवस्था की तराजू का खेती वाला पलड़ा बहुत भारी है। अतः हमारी अर्थ-व्यवस्था असंतुलित (Unbalanced) है। यही कारण है कि अकाल के समय हमारे देश भर में मुसीबत छा जाती है। समय-समय पर अकालों के कारण और उनके परिशोध के विषय में छान-बीन करने के लिए जितने भी अकाल कमीशन (Famine Commissions) बैठाये गये हैं, उन सब ने यही बताया कि अकाल के समय विस्तृत संकट होने का प्रधान कारण उद्योगों की कमी है और शीघ्र औद्योगीकरण ही उसका निवारण है।

(घ) यह पेशेवर असंतुलन भी हमारे लिए इतना हानिकारक न होता यदि हमारी खेती इतनी पिछड़ी न होती। हम अपने देश की विभिन्न फसलों की प्रति एकड़ पैदावार अन्य देशों से मिलायें, तो हमें पता चलेगा कि हम कितने पिछड़े हुए हैं। भारतीय कृषि की कार्यक्षमता को जाँचने के लिए हम चाहे किसी भी कसौटी को क्यों न लें, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। जब तक देश के इस प्रधान पेशे के इन सारे दोषों का निवारण नहीं होता तब तक हमारे देशवासी निश्चय ही निर्धन बने रहेंगे।

§ ३. भारतीय कृषि का पिछड़ा होना

भारतीय कृषि का एक प्रधान लक्षण यह है कि यह बहुत पिछड़ी अवस्था में है और

---

१ नेशनल इनकम कमेटी (१९५१) के अनुसार राष्ट्रीय आय का ४८ प्रतिशत भाग खेती से प्राप्त होता है।

इसकी कार्यक्षमता बहुत निम्न कोटि की है। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि हमारे देश में प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। देश में उत्पन्न होने वाले अनाजों में चावल सबसे प्रमुख है; किन्तु इसकी प्रति एकड़ उपज ९० पौण्ड है, जो कि मिस्र की उपज का १/६ है। कपास के विषय में अवस्था और भी खराब है; भारत में प्रति एकड़ उपज मिस्र की १/६ से

सारिणी १७

कुछ देशों में प्रति एकड़ उपज (पौण्ड में)

फसल	भारत	अमेरिका	—
१. चावल	९०	३१०	५४० मिस्र
२. गेहूँ	६००	१,१००	१,६० फ्रान्स
३. कपास	९०	३१०	५९० मिस्र

भी कम है। गेहूँ में अवस्था इतनी बुरी नहीं है, किन्तु फिर भी विदेशों में होने वाली उपज की १/२ या १/३ है।

यह कहना तो गलत होगा कि भारत की प्रति एकड़ पैदावार का अन्य देशों से मुकाबल किया जा सकता है, क्योंकि जलवायु तथा अन्य बातें हर देश में अलग-अलग होती हैं। किन्तु प्रति एकड़ उपज भारत में और देशों से इतनी अधिक कम है कि हमारी खेती के पिछड़े होने के विषय में कोई संदेह रह ही नहीं जाता।

खेती हमारे देश का सबसे महत्वपूर्ण पेशा है और हमारे देशवासियों का अधिकांश भाग उस पर जीविका के लिए निर्भर रहता है। इसलिए इसके पिछड़ेपन के कारणों का जानना और उनके निवारण के लिए सुझाव देना आवश्यक है।

पिछड़ेपन के कारण

भारतीय खेती के पिछड़ेपन के कारण नीचे दिए जाते हैं। जमाने से खेती में कोई विशेष सुधार नहीं हुए और पिछड़ेपन के कारण बढ़ती हुई तेजी के साथ चले जा रहे हैं।

(१) **सिंचाई के साधनों की कमी**—भूमि से अधिकतम उपज प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि समय पर उचित मात्रा में पानी मिलता रहे। भारत में बोये जाने वाले क्षेत्र का लगभग ८०% भाग वर्षा पर निर्भर होता है; किन्तु यह वर्षा शायद ही कभी समय पर आती हो या पर्याप्त होती हो। अतः देश में कहीं न कहीं फसलों का खराब होना साधारण बात है। इसी कारण खेती को वर्षा के साथ जुआ खेलना कहा गया है। जब तक कि किसान को पर्याप्त मात्रा में और समय पर पानी नहीं मिलेगा तब तक प्रति एकड़ पैदावार बढ़ नही सकेगी।

(२) **खराब बीजों का प्रयोग**—भारतीय किसान खराब या मामूली बीज बोते हैं। फलतः फसल भी खराब या मामूली होती है। अच्छे बीजों का प्रयोग करके प्रति एकड़ उपज बढ़ाने का क्षेत्र भारत में काफी है। प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि अच्छे बीज डालने से प्रति एकड़ उपज बढ़ जाती है।

(३) खाद की कमी—खाद तथा रसायन भूमि के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि शरीर के लिए भोजन। जिस प्रकार कि हृष्ट-पुष्ट शरीर कठिनतम काम कर सकता है, उसी प्रकार अच्छी खाद पाई हुई भूमि अधिक उपज दे सकती है। डाक्टर ग्लाउस्टन का कथन है कि भारतीय भूमि सदियों पहले निर्धनता या थकावट की अधिकतम सीमा तक पहुँच चुकी है। भारतीय भूमि को खाद और रसायन देने की व्यवस्था नहीं हुई है और इस कारण प्रति एकड़ पैदावार कम हो गई है।

(४) वित्त की कमी—भारत में खेती ऐसा पेशा है जिसमें बहुत कम पूँजी लगाई गई है। अर्थशास्त्र में यह माना हुआ सत्य है कि बिना पूँजी के विनियोग किये उत्पत्ति नहीं बढ़ सकती। आजकल हमारे किसानों के पास उनकी आवश्यकताओं के हिसाब से पर्याप्त पूँजी नहीं होती। उत्पादन के लिए प्रति दिन होने वाले व्यय या पशु खरीदने के लिए उन्हें बहुत कठिनता से और ऊँची ब्याज पर ऋण मिलता है। कुएँ खोदने के लिए, बाड़ा बनाने के लिए, खेत में कुटिया डालने के लिए या अन्य किसी स्थायी सुधार के लिए उन्हें पूँजी मिल ही नहीं पाती। जब तक किसानो को पर्याप्त धन कम ब्याज पर नहीं मिलता, तब तक उन्हें खेती में सुधार करने में कठिनाई होगी।

(५) छोटे और छिटके खेत—खेती की सफलता बहुत-कुछ उस खेत की मात्रा पर भी निर्भर होती ह जो किसान जोतता है। भारत में खेत छोटे-छोटे होते हैं। फिर वे टुकड़ियों में बँटे होते हैं जो एक दूसरे से दूरी पर स्थित होते हैं। अतः मशीनों का प्रयोग करने या कुयें खोदने तथा बाड़े बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता; तथा एक टुकड़ी से दूसरी टुकड़ी पर जाने में बहुत सा श्रम समय, तथा शक्ति बेकार जाती है। खेतों की चकबन्दी करना तथा उन्हें आर्थिक मात्रा तक बढ़ाना आवश्यक है।

(६) उत्पादन के पुराने तरीके—हमारी खेती अधिकांशतः सदियों पुराने तरीकों से की जाती है; और यद्यपि उनमें कुछ सुधार हुए हैं, किन्तु वे पर्याप्त हैं। वर्तमान अवस्था में बहुत वैज्ञानिक या आधुनिक रीतियाँ व्यवहार में लाना कदाचित न तो संभव ही हो और न श्रेयस्कर ही; किन्तु वर्तमान रीतियों में कुछ न कुछ सुधार अवश्य होना चाहिए। यह कहना मिथ्या है कि हमारे किसान रुढ़ियों के दास हैं और अपना तरीका बदलना नहीं चाहते। यह आवश्यक है कि जो सुधार हो सकते हैं उनसे उन्हें अवगत कराया जाय और उनके हृदय में यह विश्वास उत्पन्न किया जाय कि उनसे लाभ होगा।

(७) विपणन (Marketing) में कठिनाइयाँ—आजकल किसान अपनी फसल को ऊँचे मूल्य पर नहीं बेच पाता। बहुधा जिस महाजन से वह बीज आदि खरीदता है, उसी को फसल तैयार होने के पहले ही वह निश्चित दाम पर बेचने का वादा कर लेता है। यदि वह फसल को मंडी में ले भी जाय, तो भी उसे ऊँचा मूल्य नहीं मिल पाता क्योंकि फसल कटने के बाद ही मंडी में मूल्य कम रहते हैं; और फिर उसे मध्य पुरुषों को तरह-तरह के भुगतान भी करने पड़ते हैं। यदि हमें किसानों की अवस्था को सुधारना है, तो विपणन की प्रथा को सुधारना नितान्त आवश्यक है।

(८) मालगुजारी की दोषपूर्ण प्रणाली—मालगुजारी की दोषपूर्ण प्रणाली खेती की कुशलहीनता का एक प्रमुख कारण रही है। जब तक किसान को यह आश्वासन न हो कि भूमि उसी की बनी रहेगी और मालगुजारी भी कम न हो, तब तक उसे खेती के सुधारने तथा अधिक उपज उगाहने के लिए प्रोत्साहन नहीं होगा। भारत में हाल में ही इस समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया है।

(९) खेती संबंधी शिक्षा तथा अनुसंधान की कमी—भारत में कृषि महाविद्यालयों की संख्या बहुत थोड़ी है, तथा खेती सबंधी अनुसंधान भी सीमित मात्रा में होते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि खेती के तरीकों में विशेष सुधार नहीं हुआ। जो भी अनुसंधान होते हैं, वे किसान तक नहीं पहुँच पाते।

(१०) कृषि विभागों का खराब प्रशासन—किसान तभी सुधर सकते हैं जब कि सरकारी अफसर उन्हें उचित रीति से सुधारने के लिए प्रोत्साहन दें। किन्तु खेती विभाग के सरकारी कर्मचारी दफ्तर में काम अधिक करते हैं और गाँवों में कम। उन्हें अपना दृष्टिकोण तथा अपने तरीके बदलने चाहिए।

कृषि में सुधार करने के लिए उपचार

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हमें खेती में सुधार करने के लिए उपयुक्त उपचार करने चाहिए।

(१) पर्याप्त सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करना—सिंचाई के साधन बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। सन् १९५०–५१ में ५१० लाख एकड़ की सिंचाई हुई और यह अंक सन् १९५५–५६ में बढ़कर ६७० लाख एकड़ हो गया। आशा की जाती है कि सन् १९६०-६१ में यह क्षेत्रफल बढ़कर ६९३ लाख एकड़ हो जायगा। पंचवर्षीय योजनाओं में इसके लिए विशेष प्रावधान किया गया है। सिंचाई के कार्यक्रम में (क) बहुप्रयोजनीय निर्माण (ख) महान सिंचाई निर्माण तथा (ग) लघु सिंचाई निर्माण शामिल किए गये हैं।

(२) सूखी खेती तथा मौसम का पूर्वानुमान—चूँकि हमारे देश में ८०% खेत वर्षा पर निर्भर रहते हैं, इसलिए सूखी खेती पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। वह जाने वाले पानी को रोककर तथा भाप बन कर उड़ जाने वाले पानी पर नियंत्रण रख कर भूमि की नमी की रक्षा की जा सकती है और सूखे में भी खेती हो सकती है। उपज बढ़ाने के लिए मौसम के पूर्वानुमानों का भी लाभदायक प्रयोग किया जा सकता है।

(३) अच्छे बीजों का उपयोग—आधुनिक खेती की एक चमत्कारपूर्ण सफलता विभिन्न फसलों के लिए अच्छे प्रकार के बीजों का उपयोग है। अच्छे बीजों के उपयोग के महत्व से किसान भली भाँति परिचित हैं। अच्छे किसान अच्छे बीजों को सावधानी से बचा कर रखते हैं। अच्छे बीज सरकारी खेतों पर तैयार किए जाते हैं और वे अधिकतर सहकारी समितियों द्वारा वितरित किए जाते हैं। इस प्रथा को समस्त उपयुक्त रीतियों द्वारा अधिक लोकप्रिय बनाना चाहिए। अनुभव द्वारा मालूम हुआ है कि व्यापारिक फसलों (जैसे गन्ना, मूँगफली और कपास) के शुद्ध बीज अनाजों के बीज की अपेक्षा शीघ्र तैयार किए जा सकते हैं।

(४) खाद और रसायन का प्रयोग—भूमि को नाइट्रोजन, फासफोरस तथा पोटाश की आवश्यकता होती है। नाइट्रोजन भूमि को खली, हरी खाद, हड्डी की खाद तथा रासायनिक खाद द्वारा प्राप्त हो जाती है। उसे फासफोरस पशुओं तथा मनुष्यों के मल, सड़े हुए पेड़, उनकी राख तथा मरे जानवरों की हड्डियों से प्राप्त होता है। भारतीय मिट्टियाँ सामान्यतया पोटाश से भरी पूरी होती हैं। सब प्रकार की खादों को लोकप्रिय बनाना आवश्यक है। गोबर, जो हर वर्ष ८२ करोड़ टन होता है आधी मात्रा में जला डाला जाता है; किन्तु वह सब का सब मिट्टी को वापस मिलना चाहिए। पशुओं का पेशाब तथा मनुष्यों का मल भी बहुमूल्य खाद होते हैं। रासायनिक खादों में

अमोनियम सलफेट तथा सुपर फासफेट महत्वपूर्ण हैं। उनकी बढ़ती हुई माँग यह सूचना देती है कि उनका प्रयोग किसानों को लाभप्रद सिद्ध होता है।

(५) **वित्त का प्रबंध**—खेती संबंधी सुधार के लिए किसान को आसानी से और कम व्याज पर ऋण मिलने की सुविधा होनी चाहिए। उसे दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों प्रकार की पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। विशेषतया अल्पकालीन पूंजी उसे अवश्य चाहिए और इस दिशा में विशेष ध्यान देना आवश्यक है। महाजन अब भी किसानों की ७०% वित्त संबंधी आवश्यकता पूरी करता है। अतः उसके व्यवसाय को उचित तथा स्वस्थ आधार पर लाना नितान्त आवश्यक है। साथ में ही सहकारी ऋण समितियाँ स्थापित करनी चाहिए और उन्हें गाँवों में प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास करना चाहिए।

(६) **खेतों की चकबन्दी**—खेतों की चकबन्दी करना, और उनका फिर से उपविभाजन हो जाना रोकना भी बहुत आवश्यक है। देश के कुछ भागों में यह सहकारी आधार पर सफलतापूर्वक किया गया है; और उत्तर प्रदेश में सरकार ने अपने अफसरों के माध्यम द्वारा भी इस दिशा में सफलता पाई है। किन्तु इसका वास्तविक, पर दीर्घकालीन निदान उद्योगों की उन्नति करना है जिससे कि अतिरिक्त जनसंख्या जो आजकल खेती पर दवाव डालती है, उद्योगों की ओर मुड़ जाय।

(७) **खेती के तरीकों में सुधार**—भारत में खेती के सुधरे हुए तरीके लोकप्रिय बनाना भी बहुत आवश्यक है। खेती के क्षेत्र में एकबारगी नवीनतम वैज्ञानिक खोजों का प्रवेश कर देना न तो संभव ही है और न कदाचित वांछनीय ही। किन्तु वर्तमान रीतियों में विज्ञान के सहारे, सुधार अवश्य किया जा सकता है। यह खेद का विषय है कि इस दिशा में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

(८) **विपणन में सुधार**—किसानों को अपनी उपज के लिए अच्छे दाम दिलाने में सहकारी विपणन से श्रेष्ठ और कोई रीति नहीं है। यदि सहकारी समितियों के पास हिफाजत से फसलें रखने के लिए गोदाम हो जायँ, तो वे बाजार भाव बढ़ जाने तक माल को रोक भी सकती हैं। साथ ही साथ नियमित बाजारों (Regulated markets) के स्थापित करने के भी प्रयत्न होने चाहिए। यातायात की सुविधायें बढ़ाना तथा बाटों को यथार्थ बनाना भी लाभदायक होगा।

(९) **मालगुजारी की उचित प्रणाली**—इस दिशा में काफी काम हो चुका है। जमीदारी का उन्मूलन किया जा चुका है और बड़ी सीमा तक किसान भूमि का स्वामी बन चुका है। लगान का बोझ भी कम हुआ है।

(१०) **कृषि शिक्षा तथा अनुसंधान का विस्तार**—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस दिशा में काफी ध्यान दिया जा रहा है। कृषि महाविद्यालय तथा ग्रामीण विश्व विद्यालय स्थापित किए जा रहे हैं; और कृषि संबंधी अनुसंधान को भी बहुत प्रोत्साहन मिला है। इस दिशा में और भी काम करना आवश्यक है। अच्छा तो यह होगा कि शिक्षा तथा अनुसंधान के केन्द्र गाँवों में स्थापित किये जायँ और वे किसानों में उपयोगी ज्ञान का प्रसार करने तथा खेती के सुधारने के केन्द्र बन जायँ।

(११) **प्रशासन में सुधार**—राज्य सरकारों के कृषि विभागों का दृष्टिकोण बदलना कल्याणकारी होगा। दफ्तर में काम करने के बजाय खेतों पर काम करने पर जोर देना चाहिए; और फाइलों का स्थान किसानों की सक्रिय सहायता को ले लेना चाहिए। यदि ऐसा हो सका, तो खेती में सुधार अवश्य होगा।

§ ४. भारत में कृषि योजना

भारत को अपनी खेती का विकास जितनी भी गति से सम्भव हो करने की आवश्यकता है। इस सुधार का स्वरूप नयी भूमि को जोतने से बढ़कर विद्यमान कृषि रीतियों में सुधार करना होना चाहिये। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् व्यवस्थित रूप से यह प्रयास किया जा रहा है कि कृषि दक्षतापूर्वक की जाय और उसकी उत्पत्ति बड़ी सीमा तक बढ़ाई जाय जिससे कृषि का पिछड़ापन दूर हो। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई के साधन प्रदान किए गये, अच्छे बीज बाँटे गये, खाद एवं रसायनों का प्रयोग बढ़ाया गया, तथा खेती के अच्छे सुधरे हुए तरीकों का प्रचार किया गया। इसके अतिरिक्त मालगुजारी प्रथा मे सुधार किया गया, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया, किसान जिस भूमि को जोतते थे उसके बाद स्वामी बना दिये गये, और मालगुजारी को घटा दिया गया। यही नहीं सामुदायिक उन्नति का कार्यक्रम भी शुरू किया गया। परिणाम यह हुआ कि सन् १९५१-५६ के समय में हमारे देश की कुल खेती की उपज १५ प्रतिशत बढ़ गई। यह विकास बहुत संतोषजनक हुआ। अब भारत ने अपनी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का (सन् १९५६-६१) सूत्रपात किया है। इसके अन्तर्गत कृषि की उन्नति के लिए जो भी चरण प्रथम योजना में उठाये गये थे उनको आगे बढ़ाया जा रहा है, और नये तरीकों को भी प्रयुक्त किया जा रहा है। आशा की जाती है कि सन् १९६०-६१ में कुल खेती की उपज सन् १९५५-५६ की उपज से १८ प्रतिशत अधिक हो जायगी। आगे जाकर उन्नति की गति और भी तेज होने की आशा की जा सकती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में खेती में विनियोग—प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-१९५६) में कुल विनियोग रु० २,०६९ करोड़ निश्चित किया गया जिसमें से रु० ३६१ करोड़ (या १७%) कृषि संबंधी विकास के लिए रक्खे गये। इसके विपरीत उद्योगों के लिए केवल रु० १७३ करोड़ (या ८%) रक्खे गये। ऊपर की रकम में सिंचाई पर किया गया विनियोग शामिल नहीं है जिसकी मात्रा रु० ३०१ करोड़ या कुल विनियोग का १४.५% है। दूसरी योजना में खेती को उद्योग की अपेक्षा कम महत्व मिला है। खेती और सामुदायिक विकास को रु० ५६८ करोड़ दिए गये हैं जो कुल विनियोग का ११.८% है; किन्तु उद्योग और खनिज व्यवसाय के लिए रु० ८९० करोड़ रक्खे गये हैं। जो कुल विनियोग का १८.४% है। पहली योजना में खेती का विकास हो चुकने और औद्योगीकरण की आवश्यकता इस नीति का आधार है। वैसे यदि हम केवल विनियोग की मात्रा को देखें तो दूसरी योजना में खेती पर अधिक रुपया लगाया जायगा—यह रु० ५६८ करोड़ है जब कि प्रथम योजना में रु० ३५७ करोड़ था।

प्रथम योजना में खेती का कार्यक्रम—प्रथम योजना में ४ पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया गया : (१) पानी, बीज, खाद का प्रबंध तथा भूमि की पुनर्प्राप्ति (२) भूमि सुधार, (३) सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा, और (४) पशु व्यवसाय, मत्स्य व्यवसाय आदि की उन्नति।

(१) इन सब में प्रथम बात सबसे अधिक महत्व की मानी गई; और सिंचाई, बीज, खाद तथा विस्तृत खेती के लिए रु० १८४ करोड़ रक्खे गये। इस विनियोग का शीघ्र परिणाम होने की आशा की गई; और प्रथम योजना में अनाज तथा व्यापारिक फसलों की उपज बढ़ गई। सन् १९५०-५१ में अनाज की उपज ५.४ करोड़ टन थी और १९५५-५६ में इसके ६.२ करोड़ टन हो जाने की आशा की गई। पाकिस्तान

बन जाने से सन, कपास, गन्ना तथा तिलहन उत्पन्न करने वाले बहुत से क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये; अतः इन सब की पैदावार बढ़ाने का आयोजन किया गया। उदाहरण के लिए सन की उत्पत्ति में ६३% तथा कपास की उत्पत्ति में ४२% की वृद्धि का आयोजन किया गया।

(२) प्रथम योजना में भूमि सुधार नीति के उद्देश्य थे जमींदारी का उन्मूलन, मालगुजारी सुधार, भूमि का पुनर्वितरण, कुशल भूमि प्रबंध तथा खेतों की चकबन्दी।

(३) सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा का आशय यह था कि वह ग्रामीण जीवन के समस्त पहलुओं में नई जान डाल दे और फिर से संगठित करे, तथा ग्रामवासियों में आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए जोश पैदा करे। इस काम के लिए रु० ९० करोड़ रक्खे गये।

(४) पशु व्यवसाय, मत्स्य व्यवसाय, जंगल, आदि सहकारी व्यवसाय उन्नत करने का भी आयोजन हुआ जिससे ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या का हल हो सका।

(५) प्रथम योजना काल में खेती की उन्नति—प्रथम योजना में खेती का कार्यक्रम काफी सफलता से पूरा हुआ। देश की सबसे प्रमुख समस्या अनाज की है; और १९५५–५६ में ६.५ करोड़ टन पैदा हुआ, जब कि लक्ष्य ६.२ करोड़ टन का था। कपास और तिलहन के लक्ष्य पूर्ण हुए; किन्तु गन्ने और सन में कुछ कमी रही। पर कुल मिला कर काफी उन्नति हुई। देश भर में जमींदारी का उन्मूलन हो गया। लगभग २५% ग्रामीण जनसंख्या राष्ट्रीय विस्तार आन्दोलन के अन्तर्गत आ गई। सहकारी पेशों का भी कुछ विकास हुआ। इस प्रकार प्रथम योजना के अन्तर्गत खेती की अच्छी उन्नति हुई।

दूसरी योजना में खेती—प्रथम योजना में खेती का विकास हुआ तो अवश्य किन्तु आत्मनिर्भरता (Self sufficiency) प्राप्त न हो सकी। अतः दूसरी योजना में खेती की और भी उन्नति करने का आयोजन हुआ। अब इस विषय पर रु० ५६८ करोड़ लगाने का आयोजन हुआ। विभिन्न फसलों के उपज के लिए नये लक्ष्य स्थिर हुए। अनाज की उपज में १५% की आशा है—अर्थात् १९६०-६१ में अनाज की उपज ७.५ करोड़ टन हो जायेगी; और योजना काल में कपास की उपज में ३१%, तिलहन में २७%, सन में २५% और गन्ने में २२% की वृद्धि होगी। सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या अब राष्ट्रीय विस्तार सेवा के अन्तर्गत आ जायेगी।

§ ५. भारत में खेती की उपज का विपणन

खेती की उपज के विपणन से आशय फसल के कटने के बाद उपज के बेचने से है। यदि उपज बेचकर किसान को अच्छा मूल्य मिला तो उसकी आर्थिक अवस्था सुधरेगी तथा उसे अधिक उपज पैदा करने का प्रोत्साहन भी मिलेगा। आजकल की विपणन प्रणाली किसान को उपज का उचित मूल्य नहीं दिलाती। इसलिए वर्तमान प्रणाली में सुधार करना आवश्यक है।

खेती की उपज का विपणन कई समस्यायें सामने लाता है। पहली बात तो यह है कि खेती मौसमी पेशा है जिस कारण उपज कुछ ही महीनों में तैयार की जाती है और फिर वह धीरे-धीरे साल भर में उपभोग की जाती है। किसान के पास इतना साधन नहीं होता कि वह अपनी उपज धीरे-धीरे बेचे; उसे रुपया चुकाने के लिए

उपज तुरन्त ही बेचनी पड़ती है जब मूल्य कम होता है। यदि किसान उपज को रखना भी चाहे तो उसके पास गोदाम नहीं होते। दूसरे, एक पुरानी विपणन तथा ऋण की संयुक्त प्रणाली चली आ रही है जिसके अनुसार साहूकार या मंडी का आढ़तिया किसान को बीज, खाद आदि खरीदने के लिए रुपया इस शर्त पर उधार देता है कि तैयार होने पर फसल उसे निश्चित मूल्य पर बेची जायगी। तीसरे, गाँव और मंडी के बीच यातायात के साधन इतने खराब होते हैं कि उपज को मंडी तक लाने में किसान को कठिनाई होती है। अतः उसे उपज गाँव में ही कम मूल्य पर बेच डालनी पड़ती है। अन्त में, मंडी में किसान से नजराने आदि के रूप में बहुत सा रुपया लिया जाता है। अनुमान लगाया गया है कि उपज के लिए उपभोक्ता द्वारा दिए गए हर रुपये में से किसान को केवल साढ़े ९ आने मिलते हैं। शेष मध्यस्थों की जेब में चला जाता है।

किसान में उपज रोकने की सामर्थ्य आवे, इस बात की चेष्टा करनी चाहिए; और इसके लिए यह आवश्यक है कि उपज रखने को गोदाम बनें। ऐसा होने पर किसान गोदाम में रक्खे माल की ज़मानत पर बैंक से ऋण ले सकता है; और फिर अच्छा मूल्य मिलने पर ही वह उपज बेचेगा। हाल में रिजर्व बैंक व सरकार के प्रयास से गोदामों के बनाने का काम आरम्भ कर दिया गया है।

इस बात की भी आवश्यकता है कि गाँवों में कम ब्याज पर ऋण देने वाली वित्तीय संस्थायें खोली जायँ जिससे कि किसान महाजन या आढ़तिया के चंगुल से बच सके। लेकिन यह स्वयं भी एक बड़ी समस्या है। इसका हल तभी हो सकता है जब व्यापारिक बैंक गाँवों में प्रवेश करें, सहकारी आन्दोलन बढ़े और बड़ी संख्या में गोदाम स्थापित हों। इन दिशाओं में काम आरंभ किया जा चुका है।

गाँवों और शहरों के बीच में यातायात के साधन सुधारने की ओर अभी अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा करना आवश्यक है जिससे कि किसान आसानी और किफायत से मंडी में माल ला सकें जहाँ उसे अच्छे दाम मिल सकें।

मंडियों में तरह-तरह की हानिकारक प्रथाएँ स्थापित हैं जिनसे किसानों को भारी क्षति होती है। मंडियों पर निगरानी रखने की आवश्यकता है जिससे कि हानिकारक प्रथायें समाप्त हो जायें। कुछ राज्यों ने इसके लिए अधिनियम बनाये हैं और अब १० राज्यों में ऐसे नियम लागू हैं। प्रथम योजना के अन्त तक ४५० नियमित बाजार भी स्थापित हो चुके हैं। इन बाजारों में किसानों के मूल्य में से कटौती नहीं की जा सकती; तथा दलाल और तौलों का पुरस्कार निश्चित होता है। इनसे किसानों को बहुत लाभ हुआ है।

यदि किसान सहकारी विपणन को अपना सकें, तो वे विपणन की समस्या का सामूहिक रूप से अच्छा हल कर सकेंगे। सहकारी समितियाँ ऐसी होनी चाहिए कि वे किसानों को ऋण भी दे सकें तथा उपज की बिक्री भी कर सकें। ऐसी समितियों की स्थापना की चेष्टा हो रही है। आशा की जाती है कि द्वितीय योजना के अन्त तक बिकने वाली उपज का १०% भाग ऐसी समितियों के द्वारा बिकने लगेगा।

§ ६. भारत में खेती के लिए वित्त प्रबंध (Finance)

कृषि वित्त-प्रबंध से आशय किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं से है। भारतीय किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन विभागों में बाँटा

जा सकता है। अल्पकालीन ऋण थोड़े समय के लिये—साधारणतया एक साल से कम के लिये—आवश्यक होता है। इसकी आवश्यकता बीज तथा खाद खरीदने, घरेलू खर्च करने, लगान अदा करने, आदि के लिये पड़ती है। आशा यह होती है कि फसल के बेचते ही किसान इस ऋण का भुगतान कर देगा; यद्यपि कि यह आशा किसान की गरीबी तथा खेती की अनिश्चितता के कारण शायद ही कभी पूरी हो पाती हो। वास्तव में किसान की इतनी आमदनी भी नहीं होती कि वह अपना खर्च भी चला सके। उसे अपने प्रतिदिन के लिये भी ऋण उधार लेना पड़ता है। अतः अल्पकालीन ऋण दीर्घकालीन ऋण हो जाता है। दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता इस प्रकार के व्यय के लिये पड़ती है जिसका लाभ दीर्घकाल तक उठाया जाता है, जैसे कुएँ खोदने, नाली बनाने, बाड़ा बनाने तथा पशु और हल आदि खरीदने के लिये। ऐसे व्यय के फलस्वरूप किसानों की आय बढ़ जाती है, जिसके द्वारा वे इस ऋण का भुगतान कर सकते हैं। इन दोनों प्रकार के ऋणों की व्यवस्था करना आवश्यक है।

किन्तु अभाग्यवश ऐसा नहीं किया जा सका है। किसानों को इन दो प्रकार के ऋणों को देने के लिये अलग-अलग व्यवस्था नहीं है। वास्तव में, इस क्षेत्र में व्यवस्था है ही नहीं। ग्रामीण ऋण देने वाले व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपने-आप उठ खड़ी हुई हैं और किसानों की आवश्यकताओं की व्यवस्थित ढंग से पूर्ति करने का कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया है।

आजकल ग्रामीण ऋण का अधिकांश भाग साहूकारों तथा महाजनों से आता है। सन् १९५१ के "अखिल भारतीय ग्रामीण अन्वेषण" के अनुसार ग्रामीण साख का ७०% महाजन देते हैं। पेशेवाले महाजन ग्रामीण साख का ४५% तथा किसान-महाजन २५% भाग प्रदान करते हैं। किन्तु महाजनों द्वारा दिया गया वित्त संतोषजनक नहीं होता। वे ऊँचा व्याज वसूल करते हैं तथा अन्य प्रकार के भार (Charges) भी ऐंठते हैं जिससे किसान कंगाल हो जाता है। यह प्रस्ताव किया गया है कि महाजन के व्यवसाय को विधान द्वारा नियमित कर देना चाहिये। मुख्यतया उनकी अनिवार्य रजिस्ट्री होनी चाहिये और उनकी हिसाब की वहियों की अनिवार्य परीक्षा भी होनी चाहिये। भारत में लगभग सभी राज्यों में इस प्रकार के अधिनियम बनाये भी गये हैं। उनका तत्काल प्रभाव यह हुआ है कि किसानों के मिलने वाले वित्त की मात्रा में कमी हो गई है। आशा की जाती है कि कालान्तर में महाजन इस प्रकार के अधिनियम की आवश्यकता को समझेंगे और पहले की भांति ऋण देना आरम्भ कर देंगे। यदि रिजर्व बैंक उपयुक्त रीति से महाजनों को आधुनिक बैंकिंग प्रणाली से सम्बद्ध कर सके, तो बहुत अच्छा हो। यह महसूस किया जाता है कि महाजनों द्वारा दिये गये ऋण से उत्पादन को अधिक लाभ नहीं हो सकता क्योंकि वह विशेषतया उत्पादन की वृद्धि करने के लिये नहीं लिया-दिया जाता। अतः किसी अन्य बैंकिंग संस्था या प्रणाली का गाँवों में स्थापित करना आवश्यक है।

भारतीय व्यापारिक बैंक अपना काम अधिकतर शहरों में ही करते हैं और उन्होंने अभी तक गाँवों में प्रवेश नहीं किया है। वे आजकल समस्त ग्रामीण वित्त के १% का ही प्रबंध करते हैं। वे अधिकतर चलतू खाते पर रुपया जमा करते हैं और इस कारण दीर्घकालीन ऋण नहीं दे सकते। वे केवल खेती की कुछ मौसमी वित्त संबंधी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं और फसलों की बिक्री के लिये वित्त-प्रबंध कर सकते हैं। वे सीधे किसानों को ऋण नहीं देते प्रत्युत महाजनों, बड़े-बड़े किसानों एवं सहकारी

समितियों से सम्बंध रखते हैं। उनकी प्रमुख कठिनाई यह है कि किसान पर्याप्त जमानत नहीं दे सकते, और ऐसी हालत में किसानों को ऋण देना बैंक उचित नहीं समझते।

सरकार भी किसानों को ऋण देती है पर यह ऋण कुल ग्रामीण ऋण का ३% ही होता है। सरकार किसानों को तकावी ऋण देती है। किन्तु तकावी ऋण की रकम थाड़ी होती है और वह संकट के समय ही दिया जाता है। फिर वे उत्पादन के उद्देश्य से भी नहीं दिये जाते। सरकार "अधिक अन्न उपजाओ" तथा "भूमि सुधार ऋण अविनियम" के अंतर्गत भी ऋण देती है किन्तु इनकी रकम अधिक नहीं होती।

किसानों को सस्ता तथा पर्याप्त ऋण प्रदान करने के लिये सबसे उपयुक्त साधन सहकारी बैंक माने जाते हैं पर वे आजकल कुल कृषि वित्त का ३% भाग ही प्रदान करते हैं। उनकी उन्नति अब तक सीमित हुई है। उनकी सदस्यता ग्रामीण जन-संख्या के १% से अधिक नहीं, और लगभग एक-तिहाई सहकारी समितियाँ लगभग मरी हुई अवस्था में हैं। उनके अदत्त ऋण रु० २४ करोड़ हैं, जिनमें से ३/४ लम्बे अरसे से पड़े हुए हैं। ग्रामीण वित्त-प्रबन्ध करने में सहकारिता अब तक असफल रही है।

"अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण अन्वेषण" के अनुसार, महाजनों से मिलनेवाला वित्त उत्पत्ति बढ़ाने के लिये नहीं होता; तथा वित्त-संस्थाएँ गाँवों में क्रियाशील नहीं हैं। ग्रामीणों की धन-सम्बंधी आवश्यकताएँ पूरी करने का एकमात्र साधन सहका-रिता ही है। इसने लिखा कि "सहकारिता असफल हुई है, पर सहकारिता को सफल होना चाहिये।" किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि सहकारिता केवल ऋण देने पर ध्यान न दे प्रत्युत समस्त ग्रामीण वातावरण और अर्थ-व्यवस्था को दृष्टि में रक्खे। साथ ही पुराने स्वार्थी हितों का मुकाबला करने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार सहकारी संगठन का पूरा सहायता करे; और ऐसा न केवल साख के क्षेत्र में प्रत्युत विचयन (Processing) विपणन (marketing), गोदाम में माल रखने (Storage and warehousing) में भी ऐसा होना चाहिये। इस दृष्टि से उसने एक "संयुक्त ग्रामीण ऋण योजना" बनाई। इसका विवेचन "सहकारिता" नामक अध्याय में किया गया है।

§ ७. छोटे पैमाने की खेती

भारत में खेत अधिकांश में छोटे-छोटे हैं, अतः यह स्वाभाविक है कि यहाँ छोटे पैमाने की खेती हो। छोटे पैमाने की खेती हमारे देश के लिए विशेषतया उपयुक्त है। इसके कई कारण हैं: (१) खेतों के छोटे और छिटके होने के कारण बड़े पैमाने की खेती सम्भव ही नहीं। (२) बड़े पैमाने की खेती के लिए अधिक पूंजी चाहिए। भारतीय किसान के पास न तो स्वयं पूंजी होती है और न वह अपनी अज्ञानता के कारण सार्व-जनिक कंपनी स्थापित करके बड़ी पूंजी ही एकत्रित कर सकता है। (३) बड़े पैमाने की खेती के लिए संगठन की श्रेष्ठ योग्यता चाहिये जिसे हमारे किसान कभी प्राप्त नहीं कर पाते। (४) भारत अभी सामंत युग से पूंजीवादी युग में प्रवेश कर रहा है। सामंत युग का यह लक्षण है कि उसमें छोटे पैमाने पर उत्पत्ति की जाती है। अतः भारत में छोटे पैमाने की खेती इतनी लोकप्रिय होने में कुछ आश्चर्य नहीं।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि खेती का पैमाना छोटा होना कोई बुरी बात नहीं जैसा कि हम बता चुके हैं। सारे देशों में खेती छोटे पैमाने पर ही अधिकतर की जाती है। पर छोटे पैमाने की खेती कुशलतापूर्वक तथा सुचारु रूप से की जानी

चाहिए। हमारे देश में खेती का ढंग बहुत अकुशल है और उसकी कार्यक्षमता बहुत हीन है। अतः कृषि की उन्नति के लिए इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। केवल खेती का पैमाना बढ़ा देने से कृषि की उन्नति होना जरूरी नहीं।

§ ८. विस्तृत (Extensive) और गहरी (Intensive) खेती

किसी खेत का जोतने वाला किसी विशेष समय में उस खेत से कुछ निश्चित पैदावार करता है। यदि वह पैदावार बढ़ाना चाहे तो या तो (१) वह खेत का क्षेत्रफल बढ़ाये और या (२) उसी खेत पर अधिक श्रम और पूंजी का प्रयोग करे। ये दोनों ही रीतियां पैदावार बढ़ाने में सफल होंगी।

पहली रीति के अनुसार जोते जानेवाले खेत का क्षेत्रफल पहले से अधिक विस्तृत हो जाता है; अतः इसे विस्तृत खेती कहते हैं। दूसरी रीति के अनुसार उसी खेत पर पहले से अधिक श्रम और पूंजी का प्रयोग किया जाता है; अन्य शब्दों में, गहरी खेती की जाती है।१

पैदावार बढ़ाने के लिए किसान इन दोनों में से किसी भी रीति का पालन कर सकता है; किन्तु वह इन दोनों में से किस रीति को चुने, यह बहुत-कुछ लागत का प्रश्न है। यदि वह और पैदावार विस्तृत खेती के द्वारा गहरी खेती की अपेक्षा कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है, तो निस्संदेह यह विस्तृत खेती की रीति को ही अपनावेगा; किन्तु यदि उसे गहरी खेती की रीति सस्ती प्रतीत होगी, तो वह उसी का प्रयोग करेगा। जब भूमि की मात्रा इतनी प्रचुर होती है कि और भूमि कम मूल्य पर प्राप्त की जा सकती है, परन्तु श्रम और पूंजी की सापेक्षिक कमी होती है, तब विस्तृत खेती का प्रयोग किया जाता है। समस्त देशों के आर्थिक इतिहास के अध्ययन करने से स्पष्ट है कि प्रत्येक देश को जब प्रारम्भिक समय में अधिक कृषि-जन्य पतार्थ की आवश्यकता पड़ी, तो उसने विस्तृत खेती की रीति को अपनाया; क्योंकि उस समय भूमि की मात्रा इतनी प्रचुर थी कि जो जितनी भूमि चाहता वह उसे वस्तुतः निर्मूल्य ले सकता था। अमेरिका में आदि निवासी एक खेत को जोतते और जब उसकी उर्वरा-शक्ति का ह्रास होने लगता तो आगे बढ़ जाते और नयी भूमि को जोतना आरम्भ कर देते; इस रीति को "भूमि-वध" (Earth Butchery) कहकर निन्दित किया गया और यह विस्तृत खेती की अच्छी मिसाल है। किन्तु जब जनसंख्या का दबाव तीव्र होने पर भूमि दुर्लभ होने लगती है, किन्तु श्रम और पूंजी सापेक्षिक रूप से सस्ते होते हैं, तब गहरी खेती का आश्रय लिया जाता है। आधुनिक काल में जनसंख्या की बहुत वृद्धि हुई है और जमीन का मूल्य बहुत बढ़ गया है, जिसके परिणाम स्वरूप संसार के प्रायः प्रत्येक देश में गहरी खेती ने बहुत शीघ्र उन्नति की है, विशेषतः डेनमार्क और हालैण्ड में, जहाँ जोती जानेवाली जमीन के क्षेत्रफल के मुकाबले में जनसंख्या बहुत घनी है, गहरी खेती की जाती है। संसार के सबसे अधिक जनसंख्या वाले देश—चीन और भारत—में किसानों की अशिक्षा और निर्धनता के कारण अभी गहरी खेती की उन्नति नहीं हुई, पर यह अधिक लोकप्रिय हो रही है।

---

१ यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जब हम पैदावार बढ़ाना चाहते हैं तो हमें उत्पत्ति के समस्त साधनों की मात्रा बढ़ानी पड़ती है, किन्तु विस्तृत खेती में हम प्रधानतया भूमि की मात्रा बढ़ाते हैं, अन्य साधन अनुपात से कम मात्रा में बढ़ाये जाते हैं। इसके विपरीत, गहरी खेती में भूमि की मात्रा स्थिर रहती है किन्तु अन्य साधनों की मात्रा बढ़ा दी जाती है।

यह सोचना गलत है कि कोई देश या तो विस्तृत खेती की प्रणाली का प्रयोग करता है या गहरी खेती की प्रणाली का। वास्तव में कुछ काल तक प्रत्येक देश में विस्तृत और गहरी खेती साथ-साथ चलती है; पश्चात् को गहरी खेती का महत्व बढ़ जाता है, पर विस्तृत खेती भी धीरे-धीरे चलती रहती है और यह अदृश्य तो शायद कभी भी नहीं होती। गहरी खेती का प्रयोग (१) जनसंख्या की वृद्धि और (२) विशिष्ट (technical) आविष्कारों या सुधारों पर निर्भर होता है। आदि काल में जनसंख्या और टेक्निकल ज्ञान दोनों थोड़े होते हैं, अतः विस्तृत खेती की जाती है। किन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती जाती है, गहरी खेती की आवश्यकता भी बढ़ जाती है, और टेक्निकल आविष्कार या सुधार गहरी खेती को सम्भव बनाते हैं। इस अवस्था में गहरी खेती का लोकप्रिय हो जाना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं किसानों के पिछड़े हुए होने के कारण हो सकता है कि वे गहरी खेती न कर सकें। इसका भारतवर्ष अच्छा उदाहरण है। ऐसी दशा में गहरी खेती के प्रसार की गति धीमी होगी। तथापि गहरी खेती की ओर प्रवृत्ति अवश्य होगी और अधिकाधिक बढ़ती जायगी, और जनसंख्या में जितनी वृद्धि होगी तथा टेक्निकल सुधार जितने अधिक होंगे, उतना ही इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। अन्ततोगत्वा देश गहरी खेतीवाला देश बन जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विस्तृत खेती का पूर्णतया लोप हो जायगा, क्योंकि संसार के अधिकांश देशों में विस्तृत और गहरी खेती की रीतियाँ साथ-ही-साथ चलती हैं।

भारत में खेती का स्वभाव

विस्तृत और गहरी खेती की उन्नति—हमारे देश में खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए यह चेष्टा की जा रही है कि अधिक से अधिक क्षेत्रफल पर खेती की जाय; और साथ ही साथ यह भी कोशिश हो रही है कि प्रति एकड़ भूमि से अधिक पैदावार उत्पन्न की जाय। दूसरे शब्दों में, विस्तृत और गहरी खेती दोनों का ही सहारा लिया जा रहा है। (अ) विस्तृत खेती में वृद्धि होने का प्रमाण यह है कि जोती जानेवाली भूमि का क्षेत्रफल बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिए सन् १९३९–४० में २४ करोड़ एकड़ भूमि पर खेती हो रही थी पर १९४९–५० में यह क्षेत्रफल बढ़कर २८ करोड़ एकड़ हो गया और सन् १९५५–५६ में ३७ करोड़ एकड़।[1] (आ) गहरी खेती में वृद्धि होने का प्रमाण यह है कि अधिक पैदावार प्राप्त करने के तरीके अब अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। उदाहरण के लिए, सन् १९२१ में दो फसल उत्पन्न करने वाला क्षेत्रफल १ करोड़ एकड़ था पर यह सन् १९५१ में बढ़कर १½ करोड़ एकड़ हो गया। इसी प्रकार सींचे जानेवाला क्षेत्रफल सन् १९२१ में १½ करोड़ एकड़ से बढ़कर लगभग १¾ करोड़ एकड़ हो गया।[2]

गहरी खेती का भविष्य : पंचवर्षीय योजना—पंचवर्षीय योजना में खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए विस्तृत और गहरी खेती, दोनों का ही सहारा लिया गया है। विस्तृत खेती के लिए भूमि के उपादेयकरण (reclamation) का आयोजन किया गया है; और गहरी खेती के लिए सिंचाई के साधन बढ़ाने, अच्छे बीज के प्रयोग, खाद के लोक-

---

१ देखिये Ministry of Information and Broadcasting, *India in* 1953 (Delhi, 1953), p. 249

२ Census Commissioner for India, *Census of India* 1951 (Delhi 1953), Vol, I A, pp. 145-46

प्रिय बनाने, सामूहिक योजना आदि को अपनाया गया है। इससे स्पष्ट है कि योजना कमीशन के मत में खेती की पैदावार बढ़ाने के लिये हमें प्रधानतया गहरी खेती पर निर्भर रहना होगा।

गत तीन वर्षों में योजना ने अच्छी प्रगति की है। सन् १९५०-५१ में अनाज की पैदावार ५०० लाख टन थी। सन् १९५५–५६ में इसमें ६५० लाख टन की सीमा तक वृद्धि हुई। इसमें से आधी उन्नति तो प्रकृति की कृपा से हुई क्योंकि जलवायु और मौसम उपयुक्त रहा है। शेष आधी वृद्धि—अर्थात् ५५ लाख टन—मानवीय प्रयत्नों का परिणाम है। इसमें से भूमि के उपादेयकरण (reclamation) द्वारा केवल ३ लाख टन की वृद्धि हुई है। शेष वृद्धि गहरी खेती द्वारा हुई है। इससे स्पष्ट है कि भविष्य में खेती की उपज बढ़ाने के लिये हमें प्रधानतया गहरी खेती का सहारा लेना पड़ेगा।

गहरी खेती के महत्व के कारण—भारत में गहरी खेती का प्रसार और महत्व कई कारणों से बढ़ रहा है। पहली बात तो यह है कि हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि तीव्र गति से हो रही है। सन् १९२१ ई० और १९३१ के बीच में जनसंख्या ३ करोड़ बढ़ गई; और १९३१ और १९४१ के बीच में लगभग ४ करोड़ की वृद्धि हुई; तथा सन् १९४१ और १९५१ में भी लगभग उतनी ही वृद्धि हुई। इस वृद्धि के परिणाम-स्वरूप जोती जा सकने वाली बहुत कम भूमि अब जोती जा चुकी है, और अब अधिक पैदावार शायद गहरी खेती द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

जनसंख्या के दबाव की वृद्धि के अतिरिक्त दस्तकारी का विनाश भी गहरी खेती का एक कारण है। इस विनाश के कारण बहुत से दस्तकार और कारीगर बेकार हो गये, और देश में किसी और पेशे की अनुपस्थिति में वे सब खेती पर निर्भर रहने लगे।

अंत में, यातायात और संदेशवाहन के साधन इतने उन्नत हो चुके हैं कि भारतीय खेतों और विदेशी बाजारों के बीच की दूरी अब काफी संक्षिप्त हो गई। अब भारतीय पैदावार विदेशी बाजारों में आकर्षक मूल्य पर बेची जा सकती हैं। रुपये के प्रलोभन ने हमारे कृषकों को पैदावार बढ़ाने के लिए गहरी खेती की ओर झुकाया, क्योंकि नये खेत अप्राप्य थे।

गहरी खेती के प्रसार में बाधाएँ—किन्तु गहरी खेती के प्रसार में बाधाएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित हुई जिनमें से अधिक महत्वपूर्ण बातें नीचे दी जाती हैं।

(अ) यह कहा जाता है कि भारतीय किसान अज्ञानी और लकीर के फकीर हैं और यह सबसे बड़ी कठिनाई है। हमारे बहुत से किसान गहरी खेती के महत्व को ही नहीं समझे, और अगर वे समझते भी हैं तो उसे व्यवहार में नहीं लाते।

यह दोषारोपण किसी सीमा तक उचित तो है, किन्तु इसमें अतिशयोक्ति की मात्रा काफी है। जो भारतीय किसानों के सम्पर्क में आये हैं वे जानते हैं कि वे बहुत कुशल व्यापारी होते हैं, और यदि उन्हें विश्वास हो जाय कि कोई नवीन रीति वास्तव में उन्हें लाभ पहुँचायेगी तो वे उसको अपनाने में नहीं हिचकते। किन्तु वे अनिश्चित और अपरीक्षित रीतियों को, जिन्हें बहुधा सरकारी अफसर क्रूरतापूर्वक उनके सामने रखते हैं, नहीं अपनाना चाहते।

(आ) दूसरी कठिनाई यह है कि प्रतिपादक (Demonstrators) और प्रचारक (Propagandists) किसानों को समझाने और उनके विश्वासपात्र होने की रीतियों से

अनभिज्ञ होते हैं। अधिकत्तर वे अफसरों की भाँति व्यवहार करते हैं और वे मैत्री का भाव और वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करते। ऐसे वातावरण में विश्वास का पौधा प्रस्फुटित हो जाता है और किसान को इच्छित व्यवहार करने के लिए आसानी से राजी किया जा सकता है।

(इ) हमारे किसान कितने निर्धन हैं कि अधिक लागत के प्रस्तावों अथवा प्रयोगात्मक (Experimental) रीतियों को काम में नहीं ला सकते। यह भी एक महत्वपूर्ण बाधा है।

(ई) गहरी खेती इसलिये भी नहीं हो सकती कि हमारे किसानों के खेत छोटे-छोटे और छिटके हुए होते हैं; अतः यंत्रों या सुधरे हुए औजारों का प्रयोग अनार्थिक (Un-economic) हो जाता है।

(उ) कभी-कभी सिचाई के उचित साधन का अभाव भी गहरी खेती के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। क्योंकि यदि सूखे प्रदेश में अभाग्यवश उचित मात्रा में जलवृष्टि न हुई और सिचाई का कोई प्रबन्ध नहीं हुआ, तो गहरी खेती में जितने श्रम और पूंजी का प्रयोग हुआ है वह सब बेकार हो जायगा। यह जोखिम इतनी बड़ी है कि किसान इसके वहन करने में हिचकिचाते हैं।

(ऊ) यदि किसान गहरी खेती के द्वारा अधिक पैदावार करने के योग्य हों भी, तो भी वे पर्याप्त धन और बिक्री का उचित प्रबन्ध न होने के कारण अपनी योग्यता से लाभ नहीं उठा सकते।

भारतीय खेती का यंत्रीकरण

गहरी खेती का सबसे अग्रिम स्वरूप खेती का यंत्रीकरण है। कुछ व्यक्ति यंत्रीकरण और ट्रैक्टर के प्रयोग का विरोध करते हैं। उनके मत में भारतीय मिट्टी ट्रैक्टर के प्रयोग के उपयुक्त नहीं; और यंत्रों के प्रयोग से वे परिणाम नहीं होंगे जिसकी आशा की जाती है। फिर यंत्रीकरण बहुत-से किसानों को वे रोजगार कर देगा। यंत्र श्रम बचाते हैं और इस प्रकार किसानों को बेरोजगार कर देते हैं। यह समस्या मौलिक समस्या से भी दुष्कर होगी। अंत में, उनको यह भी भय है कि गहरी खेती उत्पादन इस सीमा तक बढ़ा देगी कि कदाचित् कृषि-पदार्थों का बाहुल्य हो जाय। हमें कृषि-पदार्थों का निर्यात करने का प्रयास नहीं करना चाहिये क्योंकि यह बहुत अनिश्चित है।

किन्तु ये धारणाएँ अधिक महत्व की नहीं। डा० बर्न्स जैसे विशेषज्ञ बार-बार कहते रहे हैं कि भारतीय मिट्टी की अवस्था ऐसी नहीं है कि उस पर गहरी खेती या यंत्रीकरण न किया जा सके। विशेषज्ञों का मत मान्य होना चाहिये। वालचन्दनगर तथा अन्य स्थानों पर जहाँ यंत्रों से खेती हुई है, वहाँ के परिणाम बहुत संतोषजनक रहे हैं। यह सत्य है कि यंत्रीकरण की प्रवृत्ति बेरोजगारी बढ़ाने की तरफ होती है; किन्तु क्योंकि हमारा उद्देश्य खेती की पैदावार बढ़ाना है, इसलिये बेरोजगारों को फिर से काम मिल जाने की आशा की जा सकती है। कुछ व्यक्तियों को यंत्र बनाने तथा सुधारने में, रसायनिक खाद तैयार करने आदि में भी काम मिल जायगा। फिर किसानों की आमदनी बढ़ने से वे अधिक वस्तुओं की माँग करेंगे जहाँ कुछ बेकार रोजगार में लग जायेंगे। फिर, हमें कृषि-पदार्थों के निर्यात से भी नहीं डरना चाहिये। हर उद्यम में अनिश्चितता स्वाभाविक रूप से होती है; और उसे कम करने या दूर करने के उपाय निकाले जा सकते हैं।

§ ९. भारत की खाद्य समस्या

भारतीय खेती इतनी हीन कुशलता से की जाती है कि वह कुल जनसंख्या के लिये पर्याप्त खाद्यान्न भी उत्पन्न नहीं। भारत के खेतिहर देश होते हुए भी वह अनाज में आत्म-निर्भर नहीं है, यह खेद का विषय है।

अनाज का उत्पादन

भारत सब महत्वपूर्ण अनाज पैदा करता है जिनमें से चावल का महत्व सबसे अधिक है। बगल की सारिणी में सन् १९४९-५० से भारत में अनाज का उत्पादन दिखाया गया है। इन सारिणी से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं: (१) भारत में अनाज का उत्पादन सामान्यता बढ़ रहा है। ५०० लाख टन प्रति वर्ष के स्तर से यह ६०० लाख टन प्रति वर्ष के स्तर तक पहुँच गया है, और अब ७०० लाख टन के स्तर को पहुँचाने की चेष्टा कर रहा है। (२) भारत में अनाज का उत्पादन स्थिर नहीं है वरन घटता-बढ़ता रहता है। वह बहुत अनिश्चित होता है, क्योंकि यह प्रकृति के रुख पर निर्भर रहता है। उदाहरण के लिये, प्रथम योजना के पहले दो सालों में अनाज का उत्पादन इतना कम हुआ कि इससे बहुत चिन्ता हुई और देशवासियों को बहुत कष्ट हुआ। इसके पश्चात् सन् १९५७-५८ में उपज में फिर कमी हुई जिससे जनता को कष्ट हुआ। देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के पालन के लिये अनाज का उत्पादन बढ़ाना नितान्त आवश्यक है।

सारिणी १८

भारत में अनाज का उत्पादन

वर्ष	लाख टन
१९४९–५०	५४०
१९५०–५१	५००
१९५१–५२	५१२
१९५२–५३	५८३
१९५३–५४	६८७
१९५४–५५	६७०
१९५५–५६	६५८
१९५६–५७	६८७
१९५७–५८	६२०

अनाज की कमी का प्रकट होना

जिस वर्ष वर्षा काफी नहीं होती या बाढ़ आ जाती है या अन्य कोई प्राकृतिक संकट आता है, तब अनाज की कमी हो जाती है। जब खेती सफल या अच्छी होती है, तब अनाज की कमी नहीं होती। उदाहरण के लिये पहली योजना के पिछले तीन वर्षों में और दूसरी योजना के पहले वर्ष में, खेती अच्छी हुई और अनाज काफी मात्रा में उत्पन्न हुआ। तब अनाज की कमी की शिकायत नहीं थी। अतः स्मरण रखना चाहिये कि अनाज की कमी हमारी कोई स्थायी या सदैव की समस्या नहीं है। यह समस्या फसल खराब होने पर ही उठ खड़ी होती है। हम आत्म-निर्भरता के किनारे पर स्थित हैं, और तनिक भी गड़बड़ होने से कमी हो जाती है। क्योंकि खाद्य की कमी से जनता को बहुत कष्ट होता है, और यह पहले से मालूम नहीं होता कि यह कमी कब प्रगट होगी, इसलिये इस समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया है।

अनाज की कमी के कारण

भारत में अनाज की कमी के कुछ महत्वपूर्ण कारण नीचे दिये जाते हैं:

(१) फसलों का खराब हो जाना—जब प्रकृति क्रूर होती है और कृषि निष्फल

हो जाती है, तभी भारत में अनाज की कमी हो जाती है। बाढ़, रूखा, टिड्डी तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोप फसल खराब कर देते और अनाज का उत्पादन कम कर देते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रथम योजना के पहले दो वर्षों में और दूसरी योजना के दूसरे वर्ष में फसलें खराब हुई और अनाज की कमी हुई।

(२) **बढ़ती हुई जनसंख्या**—फसलों का खराब होना अनाज की कमी का मूल कारण है, किन्तु इसके अन्य सहायक कारण भी हैं। देश की जनसंख्या गति से बढ़ रही है, जिस कारण देश को अनाज की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। किन्तु भाग्यवश अनाज की उपज भी साथ-साथ बढ़ रही है। वास्तव में, अनाज की उपज में जनसंख्या की अपेक्षा अधिक गति से वृद्धि हो रही है। उदाहरण के लिये, प्रथम योजना काल में जनसंख्या में ६१/२% की वृद्धि हुई पर अनाज के उत्पादन में २८.५% की।

(३) **आमदनी में वृद्धि**—देशवासियों की आज योजनात्मक उन्नति के फलस्वरूप बढ़ रही है। अतः अनाज का उपभोग भी बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता अब मोटे अनाज के स्थान पर अच्छे अनाज का उपभोग करने लगे है इस कारण चावल और गेहूं की कमी होने लगी है।

(४) **मंडी में अनाज का कम मात्रा में आना**—शहरी जनसंख्या उसी अनाज पर निर्भर होती है जो किसान मंडी में लाते हैं। मंडी में आने वाले अनाज की मात्रा अब कम हो रही है। किसानों की आर्थिक अवस्था सुधर रही है और अब वे स्वयं अनाज का उपभोग करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त वे अनाज को दबा कर रखने लगे हैं जिससे कि वे मूल्य बढ़ने पर उसे बेचें।

(५) **स्वास्थ्यप्रद खुराक के स्तर में वृद्धि**—स्वास्थ्य-विशारदों का कथन है कि प्रति व्यक्ति को इतना अनाज खाना चाहिये कि उसे ३,००० केलोरी प्रति दिन मिल जायें। सन् १९५५–५६ में भारत में प्रति व्यक्ति २,२०० केलोरी प्रति दिन पाता था। अब इस अवस्था में सुधार करने का प्रयत्न हो रहा है और आशा है कि सन् १९६०–६१ में यह अंक २,४५० केलोरी हो जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अनाज का उपभोग बढ़ेगा।

(६) **व्यापारियों द्वारा अनाज का रोका जाना**—जब अनाज के मूल्य बढ़ जाते हैं और व्यापारियों को मूल्यों के और आगे बढ़ने की आशा होती है, तब वे अनाज को दबा कर रख लेते हैं और बेचते नहीं हैं। यह सोचा जाता है कि अनाज की कमी का यह एक बहुत प्रमुख कारण है; किन्तु सन् १९५७ की अनाज जांच कमेटी का यह मत था कि अनाज की समस्या का भारत में यह कोई खास कारण नहीं है।

भारतीय अन्न समस्या का उपचार

(१) **अनाज के उत्पादन में वृद्धि करना**—देश में अनाज का उत्पादन बढ़ाने की इतना प्रयास करना चाहिये कि प्राकृतिक प्रकोप होने पर भी कोई कमी न हो। आशा की जाती है कि सन् १९६०–६१ में ७०० लाख टन अनाज की आवश्यकता पड़ेगी; किन्तु द्वितीय योजना का लक्ष्य ७५० लाख टन है। यह लक्ष्य ठीक ही स्थिर किया गया है। इस समस्या का यह मूल हल है।

(२) **अनाज संचय करना**—भारत सरकार को अनाज का संचय (Food Reserves) करके रखना चाहिये जिससे कि कमी के स्थान पर अनाज शीघ्र पहुँचाया जा सके। हमारी निजी पैदावार में से अन्न संचित करके रक्खा जा सकता है, और इस दृष्टि से अनाज का आयात भी करना चाहिये।

(३) **अनाज का आयात**—जब तक अन्न की कमी हो सकने का भय बना रहे, तब तक सरकार को विदेशों से अनाज के आयात करने की नीति को कार्यान्वित करना चाहिये। जब देश में अनाज की कमी है तब अनाज का यातायात करने में कोई लज्जा की बात नहीं है। आजकल यह होता है कि जब कमी दिखाई देती है तब जल्दी-जल्दी अनाज का आयात किया जाता है, पर यह नीति न तो उचित ही है और न सहायक ही। इसके स्थान पर निश्चित मात्रा में अनाज का बराबर आयात करते रहने की नीति अधिक श्रेष्ठ होगी।

(४) **गाँवों से अनाज एकत्रित करना**—सरकार को एक ऐसा संगठन स्थापित करना चाहिये जो किसानों से गाँवों में ही अनाज खरीद ले और ऐसे दर पर खरीदे जो किसानों को आकर्षित कर सके। इससे किसानों को भी लाभ होगा और शहर निवासियों को भी सुविधा होगी।

(५) **वितरण प्रथा में सुधार**—सरकार को वर्तमान वितरण प्रणाली में भी सुधार करना चाहिये जिससे कि संकट काल में व्यापारी वर्ग अनाज दबा कर बैठ जाने से रोका जा सके। इस दृष्टि से सरकार ने उचित मूल्य की दूकानें स्थापित की हैं। अनाज के थोक व्यापार को सरकार का अपने हाथ में ले लेना भी अच्छा होगा।

सारांश

भारत में ३८ करोड़ एकड़ पर खेती होती है। देश की प्रधान फसलें अनाज तथा व्यापारिक फसलें हैं।

१. भारत की प्रमुख खाद्य फसलें चावल, गेहूँ, जौ, मक्का, मोटे अनाज, दालें, फल-तरकारी, मसाले, गन्ना, चाय, कहवा, तम्बाकू तथा अफीम हैं। यहाँ की प्रमुख व्यापारिक फसलें कपास, सन, सिल्क, तिलहन तथा नील हैं।

२. भारतीय अर्थ-व्यवस्था में खेती का उच्च स्थान है। इसके कई संकेत मिलते हैं।

३. भारतीय खेती के पिछड़े होने के कारण हैं सिंचाई की कमी, खराब बीज, खाद की कमी, वित्त की कमी, छोटे और छिटके खेत, उत्पादन के पुराने तरीके, विपणन में कठिनाइयाँ, मालगुजारी की दोषपूर्ण प्रणाली, शिक्षा तथा अनुसंधान का अभाव, कृषि विभागों का खराब प्रशासन, इनके उपचार के लिये प्रयत्न वांछनीय हैं।

४. खेती की उपज को बढ़ाने के लिये दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में सुन्दर कार्यक्रम निर्धारित किये गये।

५. खेती की उपज के विपणन में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। उपज रखने के लिये गोदाम बनाना, कम ब्याज पर ऋण देने के लिये संस्थाएँ खोलना, सहकारी विपणन आदि के द्वारा इन कठिनाइयों को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये।

६. भारत में खेती के लिये उचित वित्त-प्रबंध भी करना आवश्यक है। वर्तमान स्रोत दोषपूर्ण हैं। सहकारिता असफल रही है। इसे सफल बनाना आवश्यक है।

७. हमारा देश छोटे पैमाने की खेती के बहुत उपयुक्त है।

८. भारत में विस्तृत तथा गहरी खेती दोनों की ही प्रगति हो रही है। गहरी खेती का देश में बहुत महत्व है पर मार्ग में बाधायें भी हैं।

९. भारत में खाद्य समस्या बहुत गंभीर है। इसके कई कारण हैं। इस समस्या का उपचार उचित ढंग से करना चाहिये।

परीक्षा प्रश्न

दिल्ली हायर सेकेन्डरी

1. What are the causes of low agricultural productivity in India ? What measures would you suggest to increase it ? (1958).

2. Do you think that the improvement of agriculture should be India's main concern ? Indicate the measures taken in this direction since independence. (1957).

3. Briefly describe the important problems of Indian farmer. Can you suggest any solutions ? (1926).

4. Distinguish between Sub-division and fragmentation of holdings. What harm do they cause to agriculture ? (1955).

5. Write a note on marketing of agricultural produce. (1955).

6. How far do you agree with the view that Sub-division and fragmentation of holdings is largely responsible for the backwardness of Indian agriculture ? Suggest measures to remove this defect. (1954).

पंजाब, इन्टर

7. Give approximately the total area under cultivation in the Union. (1955).

8. Give (*a*) the world production (*b*) names of two countries other than India, that are its most important producers and (*c*) Indian production in respect of any three of the following commodities :—Wheal, Miner oil, Sugar, Tea and Coal, (1954).

9. Consider the effect of Partition of Punjab on agricultural productivity. (1954).

जम्मू एन्ड काशमीर, इन्टर आर्ट्स

10. Give India's present annual output of food grains, Cotton Cloth, Sugar and steel. (1955).

11. Is there a food problem in Jammu and Kashmir State ? Discuss with the help of figures if you can. What will be the effect of the recent change in the State Government food policy on the State food situation ? (1954).

12. "The special problem of the Indian cultivator is that his purchasing power must be increased". Do you agree with this view ? Give concrete suggestions for achieving this result. (1954).

13. Write a note on Intensive cultivation in Kashmir. (1953).

14. Give the causes of the present food shortage in India. How can the situation be improved ? (1952).

15. Write a note on intensive cultivation. (1952).

16. Distinguish between "extensive" and "intensive" cultivation. What are the possibilities of cultivation in (*a*) Jammu and Kashmir (*b*) India. (1951).

17. Why are agricultural yields in India so low ? What remedies would you suggest to improve the situation ? (1951).

18. Do you think it right for India to try to achieve self sufficiency in food ? Can this be done ? (1951).

19. Discuss the Indian food problem with special reference to the conditions in Kashmir. What can be done to improve matters ? (1951).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

20. Write notes on Batai system and Hoarding Habit. (1950).

21. Compare the advantages of large scale farming and small scale farming. Which of these do you consider suitable in the case of India ? (1958).

22. Discuss the backwardness of Indian agriculture. Suggest remedies. (1957).

23. Discuss the importance of agriculture as the chief national occupation of India. (1956).

पटना, इन्टर आर्ट्स

24. What are the financial requirements of Indian agriculturist ? How and from what sources they are met ? (1958).

24A. Discuss the main defects of moral marketing in India. What suggestions can you make to improve it ? (1957).

25.Write a note on Grow-more food compaign. (1957).

26. What are the main crops cultivated in Bihar ? Discuss their relative importance and the factors governing their regional distribution. (1956).

27. Give an idea of defects of Indian agriculture. How far and in what manner they can be remedied ? (1955).

28. What attemts have been made the Government of Bihar to solve the problem of food deficit ? Examin their success. (1955)

बिहार, इन्टर आर्ट्स

29. Describe the prnicipal food crops of India and indicate thior regional distribution. (1958).

30. Write a note on mechanisation of agriculture. (1958).

31. Describe the important commercial crops of India. What is their regional distribution ? (1957).

32. What are the financial needs of agriculturists in your country ? How ond from what sources do they get the necessary finance ? (1957).

33. What are the main defects of Indian agriculture ? Give your suggestions for improvement. (1956, Supple.).

34 Describe briefly the important industrial raw material available in Bihar, and give their regional distribution within the State. (1956, Supple).

35. Describe the commercial crops of India. What is their importance in the *economy* of the country (1954, Supple.).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

36. What measures would you suggest to solve the food problem in India ? (1952).

अध्याय ११

भारत में भूमि सम्बन्धी सुधार

इस देश में यह माना जाने लगा है कि बड़ी सीमा तक खेती की सफलता भूमि सम्बन्धी कारणों पर निर्भर होती है। जब तक कि स्वस्थ, प्रगतिशील किन्तु यथार्थ भूमि-नीति नहीं अपनाई जाती, तब तक भारतीय कृषि उन्नति नहीं कर सकती। इस नीति को "भूमि सुधार नीति" कहते हैं। भारत ने एक उपयुक्त भूमि सुधार नीति अपना ली है और उसको धीरे-धीरे कार्य रूप में परिणत किया जा रहा है। इस नीति के आवश्यक लक्षण इस प्रकार है :

(अ) **किसान का स्वामित्व स्थापित करना**—किसानों में भूमि सुधार के लिये उपयुक्त भावना जगाने के लिये, उसको यह आश्वासन देना चाहिये कि न तो वह भूमि से हटाया जायगा और न उसका लगान ही बढ़ाया जायगा। इसके लिये सर्वश्रेष्ठ रीति यह है कि किसान जिस भूमि पर खेती करते हैं, उसका उसे स्वामी बना दिया जाय और वह सीधे सरकार को लगान अदा करे।

(आ) **भूमि का न्यायपूर्ण वितरण**—ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि का वर्तमान वितरण न्यायहीन तथा असमान है। एक सीमा पर तो बड़े-बड़े भूमिपति हैं जिनके पास बड़े-बड़े खेत हैं और दूसरी सीमा पर भूमिहीन मजदूर हैं। सफल खेती के लिये यह अवस्था अनुकूल नहीं। भूमिहीन मजदूरों या छोटे किसानों को खेती के हित में प्रयास करने का उचित अवसर नहीं मिल पाता; और उधर बड़े-बड़े किसान अपनी भूमि पर पूरा ध्यान नहीं दे सकते। अतः भूमि का पुनर्वितरण इस प्रकार करना चाहिये कि आर्थिक खेत बन सकें। आर्थिक खेत उस साइज के खेत को कहते हैं जिस पर प्रति इकाई लागत न्यूनतम होती है।

(इ) **सुधरी खेती और प्रबंध**—भूमि की पैदावार बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि भूमि के जोतने तथा खेती के प्रबंध करने के तरीकों में सुधार किया जाय। इस दशा में निम्न बातें आवश्यक है : (१) कुशल खेती-क्रिया विधान द्वारा अनिवार्य कर देनी चाहिये। (२) खेतों की चकबन्दी हो जानी चाहिये। (३) सहकारी खेती को प्रोत्साहन देना चाहिये।

भारत में इन तीनों दिशाओं में सुधार करने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। किसान स्वामित्व अब भारत में लगभग सर्वत्र स्थापित हो चुका है; और चकबंदी के विषय में भी कुछ सफलता मिली है। राष्ट्रीय कांग्रेस के नागपुर (१९५९) सम्मेलन के पश्चात्, भूमि के पुनर्वितरण तथा सहकारीकरण (Co-operativisation) का काम भारत भर में शुरू कर दिया जायगा। द्वितीय योजना के शेष काल में ही काफी प्रगति होने की आशा है। इस दिशा में तीसरी योजना काल में शेष कार्य पूरा करने की चेष्टा की जायगी।

§ १. किसान स्वामित्व: मध्यस्थों का उन्मूलन

पहला महत्वपूर्ण भूमि सुधार यह है कि किसान को उस भूमि का स्वामी बना दिया जाय

जिसकी वह जुताई करता है। भूमि से बहुधा तीन पक्षों का सम्बन्ध होता है: सरकार जो सब भूमि की अंतिम स्वामिनि है; भूमिपति या जमींदार जो सरकार से भूमि का निश्चित शर्तों पर पट्टा ले लेते हैं और फिर वे भूमि को किसानों को उठा देते हैं; और किसान जो भूमि को जोतते-बोते हैं। भूमिपति या जमींदार का सरकार एवं किसानों के मध्य में रहना कई समस्याएँ खड़ी कर देता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकार की यह स्वीकृत नीति है कि जमींदारों का उन्मूलन कर दिया जाय और किसानों को भूमि का स्वामी बना दिया जाय। इस प्रकार किसानों का सरकार के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जायगा और वे भूमि के मालिक बन जायेंगे। इस प्रणाली के अनेक लाभ हैं। यदि किसानों को भूमि का स्वामी बना दिया जाय और मध्यस्थों का लोप कर दिया जाय, तो उन्हें भूमि के सुधारने में और उसकी उर्वरा-शक्ति बढ़ाने में स्वाभाविक रुचि हो जायगी। मध्यस्थ उनका फिर शोषण नहीं कर सकेंगे और इसके फलस्वरूप उनकी आय भी बढ़ जायगी। यदि साथ ही साथ लगान की दर नीची रखी जाय, तब किसानों को विशेष लाभ हो सकेगा।

स्वतंत्रता के पूर्व मालगुजारी प्रथा

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व देश के सब भाग में सामान्यतः विद्यमान थे मालगुजारी की प्रमुख प्रथाएँ (अर्थात् वे शर्तें जिन पर सरकार से भूमि का पट्टा लिया जाता है) निम्न थीं :

(क) **जमींदारी प्रथा**—इस प्रथा के अंतर्गत एक व्यक्ति को किसी खास भूमि की जमींदारी दे दी जाती है और वह मालगुजारी देने का उत्तरदायी हो जाता है। उसे जमींदार कहते हैं। जमींदार उन किसानों से लगान वसूल करता है जिन्हें वह भूमि जोतने के लिए देता है। जमींदारों को भूमि स्थायी बन्दोबस्त पर दी जाती है या अस्थायी बन्दोबस्त पर। पहले बन्दोबस्त के अन्तर्गत जमींदारों को जमींदारी अधिकार सदैव के लिये मिल जाते हैं और वे सरकार को क्या मालगुजारी राशि चुका देंगे यह भी सदैव के लिये निर्धारित कर दिया जाता है। किन्तु अस्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत बन्दोबस्त केवल कुछ वर्षों के लिये किया जाता है और उस समय के व्यतीत हो जाने पर उसमें हेर-फेर किये जा सकते हैं। ब्रिटिश काल में, बंगाल, बिहार, मद्रास के उत्तरी जिलों तथा उत्तर प्रदेश के वाराणसी विभाग में स्थायी बन्दोबस्त था। उत्तर प्रदेश के शेष भागों में अस्थायी बन्दोबस्त था।

(ख) **महलवारी या संयुक्त गांव प्रथा**—इस प्रथा के अन्तर्गत, सरकार किसी भूमि या इलाके के सह-भागियों के साथ प्रसंविदा कर लेती है, जो सरकार को मालगुजारी अदा करने के लिये सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हो जाते हैं। सरकार गांववालों के प्रतिनिधि, जिसे लम्बरदार या मालगुजार कहते हैं, के साथ प्रसंविदा करती है; और मालगुजार मालगुजारी की अदायगी के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बन जाता है। यह प्रथा अधिकांशतः उत्तरी भारत में प्रचलित है। इस प्रथा के अंतर्गत बन्दोबस्त अस्थायी होता है।

(ग) **रैयतवाड़ी प्रथा**—इस प्रथा के अंतर्गत किसान सीधा सरकार से भूमि लेता है और सीधे सरकारी खजाने में मालगुजारी जमा करता है। सरकार और किसान के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता। ब्रिटिश काल में यह प्रथा अधिकांशतः दक्षिणी भारत में प्रचलित थी—विशेषतया बम्बई, मद्रास और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में।

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि केवल जमींदारी प्रथा में ही किसानों और सरकार

के बीच में मध्यस्थ आते हैं। अतः मध्यस्थों के उन्मूलन का अर्थ जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो गया। अब यह कार्यक्रम पूरा हो चुका है।

जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत जमींदार किसानों से लगान वसूल करता था; और कुल लगान का लगभग ५०% भाग वह सरकार को मालगुजारी के रूप में अदा करता था। इस प्रथा में किसानों के अधिकार सुरक्षित नहीं थे। वास्तव में जमींदार अपनी अवस्था का लाभ उठाकर गरीब और अनपढ़ किसानों का शोषण किया करता था। ऐसे शोषण से गरीब किसानों को कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता था प्रत्युत खेती की उन्नति भी की जाती थी। अतः किसानों की हालत में सुधार करने के लिये जमींदारी क्षेत्र में मालगुजारी विधान (Tenaey Lagislation) बनाया गया; किन्तु यह असफल रहा। अतः यह माना जावेगा कि जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बिना न तो हमारे किसानों की आर्थिक अवस्था ही अच्छी हो सकेगी और न भारतीय कृषि ही फल-फूल सकेगी।

जमींदारी प्रथा के खास-खास दोष निम्न थे : (१) जमींदार किसानो से मनमानी लगान वसूल करता था पर सरकार को वह उसका ५०% के लगभग ही अदा करता था। अतः वह सरकार तथा किसान, दोनों का ही शोषण करता था। (२) बहुत से जमींदार उचित हिसाब-किताब नहीं रखते थे और कभी-कभी किसानों से साल में एक बार से अधिक लगान वसूल कर लिया करते थे। (३) बहुधा जमींदार बहुत से अधिकार अपने लिये सुरक्षित कर लिया करते थे, और कभी-कभी किसान की अवस्था एक दास की भाँति हो जाती थी। कहीं-कहीं पर किसान बिना जमींदार की आज्ञा के और बिना कर या नजराना दिये हुए अपने लड़के या लड़की की शादी नहीं कर सकता था (४) जमींदार की प्रवृति हमेशा किसान को बेदखल करने की ओर रहती थी जिससे कि जमीन वह किसी दूसरे किसान को दे सके और उसे नजराना वसूल करने का अवसर मिले। (५) इन दशाओं में किसान को भूमि का सुधार करने के लिये शायद ही कोई प्रोत्साहन होता हो। उसको डर लगा रहता था कि यदि उसकी उपज अधिक हुई तो जमींदार लगान बढ़ा देगा।

जमींदारी प्रथा का उन्मूलन

देश स्वतंत्र होने के पश्चात् कई राज्यों में मध्यस्थों का उन्मूलन करने के लिए कानून बनाया गया जिनके अन्तर्गत उनके अधिकार के लोप होने के प्रतिफल में उन्हें हर्जाना दिया गया। यह कार्य प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के पहले ही शुरू कर दिया गया था, किन्तु इसको प्रथम योजना काल में विशेष उत्साह के साथ आगे बढ़ाया गया अब मध्यस्थ समाप्त हो गए हैं। अब देश के कोने-कोने में स्वयं किसान ही अपनी भूमि के स्वामी बन चुके हैं। भारत में यह एक महान् क्रान्तिकारी विकास हुआ है; और यह अर्थ-व्यवस्था एव सामाजिक संगठन में बिना उथल-पुथल किये सम्पन्न हो गया है, जो बड़े मार्के की बात है।

उन्मूलन सामान्य ढंग से इस प्रकार हुआ है : (१) सार्वजनिक भूमि और जंगल आदि, जो अब तक मध्यस्थों की सम्पत्ति थे, अब राज्य सरकारों की सम्पत्ति हो गए हैं। (२) जिस भूमि को मध्यस्थ स्वयं जुताई करते थे, वह उन्हीं के पास छोड़ दी गई है। मध्यस्थों के अपने खेत, जिन्हें वे किराये पर उठा दिया करते थे, उन्हीं के स्वामित्व में रहने दिये गये हैं; किन्तु जो किसान उन्हें जोतते थे, उनका अधिकार उनपर सुरक्षित कर दिया गया है। (३) जो किसान पहले भूमि को मध्यस्थों से लेते थे, वह अब उसको सरकार से लेते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका सम्पर्क सीधा सरकार से हो गया है।

उन्मूलन के पश्चात् की समस्याएं

मध्यस्थों के उन्मूलन के फलस्वरूप कुछ नई समस्याएं आ खड़ी हुई हैं, जिनपर सरकार गम्भीर विचार कर रही है। ये निम्नलिखित हैं :

(१) **मध्यस्थों को क्षतिपूर्ति**— मध्यस्थों के अधिकार को लोप करते समय उन्हें बदले में कुछ हर्जाना देने का व्यवधान किया गया। क्षतिपूर्ति की राशि हर राज्य में अलग-अलग निर्धारित की गई। मद्रास में यह केवल ९ रुपये प्रति एकड़ थी जो देश में सबसे कम है; बिहार में यह ३८ रुपये प्रति एकड़ थी जो देश में अधिकतम है। उत्तर प्रदेश में यह २७ रुपये प्रति एकड़ आकर पड़ी। समस्त राज्यों में हर्जाना (बेचान न किये जा सकने वाले) बांड में या तमस्सुक के रूप में दिया गया जिनपर ब्याज दिया जाता है और जो ४० साल के अन्दर अदा कर दिये जायेंगे। इस बात पर विचार किया जा रहा है कि इन बांडों के बदले में उन कम्पनियों के शेयर दे दिये जायें जो कि सरकार हमारे देश में बड़ी संख्या में स्थापित कर रही है।

(२) **भूमि-लेखों (Land Records) को तैयार करना और उनको शुद्ध करना**—अब भूमि सम्बन्धी लेखों, जिससे कि किसानों के नाम और उनके खेत जाने जा सकें और यह पता चल सके कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् वे सरकार को कितनी मालगुजारी अदा करेंगे, तैयार करने का प्रबन्ध हो रहा है, और जहां वे विद्यमान हैं, वहां उनको शुद्ध किया जा रहा है। साधारणतया अस्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में भूमि संबंधी लेखे उपलब्ध हैं; किन्तु स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में और जागीरदारी वाले क्षेत्रों में ग्रामीण लेखे प्रायः अप्राप्य से हैं। ऐसे क्षेत्रों में भूमि-लेखे नये सिरे से तैयार करने हैं। समस्त क्षेत्रों में उनकी विश्वस्तता एवं उनके स्वभाव में शुद्धि करना आवश्यक है। भारत में भूमि के स्वामित्व में मूलरूपी परिवर्तन करने की बात सोची जा रही है; इस कारण भूमि-लेखों का पूर्ण एवं व्यवस्थित होना नितांत आवश्यक है।

(३) **मालगुजारी वसूल करना**—मालगुजारी वसूल करने के लिए कुछ प्रबन्ध करना भी आवश्यक हो गया है। साधारणतया मालगुजारी-शासन भूमि-लेखे भी रखता है और मालगुजारी भी वसूल करता है। किन्तु जो क्षेत्र स्थाई बन्दोबस्त या जागीरदारी प्रथा के अन्तर्गत थे, वहां सरकार की ओर से मालगुजारी-शासन वस्तुतः है ही नहीं; यद्यपि अस्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में मालगुजारी-शासन का ढांचा विद्यमान है। अब हमें एक उत्तरदायी और समाज-सेवी मालगुजारी-शासन स्थापित करना है, जिससे मालगुजारी ठीक तरह से वसूल हो सके और किसानों पर अत्याचार भी न हो। यह नया शासन लेखे रक्खेगा, मालगुजारी वसूल करेगा और बेकार भूमि तथा जंगल आदि के उपयोग का उचित प्रबन्ध करेगा।

वर्तमान मालगुजारी प्रथा

मध्यस्थों के उन्मूलन के पश्चात् मालगुजारी की प्रथा पहले जमींदारी क्षेत्रों में अब रैयतवाड़ी प्रथा हो गई है। जो किसान पहले मध्यस्थों से भूमि को लगान पर लेते थे, वे अब उसे सीधे सरकार से लेते हैं। अतः देश में अब दो मालगुजारी प्रथाएं हैं—रैयतवाड़ी प्रथा तथा महलवारी प्रथा। किन्तु पहले वाले मुख्य किरायेदारों के भी किरायेदार (Tenants-at-will) अभी विद्यमान हैं जो कि भूमि के स्वामी नहीं बनाये गये हैं और जो अभी किरायेदार के रूप में ही चल रहे हैं। अतः वर्तमान किसान दो मुख्य कक्षाओं में विभाजित किये जा सकते हैं : (क) भू-स्वामी जो सरकार से भूमि पाये हुए हैं और

उसके मालिक हैं, और (ख) किरायेदार जो भू-स्वामियों से भूमि को लिये हुए हैं।

किरायेदार (Tenants-at-will)—जो किसान पहले से ही मुख्य किसानों से भूमि किराये पर लिये हुए हैं, उनको फिलहाल जारी रक्खा गया है। किन्तु उनकी अवस्था हर प्रकार से सुरक्षित कर दी गई है। (अ) अधिकांश राज्यों में उनका अधिकार सुरक्षित कर दिया गया है और अब उनसे आसानी से भूमि नहीं छीनी जा सकती। (आ) कई राज्यों में उनसे जो किराया वसूल किया जाता है उस पर नियन्त्रण कर दिया गया है, यद्यपि समस्त राज्यों में अभी ऐसा नहीं हुआ। किराया कुल उपज का $\frac{1}{5}$ या $\frac{1}{6}$ से अधिक नहीं हो सकता। इस दिशा में कार्य आगे बढ़ाया जा रहा है। (इ) बहुत से राज्यों में उनको भूमि हस्तान्तरण का भी बहुत-कुछ अधिकार प्राप्त है। (ई) इस बात पर अब ध्यान दिया जा रहा है कि इन किरायेदार किसानों को भूमि का स्वामी बनाया जाय या नहीं, या किस सीमा तक उनको अधिकार दिया जाय। विचार कुछ ऐसा हो रहा है कि बड़े-बड़े भू-स्वामियों के किरायेदारों को तो भू-स्वामित्व दे दिया जाय, किन्तु छोटे-छोटे भू-स्वामियों के किरायेदारों को अभी किरायेदार ही बना रहने दिया जाय।

भू-धारण (Land Tenure) के संबंध में प्रयुक्त होने वाले कुछ विशिष्ट शब्दों का अर्थ नीचे दिया जाता है।

कुछ विशिष्ट शब्द

भू-धारण प्रथा (Land Tenure)—Tenure शब्द लैटिन के Teneo शब्द से निकला है जिसका अर्थ है रखना। अतः इस शब्द का आशय इन शर्तों से हैं जिन पर सरकार से भूमि ली जाती है।

मालगुजारी (Land Revenue)—इसका आशय उस रकम से है जो भू-धारक (Land Holder) सरकार को भूमि के अधिकार के एवज में देता है। मालगुजारी जमींदारी प्रथा में जमींदार देता है, महलवारी प्रथा में मालगुजार तथा रैयतवाड़ी प्रथा में किसान; हर दशा में मालगुजारी खजाने में जमा की जाती है। इसका माप (Assessment) बन्दोबस्त के द्वारा होता है।

बन्दोबस्त (Settlement)—बन्दोबस्त के अन्तर्गत मालगुजारी की रकम स्थिर की जाती है, यह निश्चित किया जाता है कि कौन व्यक्ति मालगुजारी देने का उत्तरदायी है और भूमि में क्या निजी अधिकार तथा हित हैं। जब मालगुजारी सदैव के लिए निश्चित कर दी जाती है, तब **स्थायी बन्दोबस्त** होता है, किन्तु जब मालगुजारी कुछ काल के लिए ही स्थिर की जाती है, तो **अस्थायी बन्दोबस्त** होता है।

§ २ भूमि का पुनर्वितरण

क्योंकि अब मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया गया है, इसलिए भूमि के पुनर्वितरण का काम आरम्भ किया जा सकता है।

भूमि के पुनर्वितरण की प्रणाली यह होती है कि एक व्यक्ति के पास जितनी अधिकतम भूमि हो सकती है उसकी सीमा निर्धारित हो जाती है; और इसके अतिरिक्त भूमि सरकार उस व्यक्ति से लेकर भूमिहीन मजदूरों या छोटे किसानों को दे देती है। एक व्यक्ति के पास की भूमि की अधिकतम मात्रा निश्चित कर दी जाय या भूमि के स्वामित्व का वितरण न्यायपूर्ण हो, इस विषय पर निस्संदेह अधिकांश व्यक्ति सहमत होंगे। न्यायपूर्ण वितरण समानता का सृजन करेगा और ग्रामीण जनता के विविध समुदायों

को समान अवसर देगा। इससे भूमिहीन मजदूरों को भूमि प्राप्त हो जायगी जिससे न केवल उनका सामाजिक दर्जा ही ऊँचा होगा प्रत्युत उनको जीविका उपार्जन करने का अच्छा अवसर भी प्राप्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त ऐसा होने पर समानता और भ्रातृ-भावना का एक वातावरण पैदा हो जायगा, जिसमें सहकारिता अच्छी भाँति प्रस्फुटित हो सकेगी। इन समस्त दृष्टिकोणों से, हमारे देश में भूमि का पुनर्वितरण एक महान् महत्व का विषय है।

भूमि का वर्तमान वितरण—इस समय अधिकांश खेत छोटे हैं और उनमें से एक बड़ा प्रतिशत अनार्थिक खेतों का है। बीच की साइज के खेत थोड़ी संख्या में हैं। जहाँ तक बड़े-बड़े खेतों का सम्बन्ध है, वे अधिकांश क्षेत्रों में इने-गिने ही हैं; और बड़े-बड़े खेतों के ऐसे स्वामी जो किरायेदार नहीं रखते हैं प्रत्युत समस्त भूमि की स्वयं ही जुताई तथा उसका प्रबन्ध करते हैं, और भी कम हैं।

पुनर्वितरण के सम्बन्ध में सामान्य नीति——भारत में यह मूल सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति तभी क्षम्य है जब कि वह सामाजिक हित का वर्द्धन करे। भूमि के सम्बन्ध में इसका यह आशय हुआ कि एक व्यक्ति जितना खेत रख सकता है, उसकी अधिकतम सीमा निश्चित हो जानी चाहिये। किन्तु इस नीति में दो परिवर्तन हो चुके हैं। पहले इस बात पर जोर दिया गया कि वर्तमान खेतों में भावी वृद्धि होने पर रोक लगानी चाहिये। इस दृष्टिकोण से दो कदम उठाये गये थे प्रस्तावित किये गये :
(अ) भविष्य में प्राप्त की जानेवाली भूमि पर एक सीमा होनी चाहिए।
(आ) अपने खेतों पर निजी खेती आरम्भ करने की भी एक सीमा होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में, बड़े-बड़े किसानों को, जिन्होंने अपनी भूमि अन्य किसानों को उठा रक्खी है, उन्हें मनचाहा बेदखल करके स्वयं खेती शुरू करने पर रोकथाम होनी चाहिये। वे इस प्रकार कितने खेत पर निजी खेती आरम्भ कर सकते हैं, इसकी सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये।

किन्तु कांग्रेस के नागपुर (१९५९) सम्मेलन से अब इस नीति में परिवर्तन हुआ है। अब यह माना जाने लगा है कि एक व्यक्ति कितने खेत पर खेती कर सकता है, इसकी भी अधिकतम सीमा स्थिर होनी चाहिये; और अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन मजदूरों या छोटे किसानों में बाँट देना चाहिये। हर श्रेणी या वर्ग के किसानों के सम्बन्ध में निम्न नीति स्थिर है :

(अ) **बड़े भूस्वामी**——बड़े-बड़े भूस्वामियों के खेत छोटे करने के लिए यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति के खेत की अधिकतम साइज निश्चित कर दी जाय। यह नीति इस देश में अभी व्यवहार में नहीं लायी गई है, किन्तु यह प्रस्ताव किया गया है कि पारिवारिक खेत (Family Holding) के तिगुने से अधिक खेत किसी व्यक्ति के पास नहीं होने चाहिये। इस सीमा से अधिक जितने भी खेत किसी व्यक्ति के पास हों, वह उससे ले लेना चाहिये। यह भी सुझाव रक्खा गया है कि बड़े-बड़े भू-स्वामियों के वर्तमान किरायेदारों को भूस्वामी बना देना चाहिये। इससे बहुत-से व्यक्तियों को लाभ तो नहीं हो सकेगा किन्तु यह नीति उचित प्रतीत होती है।

(आ) **मध्यम भूस्वामी**——जहाँ तक मध्यम साइज के खेतों के भूस्वामियों का सम्बन्ध है, उनको जैसा है वैसा ही रहने देना चाहिये। यदि मध्यम भूस्वामियों ने किराये पर भूमि दे रक्खी हो, तो किरायेदारों को भी ज्यों का त्यों रहने दिया जाय।

(इ) लघु भूस्वामी—भारत में अधिकांश भूस्वामी छोटे-छोटे हैं। उनके खेत अनार्थिक और बिखरे हुए होते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उनके खेतों को एक स्थान पर कर दिया जाय और उनको बड़ा भी किया जाय जिससे कि वे आर्थिक साइज के हो जायें। वास्तव में, देश में यह समस्या एक बड़ी गम्भीर समस्या है।

(ई) भूमिहीन श्रमिक—भूमि-पुनर्वितरण की जो भी योजना बनाई जाय, उसमें सर्वप्रथम ध्यान उन किरायेदारों के हित को देना होगा जो आजकल किराये पर भूमि जोत रहे हैं। अतः यह स्पष्ट है कि पुनर्वितरण की योजना से भूमिहीन श्रमिकों को लाभ नहीं हो सकेगा। इस दृष्टिकोण से आचार्य विनोबा भावे द्वारा आरम्भ किए गए भूदान आन्दोलन अर्थात् (बड़े भूस्वामियों द्वारा भूमि दान कर देना जिससे कि उसे भूमिहीन व्यक्तियों को दिया जा सके) विशेष महत्व का है क्योंकि यह भूमिहीन श्रमिकों को भूमि का स्वामी बनाने और उनको अपनी अवस्था में सुधार करने का सुअवसर प्रदान करता है।

३ भूमि जुताई एवं प्रबन्ध नीति

भारत में भूमि-प्रबन्ध की नीति के दो मुख्य उद्देश्य हैं : (क) खेती की उत्पत्ति की वृद्धि में जो बाधाएँ भूमि-स्वामित्व एवं वितरण द्वारा सामने आती हैं, उनको हटाना; और (ख) ऐसी अवस्थाएँ उपस्थित करना जो कार्यक्षमता एवं उत्पादकता में वृद्धि करे। पहली दिशा में जो काम किया जा चुका है, उसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। अब हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि दूसरा उद्देश्य किस प्रकार पूरा करनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

भूमि-प्रबन्ध में कार्यक्षमता

भूमि की जुताई और खेती दक्षतापूर्वक हो, इसके लिये कानून द्वारा कार्यक्षमता का मान (Standard) निश्चित कर देना चाहिये, और व्यक्तिगत भूस्वामियों को कार्यक्षमता बढ़ाने पर बाध्य करना चाहिये। इस प्रकार का भूमि-प्रबन्ध सम्बन्धी कानून केवल बड़े-बड़े भू-स्वामियों पर ही लागू नहीं होना चाहिये, प्रत्युत वह समस्त किसानों पर लागू होना चाहिये—चाहे वह छोटा हो या मध्यम या बड़ा। अभी से प्रत्येक खेत का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक होना चाहिये; तभी हमारी कृषि सम्बन्धी उपज काफी और गतिपूर्वक बढ़ सकेगी। मान निर्धारित करते समय दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये : (अ) हर खेत की उपज में वृद्धि की सीमा निर्धारित करनी चाहिये; (आ) खेती की उर्वराशक्ति की रक्षा और उन्नति करने के लिए भी कुछ लक्ष्य स्थिर करना चाहिये। इन लक्ष्यों या मानों को इस प्रकार निर्धारित करना अभीष्ट होगा कि किसान इन्हें आसानी से समझ सके और यह भी सरलता से परीक्षण हो सके कि इन लक्ष्यों को प्राप्त किया गया है अथवा नहीं।

खेतों की चकबन्दी—खेतों की कुशल जुताई और प्रबन्ध के लिए हमारे देश में उनकी चकबन्दी करना बहुत आवश्यक है। यह बताया जा चुका है कि चकबन्दी श्रम और समय की बचत करती है और सिंचाई सम्भव बनाकर खेतों की उपज बढ़ाती है। यह मार्ग तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करने में भी सहायक होती है।

भारत में खेती के पिछड़े होने का एक बड़ा कारण खेतों का छोटा तथा छिटका होना है। हमारे देश में किसानों के पास औसतन दो एकड़ भूमि होती है, जो अनार्थिक होती है फिर इतना छोटा क्षेत्रफल एक स्थान पर एकत्रित रूप में नहीं होता प्रत्युत वह छोटी-छोटी टुकड़ियों में बटा होता है जिनके बीच में काफी फासला होता है। कुछ खेत तो इतने छोटे होते है कि उनमें बैलों का मोड़ना तक कठिन होता है।

खेतों का छोटा होना उपविभाजन का परिणाम है। "खेत" (Holdings) से आशय भूमि के उस समस्त क्षेत्रफल से है जिसे किसान जोतता बोता है। पिता की मृत्यु पर उसके लड़के तथा आश्रित उसके खेत का उपविभाजन कर देते हैं; फलतः वह उपविभाजन द्वारा कई छोटे-छोटे खेतों में बँट जाता है। इसके अतिरिक्त किसान का खेत कई भू-खण्डों (Plots) या टुकड़ियों में बँटा होता है जिनकी उर्वरा-शक्ति तथा विभिन्न फसलों के उगाहने की योग्यता अलग-अलग होती है। अतः उत्तराधिकारी हर भू-खण्ड या टुकड़ी का उपविभाजन कराते हैं। अतः खेतों का छिटकापन सदैव विद्यमान रहता है।

खेतों के छोटे और छिटके होने के दोष—खेतों का छोटा और छिटका होना खेती की उन्नति में बहुत बाधक सिद्ध होता है। खेतों के छोटे होने के कारण किसानों के हल तथा अन्य सामान पूरी तरह प्रयुक्त नहीं होते—बैल तथा खेती के उपकरण (Tools) का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं हो पाता। बाड़ा बनवाना फिजूल खर्ची मालूम पड़ती है, और बाड़ा न होने से पशु और चोर फसल को नुकसान पहुँचाते हैं। संभवतः खेती की सफलता के लिए कुएँ का होना नितान्त आवश्यक है, किन्तु यह बनवाया नहीं जायेगा, क्योंकि यह अनार्थिक (Uneconomic) होगा। छोटे-छोटे टुकड़ों पर श्रम-संचक यंत्रों का भी प्रयोग नहीं हो सकता।

खेतों का छिटका होना भी कई दिशाओं में हानिकारक होता है। किसान हर भू-खण्ड पर रह नहीं सकता; इससे कुशल खेती में बाधा आती है। एक भू-खण्ड से दूसरे भू-खण्ड के जाने में काफी समय और शक्ति का अपव्यय होता है। यह बात व्यक्तियों पर ही नहीं वरन पशुओं पर भी लागू होती है। दूर-दूर स्थित टुकड़ों पर खाद, गोबर, आदि ले जाने में काफी छीजन हो जाती है। फिर मेड़ तथा रास्ता बनाने में बहुत सी भूमि बेकार हो जाती है। सीमा संबंधी अधिकारों तथा अन्य विषयों पर अक्सर झगडे होते रहते हैं जो कि मुकदमेबाजी का आधार बन जाते हैं। कीटिंग महोदय ने लिखा है कि यह एक ऐसा महान दोष है जिसके पक्ष में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

खेतों के छोटे और छिटके होने के पक्ष में उक्तियाँ—वैसे तो खेतों के छोटे तथा छिटके होने से काफी हानि होती है फिर भी उनसे कुछ दिशाओं में लाभ भी होता है। विभिन्न टुकड़ों पर अलग-अलग फसलें होने के कारण अत्यधिक वर्षा अथवा सूखा कुछ ही टुकड़ी को क्षति पहुँचाता है, अन्य को नहीं। अतः किसानों के लिए यह संभव होता है कि वे अपने सारे अनुभव को एक ही टोकरी में न रक्खें। इसके अतिरिक्त विभिन्न फसलें पैदा करने पर किसान को वर्ष भर कुछ न कुछ काम लगा ही रहता है। अतः वह बेरोजगार नहीं हो पाता। अन्त में, इसके कारण भूमि का वितरण अधिक व्यक्तियों में होता है?

किन्तु सामान्यतया यह लाभ व्यवहार में कम ही प्रकट होते हैं। अधिकतर खेतों के छोटे और छिटके होने से हानियाँ ही होती हैं। अतः इस दोष के कारणों का पता लगाना और उनको दूर करना आवश्यक है।

छोटेपन और छिटकेपन के कारण

इसके कारण बहुत हैं। रायल कृषि कमीशन ने इसके चार कारण बताये :

(१) उत्तराधिकार के कानून, (२) भारतीय जनसंख्या की द्रुतिपूर्वक वृद्धि (३) महाजनों की लोलुपता, और (४) जीविकोपार्जन के वैकल्पिक साधनों का अभाव। कुछ चिन्तन से प्रतीत होता है कि इस समस्या के बुनियादी कारण दो हैं; व्यक्तिवाद की बढ़ती हुई भावना और अर्थ-व्यवस्था में पेशेवार असंतुलन। व्यक्तिवाद पश्चिमी सभ्यता का वरदान है; और इसके कारण संयुक्त परिवार प्रणाली अस्तव्यस्त हो रही है और भूमि

छोटे-छोटे टुकड़ों में उपविभाजित होती जा रही है। पेशेवार संतुलन तब से ही खो गया जब से कि मशीन से बने विदेशी माल ने देशी माल से घातक प्रतियोगिता शुरू की जो कारीगर बेकार हो गये, उन्होंने खेती की शरण ली। यह नयी और कृत्रिम भूमि-क्षुधा उपविभाजन द्वारा ही संतुष्ट की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त प्रकृति की अनिष्टता से बचने के लिए किसान हर प्रकार की भूमि अपने पास रखने के लिए चिन्तित हो गया—इस कारण भी उपविभाजन को प्रोत्साहन मिला।

उपाय

ऊपर की विवेचना के आधार पर इस दोष के निवारण के लिये कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। व्यक्तिवाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को कोई प्रत्यक्ष अंकुश नहीं लगाया जा सकता। किन्तु अर्थव्यवस्था में पेशेवार सतुलन लाने की चेष्टा अवश्य की जा सकती है। इसके लिए हमें देश का गति से औद्योगीकरण करना अभीष्ट होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति में हमें संरक्षण की नीति, अनुकूल द्राव्यिक नीति तथा सहायक प्रशासकीय रुख की आवश्यकता होगी। उद्योगों के उन्नत होने पर किसान कारखानों में काम करने लगेंगे, भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम हो जायगा और चकबन्दी होने लगेगी।

किन्तु यह समस्या का मूल रूपी हल है और इसमें काफी समय लगेगा। तात्कालिक निदान यह है कि खेतों को आर्थिक साइज का बना दिया जाय और फिर उनका उपविभाजन रोक दिया जाय इसके लिए सहकारी सिद्धान्त का सफल प्रयोग किया गया है। पहले तो कोशिश यह की गई कि चकबन्दी सहकारी समितियों के वे ही किसान सदस्य बनाये जायें जो चकबन्दी के लिए तैयार हैं। इसमें सहायता मिली किन्तु यह अनुभव हुआ कि कुछ बंधन लगाने से सफलता अधिक मिल सकेगी। अतः कई राज्यों में ऐसे कानून बने हैं कि यदि किसी गाँव में कुछ प्रतिशत किसान चकबन्दी चाहते हैं, तो उस गाँव में चकबन्दी कर दी जायगी।

यदि सहकारी खेती (Cooperative Farming) का सिद्धान्त लागू हो जाय, तो खेतों के छोटे और छिटके होने के दोष प्रकट ही नहीं होंगे। उस अवस्था में सब खेत सहकारी समिति को मिल जायेंगे; और वह एक तरफ से उनकी जुताई-बुआई करेगी। अतः अवस्था यह होगी कि समिति के पास बड़े-बड़े खेत हो जायेंगे। किसान इन खेतों पर काम करेंगे और इसके प्रतिफल में उन्हें मजदूरी मिलेगी। खेती से जो भी लाभ होगा वह किसानों में उनके खेत के क्षेत्रफल के अनुपात में बांट दिया जायगा।

इस दिशा में हाल में ही मार्के की उन्नति केवल थोड़े से ही राज्यों में हुई है। विभिन्न राज्यों में मार्च सन् १९५५ तक होने वाली प्रगति नीचे के अंकों से स्पष्ट हो जायगी :—

पंजाब	४० लाख एकड़
मध्य प्रदेश	२५ लाख एकड़
पेप्सू	१० लाख एकड़
बम्बई	१ हजार ६० गाँव
दिल्ली	२१० गाँव
उत्तर प्रदेश	२१ जिले

इससे स्पष्ट है कि चकबन्दी आन्दोलन हमें काफी दूर तक ले जाना है। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सामुदायिक योजना वाले क्षेत्रों में चकबन्दी कार्यक्रम को केन्द्रीय महत्व देना चाहिये।

सहकारी खेती

हमारे देश में खेती की उन्नति करने में एक बड़ी बाधा इस कारण आकर पड़ जाती है कि हमारे किसानों के खेत छोटे-छोटे और अनार्थिक हैं। भूमि पर जनसंख्या का दबाव जितना बढ़ता जाता है, उतनी ही अनार्थिक खेतों की संख्या में वृद्धि होती जाती है। यदि हम खेती की उपज को काफी अधिक बढ़ाना चाहते हैं, तो इसके लिए वैज्ञानिक रीतियों और पूंजी के विनियोग का बड़ी मात्रा में प्रयोग करना होगा; और ऐसा तभी हो सकता है जब कि खेत बड़े-बड़े हों। बड़े-बड़े खेत बनाने का उपाय सहकारी खेती है। इसका अर्थ यह है कि एक सहकारी खेती समिति बना ली जाय और उसको किसान अपनी इच्छा से अपनी भूमि दे दें; और फिर उसकी जुताई एक साथ हो।

तब भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े एक साथ मिला दिये जायेंगे और फलतः बड़े-बड़े खेत बन जायेंगे। ऐसे खेत किफायत से जोते जा सकते हैं, और उन पर मशीनों का भी प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार सहकारी खेती, खेतों के छोटे और छिटके होने की समस्या हल कर सकती है।

सहकारी सेवा, सहकारी खेती तथा सामूहिक खेती में अन्तर्भेद करना आवश्यक है। "सहकारी सेवा समिति" किसानों को उनकी सामान्य आवश्यकताओं (जैसे बीज, खाद तथा विपणन की समस्यायें) को पूरी करने के लिए संगठित करती है। संभवतः यह किसानों की टोलियाँ भी बना सकती है जो कि सब खेतों को संयुक्त रूप से जोतें और बोयें और उनकी फसल को एक तरफ से काटते चले जायें। "सहकारी खेती समिति" हर सदस्य के खेत को खेती के लिए स्वयं ले लेती है और वे सब खेत एक बड़े खेत का रूप ग्रहण कर लेते हैं। जितनी उपज या आय होती है, किसानों में उनके खेत के अनुपात में बाँट दी जाती है। "सामूहिक खेत" में किसान न केवल अपने खेत को जोतने का अधिकार ही समर्पित कर देते हैं प्रत्युत उसका स्वामित्व भी दे डालते हैं; और खेतों से जो भी आय होती है वह उनके श्रम के अनुपात में बाँट दी जाती है। भारत में सहकारी सेवा समितियाँ आसानी से बनाई जा सकती हैं। सामूहिक खेती का चलना असंभव सा है क्योंकि भूमि किसान की प्राण है और वे उसे दे डालने के लिए तैयार नहीं होंगे। यदि उचित सावधानी से काम लिया जाय, तो सहकारी कृषि हमारे देश में बहुत सफल हो सकती है।

§ ४. खेतिहर मजदूर

हमारे गाँवों में ऐसे बहुत से व्यक्ति होते हैं जिनके पास भूमि होती ही नहीं और जो अपनी जीविका चलाने के लिए दूसरों के खेतों पर मजदूरों की भाँति काम करते हैं। इनको खेतिहर मजदूर कहा जाता है। हाल में इनकी संख्या में काफी वृद्धि हुई है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार खेतिहर मजदूर ग्रामीण आबादी के १८ प्रतिशत हैं। हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की यह एक गम्भीर कमजोरी है कि उसमें इतनी बड़ी संख्या में खेतिहर मजदूर हैं, जिनको लगातार काम नहीं मिलता और जो बहुधा सामाजिक अयोग्यताओं के शिकार होते हैं।

अब ऐसी दशाएँ हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में उपस्थित होती जा रही हैं जो कि भूमिहीन मजदूरों की अवस्था सुधार रही हैं। सिंचाई के साधनों में वृद्धि, गहरी खेती, एवं कृषि की उत्पत्ति में वृद्धि ने इन मजदूरों को अब अधिक काम प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। औद्योगिक उन्नति, यातायात का विकास तथा अन्य इस प्रकार के कार्यक्रमों ने भी उनकी

अवस्था कुछ सीमा तक सुधारी है। यदि उन क्षेत्रों में जहाँ कि भूमिहीन मजदूर अधिक संख्या में रहते हैं विशेष आर्थिक उन्नति का आयोजन किया जाय, तो यह अधिक अच्छा होगा। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अन्तर्गत राज्यसरकारों को खेतिहर मजदूर की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। अधिकांश राज्यों में ऐसा कानून लागू करने के लिए काम भी किया जा रहा है। बड़े-बड़े खेतों के सम्बन्ध में न्यूनतम मजदूरी निश्चित भी कर दी गई है। जिन क्षेत्रों में मजदूरी कम है, बड़े-बड़े खेतों पर, और तीव्र उन्नति के लिए चुने गए गाँवों में न्यूनतम मजदूरी आसानी से निर्धारित की जा सकती है और उनको सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है।

सारांश

भूमि-सुधार के अंग हैं किसान का स्वामित्व स्थापित करना, भूमि का न्यायपूर्ण वितरण, सुधरी खेती और प्रबंध। तीनों दिशाओं में प्रयत्न हो रहा है।

१. स्वतंत्रता के पूर्व जमींदारी, महलवारी तथा रैयतवाड़ी प्रथाएँ विद्यमान थीं। किन्तु अब जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो गया है। इसके कई कारण हैं: उन्मूलन के पश्चात् की तीनों समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

(२) भूमि का पुनर्वितरण भी करना चाहिये। अधिकतम सीमा के पश्चात् की भूमि लेकर भूमिहीन मजदूर या छोटे किसानों में बांट देनी चाहिए।

३. खेती की उपज बढ़ाने में बाधाओं का हटाना तथा भूमि-प्रबंध में कार्यक्षमता स्थापित करना भी आवश्यक है।

४. खेतिहर मजदूरों की दशा बहुत शोचनीय है। उसमें सुधार करना अभीष्ट है।

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी

1. Write a note on consolidation of holdings. (1957).

2. Distinguish between sub-section and fragmentation of holdings. What harm do they cause to agriculture? (1955).

3. Give your programme of rural reconstruction in India. (1955).

4. Write a note on Abolition of Zamindari (1964).

5. How far do you agree with the view that sub-division and fragmentation of holding is largely responsible for the backwardness of Indian agriculture? Suggest measures to remove this defect. (1954).

पंजाब, इन्टर

6. What are and where are the principal varieties of soil to be found in India? Enumerate the causes of soil erosion and State what steps are being taken by the Government to present it. (1958).

6A. What is land revenue? How is it assessed in the Punjab? (1957).

7. What are the main features of the land reforms in the Punjab or Uttar Pradesh introduced since independence? To what extent has the position of the tenant improved as a result of these reforms? (1958).

8. Write a note on Bhoodan Movement. 1956).

जम्मू एन्ड काशमीर, आर्ट्स

9. Write a note on size of holdings in India (1955).

10. Write a note on necessity of abolishing land lordism in India. (1954).

10A. Write a note on Land Revenue. (1952)

11. Account for the Sub-division and fragmentation of holdings in India. Does the phenomenon exist in your State? What are its consequences? (1951).

12. Write a note on soil erosion. (1951)

13. Give an account of the climates and soils of India and point out thier economic importance. (1950)

13A. Write a note on the Land Assessment in the Punjab. (1950).

14. "One of major causes of backwardness of agriculture in India and the poverty of the ryot is the awful Sub-division and fragmentation of land." Explain this and give the steps taken in the Punjab to remedy the evils. (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

15. Write a note on Bhoodan Movement. (1958).

16. Discuss the causes and possible remedies of Sub-division and Fragmentation of Holdings in India. (1957).

16A. Write a note on Zamindari and ryotwari systems of land tenure. 1957).

16B. Describe the Zamindari system of land tenure in India. make out a case for its abolition. (1955).

पटना, इन्टर आर्ट्स

17. Discuss the effects of the Bhoodan Movement on Indian agriculture. (1958).

18. Write a note on Economic Holdings. (1957).

19. Discuss the different land reform measures introduced in Bihar in recent times. How far are they expected to improve the agricultural position of the State? (1957).

20. What is the significance of Bhudan Movement in Bihar? How far is it expected to be suceessful? (1955).

21. Give an idea of the benefits which will rise from Zamindari abolition. (1955).

22. Classify the land area of Bihar, pointing out the various uses to which land is being put. Is it possible to utilise our land better? If so, how. (1954).

23. Would you suggest co-operative or collective farming for solving the problem of Sub-division and fragmentation of agricultural holdings in India? (1954).

राष्ट्रीयकरण का भय भी कुछ चिन्ता उत्पन्न कर रहा है। मजदूरी की लागत अब काफी बढ़ गई है। जमशेदपुर में, जो इस उद्योग का प्रमुख केन्द्र है, मजदूरी दुगुनी हो गई है किन्तु प्रति-व्यक्ति औसत उत्पत्ति पहले से केवल ⅔ रह गई है; अन्य शब्दों में श्रम की लागत पहले से तीन गुना बढ़ गई है। (३) यद्यपि इस उद्योग का यन्त्रीकरण हुआ है, फिर भी यह मजदूरों को बड़ी संख्या में काम पर लगाता है।

प्राचीन समय में हमारे क्षेत्र में लोहे और इस्पात के उद्योग का एक महत्वपूर्ण स्थान था, किन्तु उस समय मशीनों का प्रयोग नहीं किया जाता था। यह प्राचीन उद्योग इस्पात के कारखानों का मुकावला नही कर सका और धीरे-धीरे इसका विनाश हो गया। कुछ समय वाद योरोपवासियों ने इस उद्योग को कारखानों के आधार पर भारत में स्थापित करने की चेष्टा की। शुरू-शुरू में तो इन उद्योगों को सफलता नहीं मिली, किन्तु वाद को अवस्था सुधरी। वराकार आइरन वर्क्स के स्थापित होने के साथ-साथ देश में इस उद्योग का आरम्भ हुआ। टाटा आइरन ऐंड स्टील कम्पनी का वनना सन् १९०५ में आरम्भ हुआ; इसने कच्चे लोहे (pig iron) को सन् १९११ और इस्पात को सन् १९१३ में वनाना आरम्भ किया। इस कम्पनी ने हमारे देश में इस उद्योग के इतिहास में दूसरा अध्याय जोड़ दिया। इस कम्पनी ने इस्पात वनाना आरम्भ किया ही था कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। सरकार ने टाटा कम्पनी को अपने अधिकार में कर लिया और जव तक लड़ाई चलती रही इसका कारखाना दिन-रात काम पर लगा रहा। युद्ध के समाप्त होने पर विदेशी लोहा भारतीय लोहा का मुकावला करने लगा और सरकार ने आयात-कर वढ़ाकर भारतीय उद्योग को संरक्षण प्रदान किया। संरक्षण मिल जाने पर और भी कम्पनियाँ स्था- पित की गईं। जैसा ऊपर वताया जा चुका है, अव यह उद्योग देश का सफल और वड़ा उद्योग है।

भारतीय चीनी उद्योग

भारतीय चीनी उद्योग का जन्म हाल में ही हुआ है, और यह संरक्षण नीति की देन है। यदि हम गुड़ और चीनी दोनों को लें, तो भारत संसार में चीनी पैदा करने वाला सवसे वड़ा देश है। हमारी अर्थ-व्यवस्था में सूती कपड़े के उद्योग के पश्चात् चीनी का उद्योग आता है।

आजकल देश में लगभग १६० चीनी की मिलें काम कर रही हैं। उनमें से लग-भग १०९ उत्तर प्रदेश और विहार में हैं। देश की आधी मिलें तो अकेली उत्तर प्रदेश में ही हैं। उत्पत्ति की मात्रा के हिसाव से, उत्तर प्रदेश का स्थान पहला है और विहार का दूसरा। विहार में देश की २५ प्रतिशत मिलें स्थापित हैं; और देश की कुल उत्पत्ति का लगभग २५ प्रतिशत भाग भी विहार पैदा करता है। मद्रास और वम्बई में भी चीनी वनाई जाती है। नीचे के कोष्ठक में चीनी की उत्पत्ति के आँकड़े दिये जाते हैं।

सारिणी २२

भारत में चीनी की उत्पत्ति

साल	लाख टन
१९४७–४८	१०००
१९५०–५१	११००
१९५५–५६	१९००
१९६०–६१	२३५०
१९६५–६६ (लक्ष्य)	३०००

हमारी वर्तमान वार्षिक चीनी की उपज २३ लाख टन के बराबर है। हमारा देश चीनी निर्यात करने लगा है। इस उद्योग को विस्तृत करने के लिए अभी काफी क्षेत्र है। आजकल हम २६ पौंड प्रति व्यक्ति चीनी का उपभोग करते हैं; किन्तु संतुलित आहार में यह कम से कम २० औंस प्रति दिन प्रति व्यक्ति होना चाहिये। यदि चीनी सस्ती दर पर मिले, तो इसका उपभोग निश्चित रूप से बढ़ जायगा।

भारतीय चीनी उद्योग का इतिहास बहुत रोचक है। प्राचीन काल में भारत बहुत बड़ा चीनी का उत्पादक एवं निर्यातकर्त्ता था। सन् १९०० तक संसार में उत्पन्न होने वाली आधी चीनी भारत में बनती थी। किन्तु जब योरोप में बीट रूट(baet-root)से चीनी बनने लगी, तब से भारतीय उद्योग का महत्व गिरने लगा। बाद को जावा एवं मारिशस ने यह उद्योग चलाया और हमारे देश को चीनी भेजना आरम्भ कर दिया गया। इसका आश्चर्यजनक परिणाम हुआ और चीनी की मिलें धड़ाधड़ खुलने लगी। इससे स्पष्ट है कि इस उद्योग का आधुनिक इतिहास केवल २५ वर्ष पुराना है और इस समय में उसने महान् उन्नति की है। हम अब चीनी के मामले मे आत्मनिर्भर हैं और इसका निर्यात भी हम करने लगे हैं।

कागज का उद्योग

भारत में कागज का उद्योग भी उन्नति कर रहा है। जबसे इस उद्योग को संरक्षण मिला है, तब से इसने गतिपूर्वक उन्नति की है। सन् १९५०–५१ में कागज की उत्पत्ति केवल १.१ लाख टन थी, किन्तु १९५५–५६ में यह २ लाख टन हो गई। इस उद्योग में अब और पूंजी लगाई गई और सन् १९६०–६१ में इसकी उत्पत्ति बढ़कर ३.२ लाख टन हो गई। सन् १९६५–६६ का लक्ष्य ७ लाख टन का है।

प्राचीन काल में हमारे देश में कागज बनाया जाता था, किन्तु, अन्य उद्योगों की भाँति, मशीन के बने कागज का आयात होने पर इसका विनाश होने लगा। मशीन का उपयोग करने वाली कागज की मिल सबसे पहले सन् १८३० में स्थापित की गई जिसका नाम बेली मिल्स था। सुप्रसिद्ध टीटागढ़ पेपर मिल्स सन् १८८२ में कायम हुई, और उसने

वेली मिल्स को सन् १९०५ में खरीद लिया। कागज के बनाने का काम वास्तव में सन् १९२२ में आरम्भ हुआ जब कि इन्डियन पेपर पल्प कम्पनी ने कागज बनाना शुरू किया। अब देश की भीतरी क्षेत्रों में भी कागज की मिलें स्थापित हो चुकी हैं, जिसका कि लखनऊ की अपर इन्डिया कूपर पेपर मिल्स एक उदाहरण है।

दियासलाई का उद्योग

भारत में लगभग ३० दियासलाई के कारखाने हैं। इस उद्योग का विकास सन् १९२२ से आरम्भ हुआ क्योंकि इस वर्ष इसको संरक्षण दिया गया। वैसे तो दियासलाई के कारखाने इसके पहले भी स्थापित किये गये थे, किन्तु ये कारखाने दोषपूर्ण प्रबन्ध के कारण अथवा स्थिति अनुपयुक्त होने के कारण, असफल रहे। केवल गुजरात इस्लाम फैक्टरी, जो अहमदाबाद में स्थापित की गई थी, जारी रही। संरक्षण मिल जाने के पश्चात् यह उद्योग उत्तरोत्तर उन्नति करता गया है और अब हम दियासलाई के मामले में आत्म-निर्भर हैं।

कांच का उद्योग

भारत में कांच का सामान बड़े पुराने समय से बनाया जाता है, किन्तु इसका आधुनिक इतिहास सन् १८९० से आरम्भ होता है क्योंकि इस वर्ष कुछ कांच के कारखाने स्थापित हुए। कुछ समय तक ये कारखाने असफल रहे, किन्तु हाल में उनको सफलता मिली है। ये अधिकतर चूड़ियां, चिमनी तथा बोतल आदि बनाते हैं।

यह उद्योग अधिकांश में कुटीर उद्योग के आधार पर विकसित हुआ है। वैसे तो यह प्रायः देश के हर क्षेत्र में वितरित है, किन्तु यह प्रधानतया फीरोजाबाद और बेलगांव में केन्द्रित है। उद्योग की दशा अच्छी है और यह चूड़ियों की मांग को प्रधानतया संतुष्ट करता रहा है। एक समय चूड़ी में जापान की स्पर्धा ने भयानक रूप धारण कर लिया था किन्तु अब इस भय से मुक्ति मिल चुकी है। कारखाने के आधार पर कांच का सामान बनाने में अभी अधिक उन्नति नहीं की गई है। वर्तमान कारखाने या तो कांच के सामान या चूड़ियां बनाते हैं जैसा कि फीरोजाबाद में होता है, या चिमनियां या बोतल बनाते हैं जैसा कि नैनी और बहजोई में होता है। इस उद्योग ने संतोषजनक उन्नति की है और आशा है कि इसकी उन्नति भविष्य में और अधिक होगी।

सीमेंट उद्योग

सीमेंट एक आधार उद्योग है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए हमें सीमेंट की उत्पत्ति काफी मात्रा में बढ़ानी पड़ेगी। इसकी उत्पत्ति बढ़ाने का गम्भीर प्रयास किया भी जा रहा है। सन् १९५५-५६ में इसकी उत्पत्ति ४३टन थी, जो सन् १९६०-६१ में बढ़कर १३० लाख टन हो जायगी। इस उद्योग का विकास प्रधानतया व्यक्तिगत क्षेत्र में में ही हुआ है, किन्तु भविष्य में सरकार इस क्षेत्र में अब पदार्पण करेगी यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र में उसकी उत्पत्ति प्रति वर्ष ५ लाख टन से अधिक होने की आशा नहीं है।

सारांश

१. कार्यशील जनता के ९% को उद्योग रोजगार देते हैं। देश की आर्थिक उन्नति के लिये उद्योगों का विकास करना आवश्यक है।

२. भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण हैं ब्रिटिश सरकार की उदासीनता, स्पष्ट नीति का अभाव, पूंजी की कमी, संगठन शक्ति का अभाव, आदि। इनको दूर करने के लिये प्रयत्न करने चाहिये।

३. स्वतंत्रता के पश्चात् आर्थिक योजना के द्वारा औद्योगिक उन्नति की जा रही है। उन्नति की गति बढ़ रही है। सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्र, दोनों में विकास हो रहा है और भारी उद्योगों पर विशेष जोर दिया जा रहा है।

४. सार्वजनिक क्षेत्र में लोहे और इस्पात, भारी मशीनों, रासायनिक खाद, भारी इंजीयनिरिंग, मध्यम और हल्के इंजीनियरिंग और भारी रसायन उद्योग विकसित हो रहे हैं।

५. भारत में व्यक्तिगत क्षेत्र में भी काफी उन्नति हो रही है।

६. सूती कपड़े, जूट, लोहे और इस्पात, चीनी, कागज, दियासलाई, कांच और सीमेंट के उद्योग भारत में प्रमुख हैं।

परीक्षा प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी

1. Write a note on "Industries in Delhi." (1958).

2. Do you advocate industrial development by large scale methods alone? (1955).

3. What are the difficulties in the way of India's rapid industrialisation? Discuss the steps that are being taken to remove them. (1954).

पंजाब, इन्टर

4. Give a general account of the industrial development of Punjab since Independence. (1958).

5. Give a brief account of the development of the Iron and Steel industry in India. Why is it called a basic industry? How is the Government helping its expansion? (1955).

जम्मू एन्ड काशमीर, इन्टर आर्ट्स

6. What are the main centres of the following Indian large industries, and why?

(*i*) The Cotton Textile Industry.

(*ii*) The Iron and Steel Industry.

(*iii*) The Sugar Industry. (1955).

7. What is a large scale factory? What are the economic advantages of having such factories? Write short descriptive notes on any two large factories in Jammu and Kashmir. (1954).

8. What are the important large-Scale industries in Kashmir. Describe any one of those in the special reference to—

(*a*) the process of manufacture.

(*b*) labour conditions. (1951).

9. Differentiate between a tool and a machine. Analyse the advantages and disadvantages of production by machine. Illustrate your answer by examples from your part of country. (1950).

पटना, इन्टर आर्ट्स

10. Account for the industrial backwardness of India. (1958).

11. Describe the growth, the present position of either (*a*) the cotton industry or (*b*) the Iron and Steel Industry in India. (1957).

12. Name any two leading modern large scale industries of Bihar. Give their locations, present condition and problems. (1956)

13. What is the present position of cement industry in India ? (1955).

बिहार, इन्टर आर्ट्स

14. Examine the causes of the industrial backwardness of India. What steps have been taken recently by the Government to industrialise the country ? (1956, Supple.)

15. Describe briefly the development and present position of the iron and steel industry in India. (1956, Supple).

16. Write a short history of the iron and steel industry in India. (1954, Supple.)

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

17. Describe the present position of any one of the large scale industries in India. 1952."

18. Describe the present position of any two of the large scale industries of India. (1951).

अध्याय १३
कुटीर और छोटे उद्योग

सामान बनाने का काम केवल बड़े-बड़े कारखानों में ही नहीं होता किन्तु यह छोटी-छोटी निर्माणशालाओं में भी होता है जो कारीगरों की कुटियों या घरों के एक भाग होते हैं और जिसमें वे स्वयं (या एक या दो निवासियों के साथ) काम करते हैं; या यह छोटे उद्योगों के रूप में भी होता है जो शक्ति से चलने वाली छोटी-छोटी मशीनें प्रयुक्त करते हैं। पिछले अध्याय में हमने कारखानेवाले, अथवा बड़े पैमाने के, उद्योगों का अध्ययन किया था; अब हम इस अध्याय में अन्य उद्योगों का अध्ययन करेंगे।

§ १. अर्थ और क्षेत्र

यह अभाग्य का विषय है कि "कुटीर उद्योग", ग्रामीण उद्योग", "दस्तकारी" और "छोटे उद्योग", आदि, शब्द का अर्थ अब तक स्थिर नहीं किया गया है, और उनका प्रयोग संदिग्ध रूप से होता रहा है। ब्रिटिश काल में सन् १९१६ के इन्डियन इन्डस्ट्रियल कमीशन ने तथा सन् १९३० की बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने इन शब्दों की परिभाषा करने की चेष्टा की, पर इनका अर्थ स्थिर न हो सका। हाल मे सन् १९४९-५० के फिस्कल कमीशन ने, सामुदायिक योजना शासन, ने, योजना आयोग ने, सन् १९५५ की अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने तथा छोटे पैमाने के उद्योग कमिटी ने भी इस दिशा में प्रयास किया है; किन्तु प्रत्येक ने इन शब्दों का अपना निजी अर्थ दिया है और बहुधा वे परस्पर विरोधी भी हैं। अतः इस बात की आवश्यकता है कि इनके इस प्रकार के अर्थ स्थिर किये जायें जो सब प्रकार से सन्तोषजनक हों।

निर्माण उद्योगों का वर्गीकरण

मोटे तौर से मिर्माण उद्योग, पैमाने के दृष्टिकोण से, तीन भागों में बाँटे जा सकते है—छोटे पैमाने के उद्योग, बड़े पैमाने के उद्योग और कुटीर उद्योग कुटीर उद्योगों का
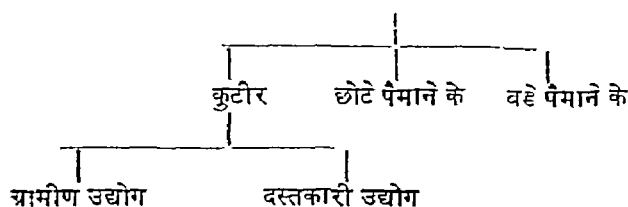
चित्र १७—निर्माण उद्योगों का वर्गीकरण

ग्रामीण उद्योगों और दस्तकारी उद्योगों में उप-विभाजन हो सकता है।

कुटीर उद्योग (Cottage Industries)

सबसे छोटा पैमाना जिस पर भारत में निर्माण कार्य होता है, कुटीर पैमाना है। ऐसे उद्योगों को कुटीर उद्योग कहते हैं। **कुटीर उद्योग उन उद्योगों को कहा जाता है जो कुटीर आधार पर कारीगरों के परिवारवालों द्वारा किये जाते हैं, जो थोड़ी-सी पूंजी और साधारण औजार प्रयुक्त करते हैं, जो अधिकतर स्थानीय कच्चा माल और कुशलता काम में लाते हैं, और जो अधिकतर स्थानीय बाजारों के लिये माल बनाते हैं।** जब ऐसे उद्योग गाँवों में स्थापित होते हैं, तो उनको **ग्रामीण उद्योग** कहा जाता है; और वे शहरों में स्थापित होते हैं, तब उन्हें **दस्तकारी** कहा जाता है।

ग्रामीण उद्योग—ग्रामीण उद्योग उन कुटीर उद्योगों को कहते हैं जो ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित होते हैं। ये स्वभाव से स्थानीय होते हैं—ये अधिकतर स्थानीय कच्चा माल, स्थानीय मानवीय शक्ति और स्थानीय साहस का प्रयोग करते हैं तथा स्थानीय बाजारों के लिये माल तैयार करते हैं। इनकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: **वे उद्योग जो ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित होते हैं और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अंतरंग भाग होते हैं, जो स्थानीय कच्चा माल, मानवीय शक्ति तथा साहस का प्रयोग करते हैं, और जो स्थानीय बाजारों के लिए अधिकतर माल बनाते हैं, उन्हें ग्रामीण उद्योग कहा जाता है।** यह शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है, और इसके अन्तर्गत ग्रामीण कलात्मक पेशे (Arts and Crafts) जैसे कपड़े की छपाई, बर्तन बनाना और आदिम जातियों की कारीगरी भी आते हैं।

दस्तकारी उद्योग (Handicrafts Industries)—भारत में कुछ कलात्मक एवं विशेष प्रकार के माल हाथों से बनाने की परिपाटी बड़े पुराने समय से चली आ रही है। **प्राचीन कुशलता के उपयोग से हाथों द्वारा कलात्मक वस्तुओं को बनाना दस्तकारी कहलाता है।** यह काम कुछ परिवारों के सदस्य मिलकर करते हैं जो प्राचीन तथा पीढ़ियों से चली आने वाली कुशलता के स्वामी होते हैं, जो बहुत थोड़ी पूंजी काम में लाते हैं और जो अधिकतर स्थानीय बाजारों में बिकने वाला माल बनाते हैं। दस्तकारी उद्योग अधिकांश में शहरी क्षेत्रों में पाये जाते हैं, लेकिन उनमें से कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में भी कहीं-कहीं स्थापित होते हैं।

लघु-माप्य उद्योग (Small Scale Industries)

छोटे पैमाने या लघु-माप्य उद्योग, पैमाने तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, कुटीर उद्योगों तथा कारखाना उद्योगों के बीच में आते हैं। वे मशीन, शक्ति तथा आधुनिक शैली (Technique) का तो प्रयोग करते है, किन्तु कारखानों के मुकाबले वे कम पूंजी लगाते हैं और थोड़े से मजदूरों को रखते हैं। लघु-माप्य उद्योग समिति (Small-Scale Industries Board) इस श्रेणी में वे सब इकाइयां शामिल करती है जो ५ लाख रुपये से कम की पूंजी लगाते हैं और जो ५० मजदूरों से कम से काम कराते हैं। अतः हम लघु-माप्य उद्योगों को इस प्रकार की परिभाषा दे सकते हैं: **जो उद्योग शहरों या शहरी क्षेत्रों में स्थापित होते हैं, जो शक्ति परिचालित मशीन और आधुनिक शैली (Technique) का प्रयोग करते हैं, जो पाँच लाख रुपये से कम की पूंजी से काम करते हैं और जो ५० से कम मजदूर रखते हैं; उनको लघु-माप्य उद्योग कहा जाता है।**

दीर्घ-माप्य या कारखाने वाले उद्योग

दीर्घ-माप्य उद्योग शहरों में पाये जाते हैं और ५ लाख रुपये से भी अधिक पूंजी प्रयुक्त

करते हैं। वे मशीन और शक्ति का प्रयोग करते हैं और उनके मजदूरों की संख्या सामान्यतया ५० से भी अधिक होती है। हमने पिछले अध्याय में भारत में पाये जानेवाले ऐसे उद्योगों का विस्तृत वर्णन किया है।

§ २. भारतीय अर्थ व्यवस्था में कुटीर उद्योगों का महत्व

हमारी अर्थ-व्यवस्था में कुटीर उद्योगों का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है, यद्यपि उनका महत्व बहुधा पूरी तौर से समझा नहीं जाता।

उनका भारतीय अर्थ व्यवस्था में स्थान

कुटीर उद्योगों का, रोजगार तथा धन की उत्पत्ति के दृष्टिकोणों से, बड़ा महत्व है। समस्त उद्योग कार्यशील जनता के १४ प्रतिशत को रोजगार देते हैं तथा यह संख्या १४५ लाख आती है। कारखाने केवल ३० लाख व्यक्तियों को रोजगार देते हैं; और शेष ११५ लाख व्यक्ति कुटीर एवं लघु-माप्य उद्योगों में संलग्न हैं। अतः कारखानों की अपेक्षा ऐसे ऐसे उद्योगों का महत्व बहुत अधिक है। इस प्रकार साल में कारखानेवाले उद्योग लगभग ५५० लाख रुपये का माल बनाते हैं, किन्तु कुटीर एवं लघु-माप्य उद्योगों की उत्पत्ति ९१० लाख रुपये वार्षिक पर आँकी गयी है। मोटे तौर पर लघु-माप्य उद्योग कारखानों की अपेक्षा दुगने मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं। इससे कुटीर और लघु-माप्य उद्योगों का महत्व आसानी से समझा जा सकता है। यह आवश्यक प्रतीत होता कि हम इनकी समस्याओं को समझें तथा उनको हल करने का प्रयास करें जिसमे कि इनकी उन्नति हो सके।

भारत में उनका महत्व

ऐसे उद्योगों का हमारे देश में महत्व आसानी से समझा जा सकता है। ब्रिटिश काल में यह बहुधा कहा जाता था कि इस प्रकार के उद्योगों की स्वाभाविक मृत्यु होना निश्चित है और इसलिए उनके सुधार पर श्रम, धन और विचार लगाना उचित नहीं होगा। यह विचारधारा गलत थी। स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद इन उद्योगों का महत्व समझा जाने लगा है और आर्थिक प्राविधान में इनको उचित स्थान प्राप्त हुआ है। इनका महत्व इन बातों से जाना जा सकता है :

(१) कुटीर उद्योग कृषकों को खाली समय में रोजगार देते हैं क्योंकि वे कुटीर उद्योगों को खेती पर काम न होने के समय चला सकते हैं। उनमें से कुछ उद्योग किसानों को वैकल्पिक पेशे प्रदान करते हैं : वे किसानों को खेती छोड़कर कारीगर बनने का अवसर देते हैं। इसके अतिरिक्त वे हजारों व्यक्तियों की जीविका के साधन हैं। रोजगार के ऐसे पूर्ण साधन की हमें रक्षा करनी चाहिये और उसको सफल बनाना चाहिये। उनके रोजगार देने की सामर्थ्य बढ़ाई भी जा सकती है

(२) घरेलू उद्योग हमारे देशवासियों के स्वभाव तथा रुढ़ियों के अनुकूल हैं और कारखानेवाले उद्योगों की अपेक्षा उन्हें बहुत से स्वाभाविक लाभ प्राप्त हैं। यदि शिक्षा, धन, उत्पत्ति तथा विपणन का उचित बन्ध कर दिया जाय, तो उनमें से बहुत से स्थायी रूप से स्थापित हो सकते हैं और उन मनुष्यों को बहुत लाभ पहुँचा सकते हैं जिन्हें नौकरी या जीविका का कोई वैकल्पिक साधन प्राप्त नहीं।

(३) घरेलू उद्योगों की उन्नति से काल-जन्य संकट कम हो जायगा। सन् १८८०

के अकाल कमीशन के मत में अकाल का मूल कारण यह था कि अधिकांश व्यक्तियों का केवल कृषि ही एकमात्र पेशा है और उन्होंने वताया कि औद्योगीकरण ही अकाल की एकमात्र औषधि है।

(४) कारखाने ने जनसंख्या के घनत्व को थोड़े-से स्थानों में केन्द्रित कर दिया है। अतः घने वसे हुए शहर, उचित निवास-स्थान का अभाव, शारीरिक एवं नैतिक पतन की समस्याएँ, आदि, हमारे सामने आती हैं। घरेलू उद्योगों का प्रसार और ग्रामीणकरण करके इन दोषों को दूर किया जा सकता है।

(५) अंत में घरेलू उद्योग ही ऐसे उद्योग हैं जिनमें कारीगर खुले हुए साफ-सुथरे और स्वस्थ स्थानों में अपने परिवार के सदस्यों के साथ काम करते हैं। परिवार के सदस्यों के साथ काम करने में परिश्रम मधुर प्रतीत होता है; और कुछ श्रम जो साधारणतया वेकार जाता, उसका उपयोग भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपने कुटुम्बियों के साथ काम करने में मनुष्यों में संस्कृति और शिष्टता का विकास भी होता है।

कारखानेवाले उद्योग वनाम घरेलू उद्योग

कभी-कभी शंका की जाती है कि कदाचित् घरेलू उद्योग कारखाने वाले उद्योगों की स्पर्द्धा सहन न कर सकें। कारखानों का वड़े पैमाने की उत्पत्ति से सम्वन्धित वाह्य और आभ्यन्तरिक वचत का, श्रम-विभाजन का और यन्त्रीकरण का लाभ होता है; अतः उनकी प्रति इकाई लागत घरेलू उद्योगों की अपेक्षा कम हो सकती है। यदि ऐसा है, तो घरेलू उद्योगों को पुनर्जीवित करने के समस्त प्रयास निष्फल होंगे। यह कम से कम कुछ उद्योगों के विषय में तो निश्चय ही सत्य है; किन्तु कुछ ऐसे भी उद्योग हैं जिन पर यह लागू नहीं होता। वास्तव में कहीं-कहीं घरेलू उद्योग कारखानों की अपेक्षा कम लागत पर माल वनाते हैं; और कभी घरेलू आधार अनिवार्य भी होता है : (१) कहीं-कहीं मशीन हाथ के काम की प्रतिस्थापना नहीं कर सकती, जैसे वीड़ी वनाने के काम में। अतः ऐसे उद्योगों का घरेलू आधार पर संगठित होना अनिवार्य है। (२) कुछ उद्योगों में ऊँचे दर्जे की कलात्मक कुशलता की आवश्यकता पड़ती है, जैसे साड़ी बुनने और चित्रकारी में। ऐसे उद्योगों का भी आधार घरेलू ही होता है। (३) यही वात दर्जीगीरी के समान उन उद्योगों पर भी लागू होती है जो उपभोक्ता की वैयक्तिक रुचि को पूरा करते हैं। (४) फिर, प्रत्येक नवीन उद्योग प्रयोगात्मक अवस्था में घरेलू आधार पर ही चलाया जाता है। (५) अंत में, कुछ मशीनों का जीर्णोद्धार करने वाले उद्योग की भाँति कुछ ऐसे उद्योग होते हैं जो छोटे पैमाने पर संगठित होते हैं किन्तु जो कारखानों के आवश्यक साथी होते हैं।

वास्तव में वात यह है कि कारखानेवाले उद्योगों और घरेलू उद्योगों के, सस्ती लागत पर माल उत्पन्न करने की दृष्टि से, अपने-अपने अलग-अलग क्षेत्र हैं; और जहाँ दोनों ही सस्ती लागत पर माल तैयार कर सकते हैं, वहाँ दोनों को फलने-फूलने देना चाहिये। फिर भी, कोई-कोई क्षेत्र ऐसा है जहाँ इन दोनों में स्पर्द्धा होती है; ऐसी दशा में यह देख-कर कि तत्काल में और भविष्य में कौन माल कम लागत पर उत्पन्न कर सकेगा, यह निर्णय करना चाहिये कि उस क्षेत्र में कारखाने को रहने दिया जाय या घरेलू आधार को। इस प्रकार के विवेक द्वारा ही हम देश को औद्योगिक उत्पत्ति न्यूनतम लागत पर अधिकतम वनाने में सफल हो सकेंगे।

§ ३. भारत के प्रमुख ग्रामीण उद्योग

जैसे बताया जा चुका है, ग्रामीण उद्योग ग्राम्य-व्यवस्था का एक अंतरंग भाग होते हैं। गाँवों की आर्थिक उन्नति का कोई भी कार्यक्रम तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि वे ग्रामीण उद्योग की उन्नति की योजना शामिल न करें। कारण यह है कि हाल में इस देश में ग्रामीण उन्नति का जो कार्यक्रम भारत में किया गया है, उसमें ग्रामीण उद्योगों को केन्द्रीय स्थान मिला है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इन उद्योगों का विकास और उन्नति के लिए ४४ करोड़ रुपये निश्चित किया गया है। हम उदाहरण के लिए कुछ प्रमुख ग्रामीण उद्योगों का संक्षिप्त व्यौरा नीचे देते है।

(१) धान की हाथ से कुटाई (Hand pounding)

धान के हाथ से कूटे जाने का उद्योग आज तक गाँवों का महत्वपूर्ण उद्योग है। हाथ से कूटने की अपेक्षा पत्थर की चक्की के द्वारा चावल निकालने का उद्योग किया जा रहा है जिससे कि चावल अधिक मात्रा में प्राप्त हो सके और भूसी भी शुद्ध रूप में निकल सके। सरकार इस बात पर विचार कर रही है कि चावल की नई मिलों को लाइसेंस न दिया जाय और न किसी वर्तमान मिल को बड़ा होने की आज्ञा दी जाय, जिससे कि चावल को हाथ से कुटाई को प्रोत्साहन मिले। आजकल सरकार हाथ से कूटे जाने वाले चावल पर ६ आने प्रति मन की दर से सहायता (Subsidy) दे रही है; और यह प्रस्ताव भी सरकार के सामने है कि खादी बोर्ड जिस धान को प्रमाणपत्र दे दे, उस पर बिक्री कर न लिया जाय।

(२) ग्रामीण तेल (या घानी)

हमारे देशवासी तेल को मालिश, रोशनी, खाना पकाने तथा सामाजिक एवं धार्मिक रीतियों के लिए बड़ी मात्रा में प्रयुक्त करते हैं। गाँवों में तेल अधिकांश में कोल्हू से निकाला जाता है यद्यपि शहरी क्षेत्रों में तल की मिलें काफी सख्या में स्थापित की जा चुकी हैं। तेल के कोल्हू शहरों में भी अब चल रहे हैं और भविष्य में भी उनके चलते रहने की आशा की जा सकती है क्योंकि उनसे निकला हुआ तेल श्रेष्ठ होता है और मिल में तेल लोहे के सम्पर्क में आता है जिसे बुरा माना जाता है। इस ग्रामीण उद्योग के विकास के लिए भी प्रयत्न किया जा रहा है। इस उद्योग द्वारा पहले १० लाख टन तिलहन से तेल निकलता था किन्तु अब १४ लाख टन से अधिक तेल निकलने लगा है। पुराने चाल के कोल्हू बहुत अकुशल थे। उसके स्थान पर अब अच्छे प्रकार के कोल्हू, जिन्हें "वर्धा घानी" कहते हैं, प्रधानतया खादी बोर्ड के प्रयत्नों द्वारा लगाया जा रहा है। इस उद्योग को उपयुक्त मूल्य पर तिलहन मिलने में कठिनाई हो रही है क्योंकि तिलहन का मूल्य काफी बढ़ चुका है। सरकार नई तेल की मिले स्थापित करने पर अंकुश लगाने का विचार कर रही है और यह भी सोच रही है कि वर्तमान मिलों पर एक कर (Cess) लगाया जाय जिसकी आय को घानी उद्योग के सुधार और विकास पर व्यय किया जा सकता है। यह उद्योग गाँवों के कारीगरों को तो रोजगार देगा ही साथ में यह ताजा और शुद्ध तेल प्रदान करके ग्रामीण निवासियों का स्वास्थ्यवर्धन भी करेगा।

(३) ग्रामीण चमड़ा उद्योग

गाँवों में चमड़े का उद्योग बहुत विस्तार से फैला हुआ है क्योंकि खेती में जानवरों का महत्वपूर्ण स्थान है और उनसे बड़ी मात्रा में खाल मिलती रहती है। इस उद्योग को दो

भागों में बाँटा जा सकता है—चमड़ा पक्का करने का उद्योग और जूते बनाने का उद्योग।

चमड़ा पक्का करने का उद्योग—गाँवों में चमड़ा पक्का करने का उद्योग का उपयुक्त रीति से संगठन नहीं होता है। खाल बड़ी मात्रा में अवैज्ञानिक ढंग पर चमार पक्का करते हैं; और फिर वे अच्छी प्रकार पक्का होने के लिये मामूली चमड़े का सामान बनाने के लिए बाहर भेज दिये जाते हैं। इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि छोटे-छोटे चमड़ा पक्का करने वालों की अकुशल रीतियों में सुधार करने के लिए चमड़ा पक्का करने की सुधरी हुई वैज्ञानिक सुविधाएँ सामूहिक ढंग से प्रदान की जायँ। इस दृष्टिकोण से खादी बोर्ड कई चमड़ा पक्का करने के केन्द्र स्थापित कर रही है। चमड़ा पक्का करने का काम स्वभाव से अरुचिकर होता है। इस पर विचार करना उचित होगा कि यह काम कुटीर आधार पर हाथों द्वारा न किया जा कर मशीनों द्वारा कारखानों में किया जाय। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि चमड़ा पक्का करने के बड़े-बड़े कारखानों की संख्या और न बढ़ने दी जाय और इसके स्थान पर छोटे कारखानों को प्रोत्साहन दिया जाय।

जूते का उद्योग—हमारे गाँव में जूतों का उद्योग कुछ सीमा तक कुटीर आधार पर किया जाता है। खादी बोर्ड ने एक कार्यक्रम का सूत्रपात किया है जिसके अनुसार चमारों को कच्चा माल उधार दिया जाता है और उसका मूल्य भी उचित होता है। इस क्षेत्र में भी बड़े-बड़े कारखानों का प्रसार रोकने की नीति पर विचार किया जा रहा है।

(४) गुड़ व खंडसारी उद्योग

गुड़ व खांड बनाने का उद्योग हमारे गाँवों में काफी दिनों से स्थापित है। इन उद्योगों की कार्यक्षमता बढ़ाना बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। जहाँ तक गुड़ बनाने का सम्बन्ध है, कड़ाही और भट्ठियों में सुधार करने का प्रयत्न किया जा रहा है। खाँड की उत्पत्ति में सुधार करने के लिये नये तरीकों पर विचार किया जा रहा है। गन्ने का रस निकालने के लिए नये प्रकार के साधारण यन्त्र की खोज हो रही है जिससे रस की मात्रा अधिक हो सके।

(५) सिल्क का उद्योग

सिल्क के उद्योग में काफी रोजगार बढ़ाया जा सकता है और बहुत से ग्राम निवासियों को यह सहायक काम दे सकता है। सिल्क के कपड़े सूती कपड़े के मुकाबले में आते हैं और इसीलिए उनकी किस्म बढ़ाना और लागत कम करना आवश्यक प्रतीत होता है। हाल में ही इस उद्योग को विशेष महत्व दिया जा रहा है और इसकी उन्नति के लिए ५ करोड़ रुपये रक्खे गये हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में यह महत्वपूर्ण ग्रामीण उद्योग हो जायगा।

(६) लकड़ी का काम

लकड़ी का काम शताब्दियों से चला आता है। विशेषकर गाँवों में यह काम अवश्य किया जाता है, क्योंकि खेती के औजारों को ठीक करने के लिए हर गाँव में बढ़ई का होना नितान्त आवश्यक है। हाल में शहरों में फर्नीचर की माँग बहुत बढ़ जाने से इस उद्योग का भविष्य अब उज्ज्वल हो गया है। लकड़ी के काम का घरेलू आधार पर होना ही अच्छा है, क्योंकि लकड़ी के कारीगर लकड़ी मिलने के स्थानों के समीप खुले और स्वस्थ वातावरण में रहते हैं। ऐसा वातावरण कारखानों में नहीं मिलता। दूसरी बात यह भी है कि लकड़ी की वस्तुओं की माँग अभी इतनी नहीं बढ़ी कि उन्हें कारखानों में बनाया जाय।

(७) धातु का उद्योग

हमारे गाँव में धातु का काम जमाने से होता रहा है। गाँव में लोहार का होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि खेती के औजारों में लोहे का भाग वही बनाता और ठीक करता है। शहरों में धातु का उद्योग घरेलू आधार पर किया जाता है और खाने-पीने के बर्तन तथा अन्य सामान बनाये जाते हैं। थोक व्यापारी चाकुओं, कैंची तथा सामान बनाने का आर्डर छोटे-छोटे लोहारों को देते हैं और इस बात की सावधानी रखते हैं कि बनाई चीजें अच्छी हों।

(८) मिट्टी के बर्तन बनाने का उद्योग

भारतीय जीवन में मिट्टी के बर्तन का स्थान ऊँचा है और इसलिए इसका उद्योग भी एक महत्वपूर्ण घरेलू उद्योग है। भारत में कुम्हार बहुत आवश्यक कार्य सम्पन्न करता है; इसलिये विशेषतया गाँवों में उसका बहुत सम्मान होता है। वह सुराही, कलसे, हाँडी, चिलम आदि प्रति दिन के सामान बनाता है और बच्चों के लिए खिलौने तैयार करता है यह उद्योग फसली है: वह सूखे महीनों में ही किया जा सकता है जिनमें वर्षा का भय न हो ताकि बनाये हुए बर्तन सूख जायें। मध्य-वर्गीय व्यक्तियों ने अब चीनी के बर्तनों का प्रयोग आरम्भ कर दिया है और धनिकों ने धातु के बर्तनों का इस्तेमाल शुरु कर दिया है; इसलिये इस उद्योग का भविष्य अब संकटजनक हो गया है।

(९) अन्य उद्योग

इन उद्योगों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रामीण उद्योग भी देखने में आते हैं। (क) आजकल गाँवों में साबुन बनाने का उद्योग काफी प्रोत्साहित किया जा रहा है। आजकल बहुत से सामान जो गाँवों में बेकार जाते हैं उनका साबुन बनाने में उपयोग किया जा सकता है; खासकर नीम के तेल से साबुन बनाने को इसी उद्देश्य से प्रोत्साहित किया जा रहा है। गाँवों में नीम का तेल निकालने और साबुन बनाने के केन्द्र खोले जा रहे हैं। (ख) गाँवों में दियासलाई बनाने का उद्योग भी विकसित किया जा रहा है। खादी बोर्ड गाँवों में छोटे-छोटे कारखाने स्थापित करने में प्रयत्नशील हैं जिनकी उत्पत्ति १५ ग्रास (Gross) प्रति दिन से अधिक नहीं होगी। (ग) इनके अतिरिक्त मक्खी पालने, हाथ से कागज बनाने तथा इस प्रकार के और भी उद्योग गाँवों में पाये जाते हैं।

§ ४. भारत के दस्तकारी उद्योग

भारतीय दस्तकारी का काम प्राचीन परिपाटी का प्रतीक है। उनका प्रधान लक्ष्य कुशल कारीगरी है। ब्रिटिश काल में इन दस्तकारियों की इतनी उपेक्षा हुई कि उनका विनाश हो चला। किन्तु स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् इस अनुपम कुशल परिपाटी को और कुशल बनाने के लिए और उसे नवजीवन देने के लिए गम्भीर काम किया जा रहा है।

भारतीय दस्तकारियों के प्रकार

देश भर में दस्तकारियों का उद्योग पाया जाता है, और विभिन्न क्षेत्र विभिन्न दस्तकारियों के लिए प्रसिद्ध है। उदाहरण के लिए ताँबे के बर्तनों के लिए बनारस, मुरादाबाद, जैपुर तथा तंजौर भारत में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वाराणसी, सिल्क के कपड़े और जरी

की साड़ी के लिए प्रसिद्ध है। भारतीय दस्तकारियों के विषय में हमारा ज्ञान सुव्यवस्थित सम्पन्न नहीं है। हमारे मत में भारतीय दस्तकारियों का सम्पूर्ण निरीक्षण (Survey) करना आवश्यक प्रतीत होता है।

मध्यस्थों का स्थान

दस्तकारी के सामान का व्यापार मध्यस्थों के हाथ में केन्द्रित है : और यह मध्यस्थ एक ओर कारीगरों से सम्बन्ध बनाये रखते हैं और दूसरी ओर निर्यातकर्ताओं से अथवा विदेशी खरीदने वालों से सम्बन्ध स्थापित रखते हैं। यह अभाग्य का विषय है कि उनके सम्बन्ध से दस्तकारी उद्योगों को विशेष लाभ नहीं हुआ है; और यह उद्योग जमाने से स्थिर-सा रहा है। यह स्पष्ट है कि भारतीय दस्तकारी उद्योगों की दृढ़ उन्नतिशील आधार प्रदान करने के लिए अन्य साधन प्रयुक्त करने पड़ेंगे।

दस्तकारी के सामान की माँग

आजकल दस्तकारी का अधिकांश सामान विदेशों को जाता है, यद्यपि उनकी देशी माँग धीरे-धीरे बढ़ रही है।

बाहरी माँग—हाल में इनकी विदेशी माँग बहुत नही बढ़ी है। इसके कई कारण हैं, जैसे विदेशी चलन पर रोक-थाम, कारीगरों की नमूने का अनुगमन करने की असामर्थ्य, किस्म में परिवर्तनशीलता और निर्यात् के लिए बड़ी मात्रा में माल का अभाव होना।

देशी माँग—देश के अन्दर इस माल की माँग सीमित होने का प्रधान कारण जनता की साधारण सीमित क्रय-शक्ति है। किन्तु देशी माँग, सरकारी सहायता तथा हाथ के बने माल को प्रोत्साहन देने से बढ़ सकती है। दस्तकारी के मामले में अन्य प्रकार की डिजाइनों का प्रचार करने से तथा उनकी बिक्री के लिए सरकारी दूकानें चलाने से बहुत-कुछ काम हो सकता है।

दस्तकारी बोर्ड (Handicrafts Board)—केन्द्रीय सरकार ने यह बोर्ड हाल में ही इस कारण स्थापित किया है कि यह करीगरों के दस्तकारी उद्योगों के विषय मे अपनी सम्मति दे सके और विशेषकर उनकी उत्पत्ति बढ़ाने और उनकी बिक्री में वृद्धि करने के लिए सुझाव उपस्थित कर सके।

दस्तकारी उद्योगों में सुधार

यदि कारीगरों को मध्यस्थों के बन्धन से मुक्त करना है और विस्तृत ज्ञान और नेतृत्व उन तक पहुँचाना है, तो निम्नलिखित कार्य अभीष्ट होंगे : (क) सहकारी समितियाँ बनाना और (ख) हर उद्योग में एक ऐसी समिति बनाना जिसके सहकारी समिति के सदस्य और अकेले काम करने वाले व्यक्ति सदस्य हो सकें।

विभिन्न राज्यों के उद्योग विभागों को चाहिए कि वे दस्तकारियों के सामान की उत्पत्ति में अधिक रुचि दिखलायें। किस्म सुधार कर नई, डिजाइनों का प्रचार करके, कच्चे माल की पूर्ति उचित ढंग पर करके वे इन उद्योगों का बहुत भला कर सकते हैं।

दस्तकारी की कला के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना भी आवश्यक है जिससे पुरानी कला जीवित रहे और उसमें अन्य विचारधाराएँ शामिल की जा सकें।

हमारी आर्थिक योजना में इन दस्तकारियों के विकास के लिए खास स्थान दिया

गया है और उनकी उन्नति भी व्यवस्थित ढंग पर की जा रही है। उनकी उन्नति के लिए ९ करोड़ रुपये का आयोजन हुआ है।

§ ५ लघु-माप्य उद्योग

लघु-माप्य उद्योगों (जिनको छोटा उद्योग भी कहा जाता है) में कुछ शक्ति परि-चालित यंत्र प्रयुक्त करने वाले नये संगठित उद्योग शामिल किये जाते हैं और कुछ पुराने उद्योग भी जैसे हाथ से कपड़े बनाना, ताले बनाना, आदि। भारत के आर्थिक इतिहास में इन उद्योगों को जितना महत्व अब मिल रहा है, कदाचित् वह पहले शायद ही कभी मिला हो। उनकी उन्नति तथा विकास के लिए हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ५६ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन हुआ है, और आशा है कि शीघ्र ही इसके सुपरिणाम दीख पड़ेंगे।

छोटे उद्योगों के उपविभाग

छोटे उद्योगों को तीन विभागों में उपविभाजित किया जा सकता है :

(१) **स्पर्धामुक्त छोटे उद्योग** जिनको कारखानों की अपेक्षा कुछ विशेष लाभ या सुविधायें प्राप्त हैं और इसलिए जिनको कारखानों से स्पर्धा नहीं करनी पड़ती।

(२) **पूरक छोटे उद्योग** जो ऐसी वस्तुएं बनाते हैं जिन्हें कारखाने के उत्पादन में प्रयुक्त किया जाता है या जो कारखानों की विधि (process) का एक भाग अपने यहां सम्पूर्ण करते हैं।

(३) **प्रतिस्पर्धी छोटे उद्योग** जिन्हें कारखानों का मुकाबला करना पड़ता है।

ताले, मोमबत्ती, चप्पले तथा बैज बनाने वाले छोटे उद्योगों को कारखानों का मुका-बला नहीं करना पड़ता। कुछ ऐसे छोटे उद्योग हैं जो कारखाने में बनाने वाली वस्तुओं के हिस्से बनाते हैं, जैसे साइकिल, बिजली के सामान, खेती के औजार, कांटा-चम्मच तथा बर्तनों के भाग (Parts) बनाने वाले छोटे उद्योग। ये कारखानों के पूरक होते हैं। ऐसे छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देना नितान्त आवश्यक है। साथ में, हमें ऐसे छोटे उद्योगों की समस्या पर भी विचार करना पड़ेगा जिन्हें कारखानों से मुकाबला करना पड़ता है।

कुछ लघु-माप्य उद्योग

अब हम कुछ महत्वपूर्ण छोटे उद्योगों का संक्षिप्त विवरण देंगे जो हमारे देश में कुछ काल से स्थापित हैं। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं : सूत कातना, करघे की बुनाई, हाथ की बुनाई या खादी और जटा के सामान का उद्योग।

(१) **हाथ से सूत कातने का उद्योग**—इस देश में हाथ से सूत कातने का उद्योग बहुत पुराना है और इसमें शताब्दियों से हमारी स्त्रियां संलग्न रही हैं। प्राचीन काल में वे अपने प्रयोग या अपनी जीविका के लिए सूत काता करती थी, यद्यपि आधुनिक समय में यह प्रथा अपना महत्व खो बैठी है। हाथ की कताई का महत्व इसलिए कम हो गया है कि हाथ का कता सूत मिल के सूत की अपेक्षा कमजोर होता है, एक-सा नहीं होता, तथा उसकी लागत भी अधिक होती है।

आजकल हाथ का काता सूत अधिकतर खादी बनाने के काम आता है किन्तु यह करघों पर कपड़ा बुनने वाले जुलाहों के भी काम आ सकता है। यदि सूत की कताई को गांवों तथा शहरों में प्रोत्साहन मिले तो करघों पर बुनने वालों को अच्छे किस्म का सूत देने

का प्रबन्ध किया जा सकता है; और तब करघे वालों को केवल मिल के सूत पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त गाँवों में चर्खा बहुत से व्यक्तियों को रोजगार दे सकता है। यदि साधारण चर्खे में सुधार कर लिया जाय और ऐसे चर्खे निकाले जायँ जो कम लागत पर काफी मात्रा में सूत कात सकें, तो इससे बहुत सहायता मिल सकती है। अम्बर चर्खा इसी प्रकार का एक चर्खा है। इसके तीन भाग होते हैं और यह धुनाई आदि सभी काम कर सकता है और इसकी कीमत केवल १०० रुपये होती है। खादी बोर्ड ने अम्बर चर्खे की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए चेष्टा करना आरम्भ कर दिया है।

(२) **करघा उद्योग**—हाथ से बुनाई करने का काम आजकल भी जारी है और मिलों ने इस उद्योग को समाप्त नहीं किया है। साधारणतया बहुत मोटा या बहुत बारीक कपड़ा करघों पर भी बुना जाता है। बारीक कपड़ा बुने जाने का एक कारण यह भी है कि मिलें विभिन्न प्रकार की डिजाइनें नहीं दे सकतीं और व्यक्तिगत रुचि को पूरा नहीं कर सकतीं। देश के स्वतंत्र होने के बाद यह चेष्टा की जा रही है कि करघा उद्योग एक सुथरे आधार पर उन्नति करे।

सूती कपड़ा या तो मिल बनाती है, या शक्ति-परिचालित करघे, या हाथ के करघे। मिलों में बड़े पैमाने पर मशीनों से कपड़ा बनाया जाता है जिसको हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। छोटे उद्योगों में शक्ति-परिचालित करघों की अपेक्षा हाथ के करघे अधिक लोकप्रिय हैं। हाथ के करघों से बने कपड़ों का उद्योग अब प्रोत्साहन पा रहा है और यह अनुमान लगाया गया है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसकी उत्पत्ति १७ करोड़ वर्ग गज तक बढ़ाई जा सकती है। किन्तु इसके लिए हमें बेकार, हाथ के करघों को काम में लगाना होगा, शक्ति-परिचालित करघे प्रयोग में लाने होंगे, सहकारिता से लाभ उठाना पड़ेगा और यांत्रिक तथा अन्य सुधार करना होगा। इन सुधारों में ६० करोड़ रुपये पंचवर्षीय योजना में रक्खे गये हैं।

(३) **खादी उद्योग**—जो कपड़ा हाथ से कते सूत का हाथ के करघे पर बनाया जाता है उसे खादी कहते हैं। इसे महात्मा गाँधी ने बहुत महत्व दिया था। यह उद्योग एक काल से गुजर चुका है और अब इसकी व्यवस्थापूर्वक उन्नति करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके सुधार और विकास के ऊपर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में २१ करोड़ रुपये खर्च किये जायँगे। आजकल खादी की कुल उत्पत्ति ३½ करोड़ गज प्रति वर्ष है जिसको बढ़ाकर ६ करोड़ गज करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। सूती खादी बनाने के अलावा ऊनी खादी की उत्पत्ति बढ़ाने की भी चेष्टा की जा रही है।

(४) **नारियल की जटा के सामान का उद्योग** (Coir Industry)— इस उद्योग की दो शाखाएँ होती हैं : (अ) जटा से सूत कातना और (आ) जटा के सामान जैसे चटाई, टाट और कालीन आदि (सूत से) बनाना। हाल में ही इस उद्योग को बड़ा धक्का लगा था किन्तु अब इसकी उन्नति करने का प्रयत्न हो रहा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके ऊपर एक करोड़ रुपया खर्च करने का आयोजन किया गया है। यदि इस उद्योग को सहकारी समितियों के आधार पर पुनर्संगठित किया जा सके, तो लाभ हो सकता है। कारखाने और व्यक्तिगत उत्पादकों को सहकारी समितियों के रूप में संगठित किया जा रहा है। जटा के माल की बिक्री करने वाली समितियाँ भी स्थापित की जा रही हैं। इस बात पर विचार किया जा रहा है कि इस उद्योग में यंत्रों का किस रूप में किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है। इसके माल निर्यात करने के लिए विदेशों में माल की प्रदर्शिनी की जा रही है और व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डल भी विदेशों को भेजे जा रहे हैं।

छोटे उद्योगों का सुधार और विकास

छोटे उद्योगों का सुधार और विकास आजकल राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर चुका है और इसकी ओर अब क्रमबद्ध प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) संयुक्त उत्पत्ति का कार्यक्रम——इन छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए जो कि कारखाना उद्योगों के पूरक होते हैं या जिन्हें कारखाने वाले उद्योगों का मुकाबला करना पड़ता है, पूरे उद्योग के लिए एक संयुक्त उत्पत्ति कार्यक्रम निश्चित करने की नीति अपना ली गई है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उत्पत्ति का क्षेत्र छोटे उद्योगों के लिये सुरक्षित कर दिया जाता है और उस क्षेत्र में उनके विकास के लिये सहायता दी जाती है।

(२) रसद खरीदने की नीति(Stores purchase policy)—छोटे उद्योगों की उत्पत्ति के लिए बाजार प्रदान करने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार ने रसद खरीदने की नीति में आवश्यक सुधार किया है। जहाँ आधारभूत बातें समान होती हैं, वहाँ सरकार कारखानों की उत्पत्ति की अपेक्षा छोटे उद्योगों की उत्पत्ति खरीदने लगी है।

(३) आयातों का स्थानापन्न—जिन वस्तुओं का हम आयात किया करते थे, अब उनके स्थानापन्न लघुमाप्य उद्योगों की बनी वस्तुएँ खरीदने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस प्रकार की सम्भावनाओं को पूरा करने के लिए कुछ समितियाँ (Panels) बनाई गई हैं जिनमें व्यापारी तथा विशिष्ट पुरुष शामिल किये गये हैं।

(४) नये उद्योग उपनिवेश(New Industrial Estates)—सरकार ने छोटे उद्योगों को एक स्थान पर उन्नति करने के लिए नये शहर या औद्योगिक उपनिवेश स्थापित करने की नीति कार्यान्वित कर दी है। ऐसे नये औद्योगिक उपनिवेश चाहे भूमि, बिजली, पानी, गैस, भाप, रेलवे यातायात, आदि की सुविधाएँ प्रदान करते हैं। ऐसे औद्योगिक उपनिवेश २ प्रकार के हैं। कुछ तो बड़े हैं जिनमें ४० या ५० लाख रुपये लगाये जा रहे हैं कुछ छोटे हैं जिनमें २० या २५ लाख रुपये से काम चल जाता है। द्वितीय योजना काल में ऐसे उपनिवेशों को स्थापित करने के लिये १० करोड़ रुपये नियत किया गया है।

(५) विशिष्ट शिक्षा (Technical Training)—छोटे उद्योगों की उन्नति के लिए औद्योगिक और विशिष्ट शिक्षा प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। इस दिशा में बहुत से संगठन सहायता कर रहे हैं। पुनर्वास मंत्रणालय(Ministry of Rehabilitation) ने कुछ केन्द्रीय शरणार्थियों की विशिष्ट शिक्षा के लिए खोले हैं। राष्ट्रीय सरकार ने भी इस प्रकार की शिक्षा देने के लिए औद्योगिक, विशिष्ट एवं व्यावसायिक संस्थाएँ स्थापित की हैं। विशिष्ट संस्थाओं को केन्द्रीय शिक्षा मंत्रणालय काफी सहायता दे रहा है। इन सब शिक्षा कार्यक्रम को इस प्रकार बनाना चाहिये कि इसका सामञ्जस्य हमारे छोटे उद्योगों की उन्नति से ठीक-ठीक बैठ जाय।

(६) अनुसन्धान (Research)—अनुसन्धान छोटे उद्योगों, ग्रामीण उद्योगों तथा दस्तकारी उद्योगों सबके लिए महत्वपूर्ण है। छोटे उद्योगों की अपनी अलग समस्याएँ हैं जिन पर अनुसन्धान करना लाभदायक होगा। उनमें से अधिकांश समस्याएँ कारखानेवाले उद्योगों के सहयोग से हल की जा सकती हैं। इस दिशा में सरकारी सहायता बहुत लाभदायक होगी।

(७) वित्त प्रबन्ध—छोटे और कुटीर उद्योगों के लिए वित्त-प्रबन्ध करने का काम बहुत महत्व का है। यदि इन उद्योगों को सस्ते दर पर धन मिलने का प्रबन्ध हो सके तो उनकी बनायी वस्तुओं की लागत घट जायगी और वे सस्ती दर पर बिक सकेंगी। इस

दिशा में सरकार लाभदायक काम कर सकती है। विभिन्न राज्यों में स्टेट फाइनेंस कार्पोरेशन स्थापित हो चुकी हैं जो इस दिशा में सहायता कर सकती हैं। हाल में ही रिजर्व बैंक एक्ट में सुधार किया गया है, जिससे अब वह छोटे उद्योगों की उत्पत्ति तथा उसका विपणन के सम्बन्ध में राज्य सहकारी बैंकों तथा फाइनेन्स कार्पोरेशनों को ऋण दे सकता है।

(८) **लघु-उद्योग सेवा सदन** (Small Industries Service Institution)—भारत में इस प्रकार की ४ संस्थाएँ खोली गई हैं किन्तु उनकी संख्या बढ़ाकर २० कर दी जायगी जिससे हर राज्य में कम से कम एक ऐसी संस्था अवश्य हो जाय। ये संस्थाएँ छोटे उद्योगों की कई प्रकार से सेवाएँ करती हैं : (अ) वे छोटे उद्योगों को विशिष्ट सम्मति देती रहती हैं और उनके विशिष्ट कर्मचारी ऐसे उद्योगों के सम्पर्क में रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर प्रदर्शन (Demonstration) द्वारा पेचीदा बातें स्पष्ट कर देते हैं। (आ) यह छोटे उद्योगपतियों को मशीन तथा अन्य सामान किराया-खरीद प्रणाली (Hire-purchase System) पर (National Small Industries Corporation की तरफ से) देती हैं। (इ) ये विपणन के सम्बन्ध में भी सेवाएँ करती हैं। उत्पादन क्षेत्र में ये थोक दूकानें खोलती हैं जहाँ माल खरीदा जाता है, बाद को यह माल "राष्ट्रीय लघु-उद्योग कार्पोरेशन" ले लेती है। ये संस्थाएँ इस बात की भी कोशिश करती हैं कि बड़े-बड़े कारखाने छोटे उद्योगों के द्वारा बनाई गई छोटी वस्तुएँ (parts) जिन्हें वे काम में ला सकते हैं, खरीदें।

§ ६. उन्नति की वर्तमान और भावी दिशाएँ

यह बताया जा चुका है कि ब्रिटिश काल में कुटीर और छोटे उद्योगों को बहुत धक्का लगा किन्तु स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इन उद्योगों को क्रम से संगठित और विकसित करने का काम आरम्भ कर दिया है। इस संबंध में वह कुशल व्यक्तियों के परामर्श से योजनात्मक ढंग से काम कर रही है।

सरकारी नीति

वर्तमान नीति का आधार—(क) सन् १९५५ में सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की एक टीम भारत में बुलाई जिससे उन्हीं कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में उचित परामर्श मिल सके। इन विशेषज्ञों ने छोटे उद्योगों की विशिष्ट संस्थाओं के क्षेत्रों में स्थापित करने की सिफारिश की और यह भी राय दी कि "लघु उद्योग कार्पोरेशन" तथा "विपणन सेवा संगठन" स्थापित किये जायें। छोटे उद्योगों की उत्पत्ति बढ़ाने तथा संगठन में सुधार करने के लिए बहुप्रयोजनीय संस्थाओं को स्थापित करने का भी सुझाव दिया। सरकार ने उनकी पहली तीन सिफारिशों को स्वीकार भी कर लिया है। चार "लघु उद्योग सेवा सदन" मदुराई, बम्बई, कलकत्ता, और फरीदाबाद में स्थापित हो चुके हैं। सन् १९५५ में "राष्ट्रीय लघु-उद्योग कार्पोरेशन" भी स्थापित की जा चुकी है और अनुसन्धान संस्थाएँ भी स्थापित की जा रही हैं। (ख) सरकार ने सन् १९५५ में "ग्रामीण और लघु-माप्य उद्योग कमिटी", जिसे कार्वे कमिटी भी कहते हैं, नियुक्त की जिसने कुटीर और लघु-माप्य उद्योगों के लिए बहुत उपयुक्त और अच्छे सुझाव दिये हैं। (ग) सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में जो अनुभव प्राप्त किया था उससे भी लाभ उठाया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास पर केवल ३१ करोड़ रुपया खर्च किया गया था। इतनी कम रकम नियत करने का कारण यह था कि उस समय सरकार का

विचार ऐसे उद्योगों के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं था किन्तु फिर भी प्रथम योजना काल में उपयोगी अनुभव प्राप्त किया गया।

औद्योगिक नीति का प्रस्ताव (Industrial policy Resolution)—सरकार की कुटीर एवं लघु उद्योग सम्बन्धी वर्तमान नीति उनके "औद्योगिक नीति प्रस्ताव" पर आधारित है। इस प्रकार का पहला प्रस्ताव सन् १९४८ में घोषित हुआ और दूसरा प्रस्ताव सन् १९५६ में। इन दोनों में काफी समता है। सरकार ने हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की उन्नति में कुटीर एवं लघु उद्योगों को काफी महत्व दिया है। ऐसे उद्योग रोजगार प्रदान करते हैं। वे राष्ट्रीय आय का न्यायपूर्ण वितरण भी करते हैं। ऐसी पूंजी और कुशलता जो प्रायः बेकार रहती है, उनका वे सदुपयोग करते हैं। यदि औद्योगिक उत्पत्ति के छोटे-छोटे केन्द्र देश भर में स्थापित हो जायें, तो बिना किसी सोच-विचार के विभिन्न स्थानों पर उद्योग चला देने से उत्पन्न समस्याएँ से बचाव हो सकता है। इन प्रस्ताव ने इन उद्योगों की सहायता और सुधार के लिए निम्नलिखित नीतियाँ निर्धारित की हैं : (क) कारखानेवाले उद्योगों की उत्पत्ति की मात्रा निश्चित करना, (ख) उन पर लगनेवाले करों में रियायत करना, (ग) उनको धन सम्बन्धी सहायता देना, (घ) उत्पत्ति की विधि (Technique) का विवेकीकरण करना, (ङ) उनके लिए धन का प्रबन्ध करना, (च) विशिष्ट परामर्श देने का प्रबन्ध करना, (छ) ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली पहुँचाने की व्यवस्था करना, (ज) औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना को प्रोत्साहित करना। यह नीति कार्यरूप में प्रधानतया जारी है और उसका अच्छा परिणाम हो रहा है।

वर्तमान नीति की सामान्य रेखाएँ

अब हम उन सामान्य विधियों का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा छोटे और कुटीर उद्योगों का विकास किया जा रहा है।

प्रमुख उद्देश्य—इस नीति को स्वीकार किया जा चुका है कि कुटीर और छोटे उद्योगों की उन्नति हमें योजनात्मक ढंग पर करनी है। इसके लिए प्रधान उद्देश्य "ग्रामीण और लघु माप्य उद्योग कमिटी" ने इस प्रकार निर्धारित किये हैं : (१) ग्रामीण और छोटे उद्योगों को इसलिये प्रोत्साहन देना चाहिये कि जिससे वे रोजगार प्रदान कर सकें। (२) ये उद्योग विकेन्द्रीय समाज की स्थापना के लिए आधार प्रदान करेंगे। विशिष्ट सुधारों को इस प्रकार और इस सीमा तक अपनाना चाहिये कि छोटी इकाइयाँ स्थान-स्थान पर और दूर-दूर स्थापित हो सकें। (३) उनकी उन्नति देश की तीव्र गति से आर्थिक विकास करने में सहायक होनी चाहिये। इसका यह अर्थ होता है कि धीरे-धीरे हमें इनकी उत्पत्ति के तरीकों का सुधार करना होगा और उन्हें आधुनिक बनाना होगा।

योजनात्मक उन्नति—इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हमें योजनात्मक ढंग पर काम करना होगा। जैसा कि बताया जा चुका है, प्रथम योजना के अन्तर्गत ऐसे उद्योगों की उन्नति के लिए एक अलग कार्यक्रम निर्धारित किया गया था जिस पर ३१ करोड़ रुपया व्यय किया गया। अब दूसरी योजना में इस काम पर १८० रोकड़ रुपया खर्च हुआ। यह रकम इस प्रकार व्यय की गई :

सारिणी २२

द्वितीय योजना में कुछ और छोटे उद्योगों पर धन का विनियोग

उद्योग	करोड़ रुपये
१. हाथ की बुनाई का उद्योग	३२.१
२. खादी तथा ग्रामीण उद्योग	८०.५
३. लघु-माप्य उद्योग तथा औद्योगिक बस्तियाँ	५६.३
४. दस्तकारी उद्योग	५.३
५. सिल्क उद्योग	३.८
६. जटा उद्योग	२.०
	योग १८०.०

तीसरी योजना में इन पर २५० करोड़ रुपया व्यय होगा जिसका वितरण इस प्रकार होगा :

	(करोड़ रुपये)
(१) हाथ की बुनाई का उद्योग ..	३६
(२) खादी तथा ग्रामीण उद्योग ..	८९
(३) लघु-माप्य उद्योग तथा औद्योगिक बस्तियाँ	१०७
(४) सिल्क उद्योग	८
(५) दस्तकारी उद्योग ..	७
(६) जटा उद्योग ..	३
	२५०

संयुक्त उत्पत्ति का कार्यक्रम—छोटे उद्योग कभी-कभी बड़े उद्योगों का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं किन्तु अन्य स्थानों पर वे ऐसा करने में असमर्थ होते हैं। जैसा बताया जा चुका है, छोटे उद्योगों को तीन श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है : (क) वे छोटे उद्योग जो कारखानेवाले उद्योगों से श्रेष्ठ होते हैं, (ख) वे छोटे उद्योग जो कारखानों में प्रयुक्त किये जाने वाले हिस्से (parts) बनाते हैं, (ग) और वे छोटे उद्योग जो मुकाबला नहीं कर पाते। पूरक तथा मुकाबले का सामना करने वाले छोटे उद्योगों की सहायता तथा उनके विकास के लिए यह आवश्यक है कि बड़े और छोटे उद्योगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक संयुक्त उत्पत्ति का कार्यक्रम निर्धारित किया जाय। इस कार्यक्रम के दो भाग होते हैं :

(अ) छोटे उद्योगों को एक निश्चित बाजार का आश्वासन देना। इस उद्देश्य से छोटे उद्योगों के लिए उत्पत्ति का एक विशेष क्षेत्र सुरक्षित कर दिया जाता है, बड़े उद्योगों की उत्पत्ति बढ़ाने की सीमा निर्धारित कर दी जाती है, और बड़े उद्योगों पर एक कर (cess) लगाया जाता है जो छोटे उद्योगों की सहायता के लिये व्यय किया जाता है।

(आ) छोटे उद्योगों की सक्रिय सहायता करना। इस उद्देश्य से उन्हें कच्चा माल प्रदान करना, विशिष्ट प्रदर्शन, धन सम्बन्धी सहायता, शिक्षा अनुसंधान तथा विपणन प्रबन्ध, आदि काम किया जाता है।

यह नीति उस समय तक व्यवहार में लाई जाती है जब तक उद्योग आत्मनिर्भर होने लायक शक्ति प्राप्त नहीं कर लेते।

भावी नीति की सामान्य रेखाएँ

कुटीर और छोटे उद्योगों के सम्बन्ध में जिस सामान्य नीति का अनुमान इस देश में किया जायगा, वह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। जहाँ तक ग्रामीण उद्योगों का सम्बन्ध है, उनकी तात्कालिक उन्नति एवं दृढ़ता के लिए उनका संगठन सुधारने तथा अन्य प्रकार की सहायता करने के लिए विविध कार्य किये जायँगे। किन्तु जैसे-जैसे ग्रामीण व्यवस्था विकसित होती जायगी, वैसे ही वैसे ग्रामीण उद्योगों में विशिष्ट परिवर्तन, प्रधानतया उत्पादन विधियों के सुधार के रूप में. होते जायँगे। अतः ग्रामीण औद्योगीकरण का ढांचा भी बदलता जायगा। जहाँ तक छोटे उद्योगों का सम्बन्ध है, उनका तथा बड़े उद्योगों का सामंजस्य बढ़ाना होगा, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। साथ ही नये औद्योगिक उपनिवेश स्थापित किये जा रहे हैं जो छोटे उद्योगों का विकेन्द्रीय ढंग पर विकास करेंगे।

§ ७. कठिनाइयाँ और उनका निवारण

कुटीर और छोटे उद्योगों की कठिनाई

हमने ऊपर छोटे उद्योगों की समस्याओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और यह भी बताया है कि उनकी क्या कठिनाइयाँ हैं, उनका निवारण कैसे किया जा सकता है, और इस सम्बन्ध में क्या काम हो रहा है। अब हम सामान्य कठिनाइयों का संक्षिप्त विवरण नीचे देंगे।

(१) कच्चे माल की मात्रा, किस्म और पूर्ति की स्थिरता बहुत असन्तोषप्रद है। कारीगरों को उचित प्रकार का कच्चा माल उपलब्ध नहीं होता। ग्रामीण विक्रेता, जिनसे कारीगर खरीद करता है, स्वयं थोक व्यापारियों से कच्चा माल खरीदते हैं, और थोक व्यापारी माल की किस्म के विषय में कुछ भी सावधानी नहीं रखते। ग्रामीण विक्रेता भी यह जानता है कि कच्चा माल चाहे अच्छा हो या खराब, वह बिक सब जायगा; वह भी माल की परवाह नहीं करता। कारीगर ग्रामीण विक्रेता से या तो इसलिये कच्चा माल खरीदते हैं कि गांव में वह ही अकेला माल बेचने वाला है या इसलिये कि केवल उसी से उधार मिल सकता है। कभी-कभी आर्डर देने वाला स्वयं ही कारीगरों को कच्चा माल दे देता है; पर अवस्था वही रहती है। जिस प्रकार का कच्चा माल होता है, वह भी कारीगरों को लगातार और बराबर नहीं मिलता रहता। अर्द्धनिर्मित माल, जैसे सूत, पीतल की चादर, आदि, के मिलने में विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(२) घरलू उद्योगों के कारीगरों की अशिक्षा, अज्ञानता तथा पुराने तरीके दूसरी समस्या उपस्थित करते हैं। जो ज्ञान उनके पूर्वज उन्हें प्रदान कर गये हैं, वे उसी के अनुसार काम करते हैं। अशिक्षित और निरक्षर होने के कारण वे नये और आकर्षक डिजाइन स्वयं नहीं सोच सकते; और उनको इस मामले में कोई सलाह देने वाला भी नहीं होता। माल के प्रामाणिककरण (standardisation) के विषय में भी यही बात घटती है। हमारे कारीगरों की यह बड़ी कमी है कि मांग के स्वभाव से सम्पर्क रखने में और इस ज्ञान के प्रकाश में माल की किस्म सुधारने में वे असफल रहते हैं।

(३) घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित माल की ठीक-ठीक मांग का अनुमान लगाने वाला कोई नहीं होता, इसलिये मांग का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता या इसको बढ़ाने

की चेष्टा नहीं की जाती और आवश्यकतानुसार कारीगरों में काम भी नहीं बाँटा जा सकता। होता यह है कि कभी-कभी किसी वस्तु की अत्युत्पत्ति (Overproduction) हो जाती ह और कभी-कभी वह वस्तु दुर्लभ हा जाती ह। पूर्ति को माँग के बराबर करने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। घरेलू उद्योगों के माल की बिक्री प्रणाली को पुनर्संगठित करना और वैज्ञानिक आधार पर विकसित करना बहुत आवश्यक है।

(४) घरेलू उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं के निर्यात करने की बात की बहुत उपेक्षा की जाती है। कुछ वस्तु की माँग विदेशों में अब भी है और कुछ अन्य वस्तुओ की माँग उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु इन वस्तुओं का निर्यात बाजार उन्नति करने के लिए कोई उचित संस्था नहीं ह सूचीपत्र निकालना या विज्ञापन निकालना सपने की बातें हैं,और मूल्यों में स्थिरता माल क प्रमाणीकरण और पूर्ति की बराबरी—जो विदेशी व्यापार के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं—उन पर किसी का ध्यान भी नहीं जाता।

(५) रुपया उधार लेने की उचित सुविधाएँ भी कारीगरों को प्राप्त नहीं होतीं। कारीगरो को रुपया विक्रेताओं से उधार लेना पड़ता है जो कारीगरों को बुरा कच्चा माल खरीदने को बाध्य करते हैं और ब्याज की ऊँची दर लेते हैं। होता यह है कि जहाँ कारीगर ने एक बार ऋण लिया कि वह जन्म-पर्यन्त विक्रेता का ऋणी ही बना रहता है। इसके अतिरिक्त ऋण देने को एक यह भी शर्त होती है कि निर्मित माल ऋणदाता को एक निश्चित मूल्य पर बेचा जायगा और बिक्री का मूल्य बहुत नीचा रक्खा जाता है।

उन्नति के उपाय

देश की आर्थिक प्रणाली में घरेलू उद्योगों का अपना निश्चित स्थान है और वे महत्व-पूर्ण काम सम्पन्न करते हैं। अतः उनकी ऊपर बताई हुई सारी कठिनाइयाँ और बाधाएँ अवश्य दूर करनी चाहिए। इस दिशा में हम निम्नलिखित उपाय उपस्थित करते हैं :

(१) **अच्छे प्रकार के कच्चे माल को बराबर पूर्ति**—कच्चे माल सम्बन्धी दोषों को शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है। कारीगरों को दिये जानेवाले कच्चे माल की किस्म में सुधार करना नितान्त आवश्यक ह, क्योंकि निर्मित माल की किस्म और कारीगरों का स्तर बहुत-कुछ इसी बात पर निर्भर होते हैं। इसके अतिरिक्त कच्चे माल की पूर्ति के लिए भी किसो खास संगठन को आवश्यकता है। चेष्टा इस बात की करनी चाहिये कि कच्चा माल कारीगरों को सुविधानुसार सस्ते दाम पर और सीधे तौर पर पहुँचाया जाय। कच्चे माल का सस्ता हाना बहुत आवश्यक है।

(२) **कारीगरों को शिक्षा**—कारीगरों को उचित शिक्षा देने का प्रश्न कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं। प्रारम्भिक शिक्षा के अतिरिक्त, जो उनका सामान्य दृष्टिकोण विस्तृत करगा, उन्हे शारीरिक शिक्षा और पेशेवार शिक्षा भी देनी चाहिये। इसके लिए औद्योगिक स्कूल तथा व्यावसायिक (Vocational) स्कूल खोलने चाहिए। इसके लिए औद्योगिक इंडस्ट्रीज के नियंत्रण में रखना चाहिये। इंडस्ट्रियल कमीशन की यह सिफारिश थी कि सर-कार को नई रीतियों के प्रदर्शन का प्रबन्ध करना चाहिये और होशियार कारीगरों की शिक्षा के लिए निर्माणशालाओं (workshops) की स्थापना करनी चाहिए; जेलों और सुधार स्कूलों में औद्योगिक दस्तकारी-सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे कि वहाँ के निवासी बाहर निकलकर इन कामों को कर सकें। ग्रामीण उद्योगों में प्रदर्शन सम्बन्धी कार्य सहकारिता विभाग के द्वारा कराया जा सकता है।

(३) **टेक्निकल पथ-प्रदर्शन**--शिक्षा के अतिरिक्त कारीगरों को टेक्निकल सहा-

यता देना भी आवश्यक है। टेक्निकल मामलों में सम्मति, उत्पत्ति की टेक्नीक में शिक्षा, नयी शिक्षा, नयी डिजाइन आदि का आविष्कार, इस प्रकार की सहायता के कुछ उदाहरण हैं।

(४) **नये औजार**—नये और सुधरे हुए औजारों का प्रचार करना भी एक आवश्यक बात है। हमारे कारीगर पुराने औजारों का प्रयोग करते हैं जिनका आसानी से सुधार हो सकता है और चमत्कारपूर्ण परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। यह काम सरकारी प्रयोगात्मक कारखानों तथा औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं को करना चाहिये। नये-नये औजार के रचनात्मक कार्य का, प्रदर्शनी तथा बुलेटिन, पुस्तकों और नोटिस बाँटने के द्वारा भी प्रचार करना चाहिये।

(५) **उत्पत्ति का संगठन**—आजकल कारीगरों की उत्पत्ति का संगठन बहुत अकुशल है और उसमें प्रणाली का अभाव है। श्रम-विभाजन तथा अन्य किसी प्रकार के उपायों से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए इसमें सुधार बहुत आवश्यक है। इन सब कामों में सरकार को पूरी-पूरी सहायता करनी चाहिये। आदर्श यह होना चाहिए कि घरेलू उद्योग आधार तो बना रहे किन्तु कारखानों के लाभों को यथासम्भव प्राप्त किया जा सके।

(६) **पूंजी और ऋण की पूर्ति**—आजकल घरेलू उद्योगों को पूंजी और ऋण की पर्याप्त पूंजी के प्रश्न का सामना करना पड़ता है। ग्रामीण कारीगरों को गाँव के साहूकार से, जो दूकानदार भी होता है, ऊँची दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है; और वह उन्हें अपने पंजे में इस प्रकार जकड़ लेता है कि उससे आसानी से छुटकारा नहीं मिलता। इंडस्ट्रियल कमीशन का मत था कि डाइरेक्टर आव इंडस्ट्रीज को कारीगरों को छोटी-छोटी रकम में रुपया उधार देना चाहिये, और सुधरे हुए औजार आदि कारीगरों को किराया विक्री प्रणाली (Hire-purchase system) पर देने चाहिए जो थोड़े दिन किराया देकर उन्हीं की सम्पत्ति हो जाय। यद्यपि भूतकाल में सहकारी औद्योगिक बैंकों का अनुभव बहुत आशापूर्ण नहीं हुआ, फिर भी ऐसे बैंक कारीगरों की ऋण की आवश्यकता को भली भाँति पूरी कर सकते हैं और उनको स्थापित करना चाहिये। सरकारी औद्योगिक बैंक, गाँव और शहर दोनों में काम कर सकते हैं और कारीगरों की अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं।

(७) **विपणन (Marketing) का संगठन**—घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की विक्री की समस्या बहुत महत्वपूर्ण है। आजकल घरेलू उद्योगों का उन बाजारों पर भी अधिकार नहीं है जो निश्चित रूप से उनके हैं। देशी बाजारों में उनका माल नहीं पहुँच पाता और विदेशी बाजारों की उपेक्षा की जाती है। यदि सुचारु रूप से चेष्टा की जाय तो ये बाजार घरेलू उद्योगों को मिल सकते हैं। भारतीय कारीगर और देशी तथा विदेशी बाजारों में सम्बन्ध स्थापित करने का काम "आर्ट्स एण्ड क्रैफ्ट्स एम्पोरिया, लखनऊ" ने बहुत प्रशंसात्मक ढंग से किया है। ऐसी संस्थाएँ देश भर में सब बड़े-बड़े केन्द्रों में स्थापित करनी चाहिए। बैंकिंग जाँच कमिटी ने सिफारिश की थी कि घरेलू उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं के संग्रह तथा विक्री के लिए बड़े-बड़े स्थानों में लाइसेंसदार गोदाम और सहकारी थोक संस्थाएँ होनी चाहिये। इन वस्तुओं के उपयुक्त विज्ञापन का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध होना चाहिये। सन् १९२४ ई० की वेम्बले प्रदर्शनी (Wembley Exhibition) में फर्रुखाबाद के छपे कपड़ों, बनारस की सिल्क और आगरे की दरियों आदि का अच्छा विज्ञापन हुआ था जिसके फलस्वरूप अब इन वस्तुओं का लन्दन और न्यूयार्क को काफी निर्यात होने लगा है।

(८) **सहकारिता का सिद्धान्त**—सहकारिता का सिद्धान्त घरेलू उद्योगों के सम्बन्ध में लगाना लाभदायक सिद्ध होगा। सहकारी समितियाँ अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जा सकती है, जैसे पूंजी के लिए, कच्चे माल के क्रय के लिए और तैयार माल की विक्री के लिए। ये संस्थाएँ कारीगर के कारखाने की स्पर्द्धा तथा मध्यस्थ पुरुषों के शोषण से रक्षा कर सकती हैं। जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड और इटली आदि देशों से सहकारिता ने लाभ उठाया है और हमे भी उससे लाभ उठाना चाहिये।

(९) **सरकारी सहायता**—घरेलू उद्योगों के पुनर्जीवन में सरकार बहुत सहायता कर सकती है। जर्मनी में इन उद्योगों की जो महान् उन्नति हुई वह सरकारी सहायता की ही देन थी—वह संरक्षण कर या अन्य किसी प्रकार के अनिवार्य उपाय का परिणाम नहीं थी प्रत्युत विवेकपूर्ण सम्मति, ज्ञान और शिक्षा का परिणाम थी। हमारी सरकार को ऐसी विदेशी मिसालों से शिक्षा लेनी चाहिये और नष्टप्राय घरेलू उद्योगों की सहायता करनी चाहिये। सरकारी उद्योग विभागों (Industries Departments) का ध्यान अब तक घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की विक्री तक ही सीमित रहा है और उनकी किस्म की ओर नहीं गया; उन्होंने हमारे कारीगरों को ऐसी वस्तुएँ बनाना सिखाया है जो कि आसानी से बिक जायँ, ऐसी वस्तुएँ नहीं जो कि कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ हों। यदि ये विभाग स्वयं कच्चा माल दे, अच्छी-अच्छी डिजाइनें बनाएँ और कारीगरों की बनाई वस्तुओं की विक्री का समुचित प्रबन्ध करें, तो घरेलू उद्योगों का बहुत भला हो सकता है।

(१०) **स्वदेशी की भावना**—इन सब बातों के साथ ही साथ हमें अपने देशवासियों के हृदय में स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम की भावना जागृत करनी है। यह घरेलू उद्योगों के बनाये माल की विक्री में बहुत सहायक सिद्ध होगी, विशेषकर आरम्भ में जब कि कार-खानों की बनी वस्तुओं की स्पर्द्धा बहुत तीक्ष्ण होगी।

सारांश

१. कुटीर उद्योग औद्योगिक उत्पादन का सबसे छोटा पैमाना है। जो ५ लाख रु० से कम पूंजी और ५० से कम मजदूर से काम करते है वे लघु-माप्य उद्योग कहलाते हैं। इससे बड़े उद्योग दीर्घ-माप्य उद्योग कहलाते हैं।

२. भारत में कुटीर उद्योगों का महान् महत्व है। उनमें, लघु-माप्य तथा दीर्घमाप्य उद्योगों के अलग-अलग क्षेत्र है।

३. भारत के प्रमुख ग्रामीण उद्योग धान-कुटाई, घानी, चमड़ा, खंडसारी, सिल्क, लकड़ी, धातु, मिट्टी के बर्तन के उद्योग हैं।

४. भारतीय दस्तकारी उद्योग काफी उन्नति कर रहे हैं। उनकी कठनाइयाँ दूर करनी चाहिये।

५. लघुमाप्य उद्योगों के हाथ से सूत कातना, करघा, खादी, नारियल की जटा के सामान, आदि उदाहरण है। उनके सुधार और विकास के लिये उचित प्रयत्न करना चाहिये।

६. इस विषय पर सरकारी नीति निर्धारित है। वर्तमान तथा भावी नीति स्पष्ट है।

७. कुटीर और छोटे उद्योगों को बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। उनको दूर करने के उपाय वांछनीय हैं।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकन्डरी

1. What are the main difficulties faced by our cottage and small scale industries ? Suggest measures for the removal of these difficulties. (1958).

2. "Cottage industries will always retain their position in our economy". Do you agree ? Give reasons. (1956).

3. Write a note on small scale and cottage industries in Delhi. (1954).

पंजाब, इन्टर

4. What is the importance of cottage industries in the indian economy ? Discuss the important cottage industries of Punjab. (1957).

5. (a) Distinguish between a cottage industry and a small scale industry.

(b) In which towns of the Punjab are the Furniture Hosiery and sports goods industries localised ?

(c) Give the economics that result from concentration of an industry in one locality. (1954).

जम्मू-काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

6. Can cottage industries play a significant part in India's economic development ? If so, suggest measures to develop them. (1955).

7. Cottage industries of Kashmir are famous. But why are the workers in these industries very poor ? Is it possible to improve their economic condition and how ? Explain carefully. (1954.)

8. Mention the factory and the cottage industries that are found in the Punjab or the Kashmir State. What are the causes that have enabled the cottage industries to survive in the face of competition from the factory industries ? (1953).

9. Name the main factory and cottage industries of Jammu and Kashmir and suggest measures for the development of the latter. (1952).

10. Enumerate the principal cottage industries that exist in your part of the country and explain how their products are marketed. (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

11. What is the importance of cottage industries in the economic life of India ? Discuss it with special reference to Second Five Year Plan. (1958).

12. Discuss the importance of cottage industries in economy of our country. What measures would you suggest to revive and improve them. (1957).

13. Indicate the importance of cottage industries in India. Describe the principal cottage industries of India and point out the difficulties experienced by them. (1955).

14. What do you understand by a cottage industry ? Discuss the importance of cottage industries in the economy of a country. What measures would you suggest to revive and improve them ? (1954).

पटना, इन्टर आर्ट्स

15. Examine the importance of cottage industries in our economy. How does the Second Five Year Plan aim to develop them ? 1958).

16. Describe some of the important cottage industries of India. What steps have been taken by the Government to encourage them ? (1957).

17. Account for the decline of cottage industries in India under British rule. What provisions for their development have been made under First Five Year Plan. (1956).

18. Mention any two important cottage industries of Bihar and give an idea of their present position and future prospects under the Five year Plan. (1955).

विहार इन्टर आर्ट्स

19. Describe the important cottage industries of India. What measures do you suggest for their development ? (1954, Supple.)

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

20. Examine the importance of cottage industries in Indian economy and suggest measures by which they can be fostered. (1950).

अध्याय १४

भारत में श्रम-सम्बन्धी समस्याएँ

औद्योगिक मजदूरों से आशय उन व्यक्तियों से है जो संगठित उद्योगों में मजदूरी पर काम करते हैं। इनकी संख्या देश में अधिक नहीं है। सन् १९५१ में उनकी कुल संख्या केवल ३० लाख थी। यह कुल कार्यशील जनता का २ प्रतिशत थी, और कुल जनसंख्या का ०.९ प्रतिशत। इससे स्पष्ट है कि भारतीय समाज में औद्योगिक मजदूरों का वह स्थान नहीं है जो उनका विदेशों में है। फिर भी वे जन साधारण का तथा सरकार का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं क्योंकि मजदूरों का यह वर्ग सबसे अधिक संगठित है और वह ऐसे पेशे में संलग्न है जिसका विकास देश के आर्थिक कल्याण के लिए बहुत आवश्यक है। औद्योगिक मजदूरों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिन पर गम्भीर विचार आवश्यक है।

§ १. भारतीय श्रम की कार्यक्षमता

अब हम भारतीय श्रम की कार्यक्षमता पर चिंतन करेंगे। वास्तव में हमारे सामने दो समस्याएँ उपस्थित होती हैं : (१) भारतीय श्रम कार्य-कुशल है अथवा नहीं? (२) यदि उसमें कार्य-कुशलता नहीं है, तो उसके क्या कारण हैं?

क्या भारतीय श्रम कार्य-कुशल है?

इस विषय पर कि भारतीय श्रम कार्य-कुशल है अथवा नहीं, बहुधा वाद-विवाद होता है; किन्तु यह विवाद निरर्थक है। साथ ही साथ यह समस्या विशेषज्ञों के योग्य है, अर्थशास्त्र के छोटे विद्यार्थियों के क्षेत्र की नहीं। फिर भी हम इस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि भारतीय संसार भर में सबसे अधिक कार्यकुशल हैं, क्योंकि भारतीय श्रम इतना सस्ता है कि प्रति इकाई श्रम की लागत हमारे देश में बहुत कम आती है। शायद श्रम की लागत संसार भर में सबसे कम भारतवर्ष में ही हो। यह हो सकता है, किन्तु यह तर्क मान्य नहीं। श्रम की कार्यक्षमता एक निश्चित समय में श्रमिक द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं की मात्रा से नापी जाती है। जो श्रमिक निश्चित समय में अधिक या श्रेष्ठतर माल उत्पन्न करते हैं वे अधिक कार्य-कुशल होते हैं; और जो उतने ही समय में माल कम या खराब किस्म का उत्पन्न करते हैं, कम कार्य-कुशल होते हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय श्रमिकों की कार्यकुशलता निस्सन्देह बहुत कम है।

भारतीय श्रमिकों की हीन कार्यक्षमता के कारण

मजदूरों की कार्यक्षमता (अ) देश और समाज के वातावरण, (आ) काम करने के स्थान के वातावरण तथा (इ) मजदूरों के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर होती है। अतः हम इस बात पर विचार करेंगे कि ये तत्व भारतीय मजदूरों की कार्यक्षमता पर कैसा प्रभाव डालते हैं।

(अ) देश और समाज का वातावरण

यह कहा जाता है कि हमारे देश और समाज का वातावरण कार्यक्षमता पर बुरा असर डालता है। पर यह आरोप उचित नहीं होता, जैसा कि नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा :

(१) जातीय गुण—पाश्चात्य लेखक बहुधा लिखा करते हैं कि भारतीय श्रमिकों के अकुशल होने का कारण यह है कि वे ऐसे पूर्वजों की सन्तान हैं जिनमें औद्योगिक काम करने की कोई सामर्थ्य नहीं थी। किन्तु यह कथन भारत की प्राचीन आर्थिक महत्ता की उपेक्षा करता है। भारत का इतिहास इस कथन को असत्य बताता है। एक समय था जब कि भारत संसार का सबसे प्रधान औद्योगिक देश था और उसके औद्योगिक पदार्थ संसार में सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। हमारे श्रमिक उन्हीं पूर्वजों की सन्तान हैं जिनकी चपल उँगलियों का लोहा सारा संसार मानता था। ब्रिटिश काल में हमारी स्थानीय चतुराई और उद्योगों का ह्रास होने लगा। किन्तु औद्योगिक विकास के मार्ग में भारत फिर आगे बढ़ रहा है और उसका श्रम कार्यकुशल होता जा रहा है। उदाहरण के लिए टाटानगर में जंगली जातियों के मनुष्य श्रमिक की भाँति काम करते हैं; किन्तु थोड़े से ही समय में इतने कार्य-कुशल हो गये हैं कि विदेशी यात्रियों और विशेषज्ञों ने भी उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

(२) जलवायु और भौतिक दशाएँ—भारतीय श्रमिकों की हीन कार्य-क्षमता का एक और कारण यहाँ की जलवायु बताई जाती है। यह कारण कुछ सीमा तक ठीक है क्योंकि देश की गर्म जलवायु मानवीय ढाँचे को अशक्त बनाने का काम करती है। किन्तु यह न भुलाना चाहिये कि हमारे श्रमिकों में कठिन और लगातार काम करने की असाधारण सामर्थ्य है और वे बहुत कठोर वातावरण में रहते हैं। उत्तरी भारत—विशेषकर नैपाल और पंजाब—के श्रमिक मजबूत होते हैं, किन्तु बंगाल या मद्रास के श्रमिक इतने बलवान नहीं होते। किन्तु वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप हम ऐसे साधनों का उपयोग कर सकते हैं जो हमारी जलवायु को कार्य के अनुकूल बना दें। बिजली के प्रचार के परिणामस्वरूप अब पंखे, रिफ्रीजरेटर, ह्यूमिडीफायर आदि का प्रयोग बहुत बढ़ गया है।

(३) सामाजिक और राजनीतिक दशाएँ—जैसा कि बताया जा चुका है, हमारे स्वतंत्र हो जाने से अब हमारे मजदूरों में आत्मविश्वास की भावना जागृत होने लगी है। और वे समझने लगे हैं कि वे भी कार्यकुशल हो सकते हैं। अतः राजनैतिक अवस्था अब कार्यक्षमता के अनुकूल है। इसी प्रकार हमारे श्रम-सम्बन्धी और कारखाने सम्बन्धी कानून बहुत अच्छे हैं और मजदूरों की कार्यक्षमता में सहायक होते हैं। हाँ हमारी जाति-प्रथा इस दृष्टिकोण से बहुत हानिकारक है। जाति बच्चे के उत्पन्न होते ही उसका पेशा निर्धारित कर देती है और इसमें उसकी रुचि का ध्यान नहीं रक्खा जाता। पर अब जाति-प्रथा ढीली पड़ रही है और इस तत्व का महत्त्व कम हो रहा है।

(आ) काम करने के स्थान का वातावरण

(४) काम करने की दशाएँ—हमारे देश में अधिकांश कारखानों में स्वास्थ्यनाशक वातावरण रहता है। न वहाँ सफाई होती है और न वहाँ प्रकाश और वायु का ही पर्याप्त प्रवेश हो पाता है। अक्सर वहाँ दुर्गन्ध और धुआँ फैला रहता है और गन्दा पानी सड़ता रहता है। कारखाने के कानून ने इस दिशा में कुछ सुधार अवश्य किया है पर फिर भी दशा बहुत शोचनीय है। ऐसे वातावरण में कार्यक्षमता का हीन होना स्वाभाविक है।

(५) काम करने के घंटे—यदि काम करने का समय लम्बा हुआ तो उससे कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है। हमारे श्रमिकों की कार्यक्षमता की हीनता का कुछ उत्तरदायित्व इस कारण पर भी है। हाल में ही कारखाने सम्बन्धी विधान ने काम के घंटे कम कर दिये हैं; किन्तु भारत ऐसे गरम देश के लिए वे अब भी लम्बे हैं। यह सच कहा गया है कि भारतीय श्रमिकों को लगातार लम्बे समय तक कठिन परिश्रम करना पड़ता है, अतः इससे वे अपने शरीर की रक्षा करने के लिए स्वाभाविक रूप से सुस्त और धीमे हो जाते हैं। नहीं तो उनका शरीर शीघ्र ही उन्हें जवाब दे जाय।

(६) पुरस्कार की पर्याप्तता और समीपता—भारतीय मजदूरों की यह सामान्य शिकायत रहती है कि उन्हें उपयुक्त मजदूरी नहीं मिलती। युद्ध के समय से उनकी मजदूरी अवश्य बढ़ी है, पर चीजों के मूल्य उससे अधिक बढ़ गये हैं; इससे उनकी हालत अवश्य गिर गई है। भारत में बोनस, प्रावीडेंट फंड आदि का अभी आरम्भ ही हो रहा है और यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के सुदूर पुरस्कार उनकी कार्यक्षमता को कितना बढ़ा सकेंगे।

(७) स्वतंत्रता और परिवर्तन—भारत में मजदूरों को काम चुनने और उसमें परिवर्तन की स्वतंत्रता का अवसर नहीं मिलता। उन्हें यह भी आशा नहीं होती कि अच्छा काम करने पर उनका पुरस्कार बढ़ जायगा। बहुधा उनका काम भी एक ही प्रकार का होता है जिससे उसमें दिलचस्पी नहीं रह जाती। इससे कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

(८) संगठनकर्ता की कार्यक्षमता—हमारे देश में संगठन की योग्यता का बड़ा अभाव है। अतः हमें विदेशों से इस योग्यता का आयात करना पड़ता है; किन्तु हमारे देश की जलवायु विदेशियों के अनुकूल नहीं होती। फिर, उन्हें अपने देश के कुशल मजदूरों से काम कराने का अनुभव होता है और उन्हें भारतीय श्रमिक अशक्त जानवर की भांति प्रतीत होते हैं। बहुधा विदेशी प्रबन्धकर्ता लापरवाह भी हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें बहुत सा रुपया पेशगी दे दिया जाता है और उन्हें आसानी से निकाला नहीं जा सकता। कौन-सा श्रमिक किस काम के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है, यह जानने की भी चेष्टा नहीं की जाती। फिर, जिन यंत्रों तथा औजारों का प्रयोग किया जाता है वे भी हमारे श्रमिकों के अनुकूल नहीं होते। दोषयुक्त मशीन का प्रयोग करना भ्रमपूर्ण मितव्ययिता है। यदि हम अपने देशवासियों को विदेश भेजें और वहाँ उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध करें, तो यह कमी दूर की जा सकती है। इस दिशा में भारत सरकार प्रशंसनीय कार्य कर रही है।

(इ) मजदूर के व्यक्तिगत गुण

(९) स्वास्थ्य और रहन-सहन का स्तर—हमारे अधिकांश देशवासियों के रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है; अतः वे शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में अशक्त होते हैं। हमारे श्रमिक गंदे चाल या बस्तियों में रहते हैं जहाँ मद्यपान, रोग और अनाचार का बोल-बाला होता है। उनका खाना-पहिनना असन्तोषपूर्ण होता है। नीचा स्तर निर्धनता तथा अशिक्षा का परिणाम होता है। निर्धनता की समस्या के कई पहलू हैं और इसे भारतीय अर्थशास्त्र की तात्विक समस्या कहना चाहिये। इसे दूर करने के लिए हमें अपनी आर्थिक प्रणाली को वस्तुतः बदल देना पड़ेगा। शिक्षा का प्रसार तथा जन-स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान के प्रसार से भी सुधार की आशा की जा सकती है। जनता का स्वास्थ्य सुधारने के लिए संगठित रूप से काम करने की आवश्यकता है जैसे पवित्र जल का प्रबन्ध करना, खालिस खाद्य-सामग्री की सप्लाई करना, उचित चिकित्सा के साधन देना और रोग बीमा (Sickness Insurance) स्थापित करना।

(१०) **बुद्धि या सामान्य ज्ञान** (General Intelligence)—हमारे श्रमिकों की बुद्धि और उनके सामान्य ज्ञान का स्तर बहुत नीचा होता है। माता-पिता की शिक्षा के कारण हमारे देशवासियों के घरों का वातावरण शिक्षाप्रद नहीं होता। हमारी शिक्षा-प्रणाली भी वहुत विस्तृत नहीं; अभी प्राथमिक शिक्षा भी निःशुल्क और अनिवार्य नहीं। यही कारण है कि हमारे श्रमिक अव भी रूढ़िवादी और गतिहीन (immobile) हैं। यह नितांत आवश्यक है कि सरकारी और गैरसरकारी व्यक्ति हमारे श्रमिकों में शिक्षा का प्रचार करने का उद्योग करें जिससे कि उनकी ज्ञान-वृद्धि हो।

(११) **शिक्षा**—भारतीय श्रम की हीन कार्यक्षमता का एक और कारण साधारण तथा विशिष्ट शिक्षा का अभाव है। अशिक्षा के कारण श्रमिकों में प्रसन्नता, आशा-भावना तथा ज्ञान का अभाव रहता है और उनकी कार्यक्षमता वढ़ने नहीं पाती। आजकल हमारी शिक्षा प्रधानतया साहित्यिक है। हमें सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक, औद्योगिक एवं टेक्निकल, दोनों ढंग की शिक्षा की वहुत आवश्यकता है।

(१२) **सदाचार-सम्वन्धी गुण**—हमारे मजदूर इतनी गरीवी और गंदे वातावरण में रहते हैं कि उनमें सदाचार-सम्वन्धी समस्त गुण विकसित नहीं हो पाते। आत्म-सम्मान, सचाई, अच्छे काम में अभिमान आदि वातें उनमें कम पाई जाती हैं। इसके विरुद्ध शराव-खोरी, जुआ खेलने आदि के दुर्व्यसन उनका विनाश करते रहते हैं।

(१३) **श्रम की अस्थिरता**—भारतीय श्रमिकों को वास्तव में पूरा श्रमिक नहीं कहा जा सकता। वे वास्तव में किसान ही वने रहते हैं। वे कारखानों में काम करने के लिए केवल उस समय आते हैं जब कि खेतों पर कुछ काम नहीं होता; जैसे ही वीज वोने और फसल काटने का अवसर आता है, वे कारखाना छोड़कर खेतों को वापस चले जाते हैं। भारतीय श्रम की यह अस्थिरता उसकी कार्यक्षमता नहीं वढ़ने देती। यदि हमारे औद्योगिक केन्द्रों में स्वास्थ्यपूर्ण, सकुटुम्व और सुखपूर्ण जीवन विताना सम्भव वना दिया जाय, तो हमारी श्रम की यह अस्थिरता समाप्त हो सकती है।

(१४) **आत्म-संतुष्टि**—हमारे श्रमिक स्वास्थ्य से ही सन्तोषी होते हैं। आर्थिक उन्नति का असन्तोष ही प्रेरक होता है। किन्तु हमारे श्रमिक परलोक का अधिक ख्याल रखते हैं और यदि उन्हें पेट भर भोजन मिलता जाय तो वे सन्तुष्ट रहते हैं। यदि उनकी मज़दूरी इससे अधिक वढ़ा दी जाय, तो पहले की अपेक्षा अधिक अनुपस्थित रहने लगते हैं क्योंकि अव कम दिन काम करने से ही उन्हें आवश्यकतानुसार मजदूरी मिल जायगी। हमें चेष्टा इस वात की करनी चाहिये कि वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान दें और अपने आर्थिक कल्याण की भी कुछ चिंता करें।

§ २. मजदूरों की भर्ती (Recruitment)

यह सर्व विदित है कि हमारे औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी रूप से निवास करने वाला औद्योगिक मजदूरों का वर्ग अभी तैयार नहीं हुआ, जो कि हमारे औद्योगिक संगठन की महान कमजोरी है। साधारणतया गाँववाले खेतों पर काम न होने के समय पर औद्योगिक केन्द्रों में चले जाते हैं और औद्योगिक मजदूर वन जाते हैं; और फिर वे कुछ समय के वाद गाँवों को वापस चले जाते हैं। इसके कारण कई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

मजदूरों की भर्ती

भारत में कारखाने, मजदूरों की भर्ती बड़े बेढंग तौर पर करते हैं। मजदूरों के चुनाव, शिक्षण और निरीक्षण का कोई सुव्यवस्थित प्रबन्ध नहीं है। अकुशल श्रम नदी की भांति गांवों से शहर को जाता है, और फिर गांवों को वापस चला जाता है। कुछ केन्द्रों में स्थानीय श्रम का उदय होने लगा है। भर्ती का तरीका, जो कारखाने प्रयोग में लाते हैं, इस आधारभूत अवस्था से मेल खाता है; और कभी-कभी आपत्तिजनक तरीके प्रयुक्त किये जाते हैं।

भर्ती के लिए जो व्यक्ति जिम्मेदार होता है, उसे सरदार, ठेकेदार या मिस्त्री कहा जाता है। बहुधा गांवों में जाकर वह मजदूरों को शहर में आने के लिए बड़े-बड़े प्रलोभन देता है। यह आम बात होती है कि ये आशाएं बाद को पूरी नहीं होतीं। जब वह मजदूरों को काम दिला देता है, तब मजदूर उसे प्रति मास मजदूरी का एक भाग नियमित रूप से घूस के रूप में देते रहते हैं। सरदार के हित में यह भी होता है कि वह अस्थायी तौर पर मजदूरों को काम में लगाये जिससे वे उस पर निर्भर रहें और उसके हाथ गरम करते रहें। मजदूरों के शहर में स्थायी रूप से न बसने और बार-बार गांवों को लौट जाने के कारणों में से, यह भी एक है।

ग्रामीण श्रम

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भारत में औद्योगिक श्रम का स्वभाव ग्रामीण होता है। भारत में अधिकांश औद्योगिक मजदूर हृदय से गांव वाले होते हैं और अपने ग्रामीण घरों से सम्बन्ध बनाये रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्होंने शहरों को ही घर बना लिया है, बहुत थोड़े होते हैं। गांव वाले आधुनिक शहरों को पसन्द भी नहीं करते। वे शहरों को ढकेले जाते हैं, वे उनकी ओर आकर्षित नहीं होते। उनका गांवों से सम्बन्ध वर्तमान अवस्था में हितकर भी है, और इसे प्रोत्साहित करना चाहिये।

रोजगार कार्यालय (Employment Exchanges)

सरकार ने विभिन्न देशों में रोजगार के कार्यालय स्थापित किये हैं, जो श्रम की मांग और पूर्ति में सामञ्जस्य बैठाते हैं। बेकार मजदूर वहां जाकर जिस प्रकार की नौकरी चाहते हैं, उसके लिए अपना नाम लिखा सकते हैं; और इसी प्रकार मालिक लोग भी जैसे मजदूरों की आवश्यकता होती है, इस कार्यालय में नोट करा सकते हैं। कार्यालय बेकार मजदूरों को विभिन्न मालिकों के पास उनकी आवश्यकतानुसार भेज देते हैं। यह प्रथा बहुत अच्छी है।

भारत में रोजगार कार्यालय सबसे पहले सन १९४४ में स्थापित हुआ। आजकल देश में लगभग १३० इस प्रकार के कार्यालय कार्य कर रहे हैं। अप्रैल सन १९५५ से ये कार्यालय राज्य सरकारों को सौंप दिये गये हैं। यह अभाग्य का विषय है कि इन कार्यालयों का काम अभी तक बहुत संतोषजनक नहीं हुआ है। यह लांछन लगाया जाता है कि वे बेकारों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं होते और पक्षपात से भी काम लेते हैं। उनके कर्मचारी इस संगठन की मूल नीति और उद्देश्य से पर्याप्त मात्रा में जानकारी भी नहीं रखते। इन कार्यालयों के अफसर इन लांछनों को मिथ्या मानते हैं। वास्तव में बात यह है कि अभी तक इनका उपयोग अधिकतर सरकारी दफ्तरों ने किया है, और कारखानों ने इन्हें अधिक लाभप्रद नहीं पाया है। यदि ये कार्यालय कारखानों की सच्ची सेवा कर सकें, तो भारत में मजदूरों की भर्ती की प्रणाली में काफी सुधार हो सकता है।

§ ३. औद्योगिक शान्ति की समस्याएँ

औद्योगिक शांति का महत्व

श्रम संबंधी झगड़े अच्छे नहीं होते और उनके बहुत से दोष होते हैं। (१) उनके कारण काम बन्द हो जाता है। जिससे उत्पादन में कमी आ जाती है। उस सीमा तक देश निर्धन हो जाता है। (२) यदि किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन या सेवा का प्रदान जो जीवित रहने के लिए आवश्यक हो रुक जाय, तो इससे बड़ा कष्ट होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी बिजली कम्पनी या जल-कल में हड़ताल हो जाय तो बिजली और पानी मिलना बन्द हो जायगा और प्रति दिन के जीवन में बड़ी कठिनाई होगी। (३) इसके अतिरिक्त मजदूरों की शिकायतें दूर करने का यह तरीका बहुत कीमती है। जब तक मजदूर हड़ताल पर रहते हैं, तब तक उन्हें मजदूरी का नुकसान होता है और उनके मस्तिष्क पर बड़ा खिचाव रहता है। कभी-कभी हड़ताल असफल रहती है, तब उनको न केवल मजदूरी से ही हाथ धोना पड़ता है वरन् नौकरी से भी वे अलग कर दिये जाते हैं। (४) अन्त में, औद्योगिक झगड़े पूंजीपतियों तथा मजदूरों के पारस्परिक संबंध बिगाड़ देते हैं जिसके राजनैतिक तथा सामाजिक परिणाम भीषण होते हैं।

योजना के आरम्भ होने के समय से औद्योगिक शांति का महत्व बहुत बढ़ गया है। हर औद्योगिक देश में मालिकों में झगड़ा होता रहता है, जिसके फलस्वरूप कारखाने बन्द हो जाते हैं। पर जब मजदूरों को मजदूरी और काम की दशाओं के सम्बन्ध में कुछ शिकायतें होती हैं, तब वे हड़ताल कर देते हैं। काम रुक जाने से देश का भारी नुकसान होता है। भारत में अधिकांश हड़तालें, मजदूरी, भत्ता, छुट्टी और काम के घंटों के विषय में होती हैं। बम्बई राज्य में सबसे अधिक अशान्ति रहती है।

देश की निरन्तर तथा लगातार उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक शान्ति बनी रहे। जिस देश की अर्थ-व्यवस्था का संगठन योजनात्मक उत्पादन और वितरण के आधार पर हो रहा हो और जो सामाजिक न्याय तथा जन-साधारण के कल्याण की चेष्टा कर रहा हो, वह बिना औद्योगिक शान्ति के वातावरण के प्रभावपूर्वक कार्य नहीं कर सकता। हमारे देश में योजना के अन्तर्गत उद्योगों के क्षेत्र में जो लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं, वे तभी प्राप्त किये जा सकते हैं जब कि पूंजी और श्रम में मैत्री भावना बनी रहे। वास्तव में औद्योगिक शान्ति का महत्व विस्तृत होता है और यह स्वीकृत बात है कि विश्वशान्ति के लिए यह एक महत्वपूर्ण शक्ति होती है। यह केवल मालिकों और मजदूरों के बीच की बात नहीं है प्रत्युत पूर्ण समाज के चिन्तन और विचार की बात है। हड़ताल का बाहरी परिणाम कुछ भी हो, उससे होने वाली हानि की सीमा एक पक्ष को प्राप्त होने वाले लाभ से कहीं अधिक होती है, और अधिकांश में देश भर को इससे हानि ही होती है।

हड़तालों के लाभ और हानियाँ

अतः यह अच्छा होगा कि हड़तालें हों ही नहीं और श्रम तथा पूंजी के पारस्परिक झगड़े अन्य किसी प्रकार सुलझ सकें। किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक औद्योगिक झगड़ों का होना अनिवार्य है, और वे एक आवश्यक तथा लाभप्रद काम भी संपन्न करते हैं। साधारणतया हड़ताल ही एक ऐसी रीति है जिसके द्वारा मजदूर मजदूरी, बोनस, काम की दशायें, आदि के संबंध में शिकायतें व्यक्त कर सकते हैं और उन्हें दूर कर सकने

हैं। प्रबंध कर्त्ता उनकी मांगों और शिकायतों को कोई महत्व नहीं देते; और जब हड़ताल हो जाती है और कुछ दिनों चलती है, तभी मामले पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाता है। अतः इस दृष्टिकोण से हड़तालें क्षम्य हैं।

किन्तु हम हर हड़ताल को ठीक नहीं मान सकते। कुछ हड़तालें बिना किसी वास्तविक शिकायत के ही संगठित कर ली जाती हैं। बहुधा काम न करने वाले नेता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तथा अन्य किसी कारण से हड़ताल करा देते हैं। भारत में विरोधी राजनीतिक दल अक्सर मजदूरों को हड़ताल करने के लिए उकसाते रहते हैं जिससे कि मजदूर उनके कब्जे में आ जाय या उनका राजनीतिक महत्व बढ़ता दीख पड़े। कुछ तो मजदूरों के नेता हड़ताल करा देते हैं या कराने की धमकी देते हैं और कारखाने वाले से कुछ रुपया ऐंठ लेने पर ही हड़ताल बन्द करते हैं। ऐसी हड़तालें भी अनुचित होती हैं जो बिना किसी उचित संगठन के की जाती हैं और अल्पकाल में ही पानी के बबूले की तरह वे समाप्त भी हो जाती हैं। ऐसी हड़तालों से मजदूरों को बहुत हानि होती है, उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगता है और उनका संगठन तथा एकता शक्तिहीन हो जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी हड़तालें होती हैं जो गलत समय पर चलाई जाती हैं। किसी गंभीर राष्ट्रीय संकट (जैसे भयानक युद्ध के समय या चिन्ताजनक राजनैतिक अवस्था के समय) में चलाई जाती हैं। यह हड़तालों का दुरुपयोग है और इनसे बचना चाहिए।

भारत में हड़तालों का इतिहास

मशीन तथा शक्ति के कंधों पर जब आधुनिक उद्योगवाद देश में आया, तब औद्योगिक हड़ताल होने लगी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व, हड़तालों का कोई नाम भी न जानता था। इतिहास में केवल एक ही हड़ताल की चर्चा है जो सन् १९०५ में बम्बई में हुई। बिजली के प्रवेश के फलस्वरूप जब काम के घंटे बढ़ाये गये, तब उसके विरोध में यह हड़ताल हुई। प्रथम महायुद्ध के समय में रहन-सहन की लागत बढ़ जाने एवं अर्थ-व्यवस्था में उथल-पुथल हो जाने के कारण अक्सर हड़तालें होने लगीं। सन् १९१९–२० में बम्बई में एक महान् हड़ताल हुई जिसमें १ लाख ५० हजार व्यक्ति शामिल थे; और वास्तव में मजदूर संगठनों का इतिहास यहां से आरंभ होता है। किन्तु बाद को जैसे ही मूल्य गिरे पर मजदूरी और बोनस में कमी न हुई, तो हड़ताल का बुखार कम हो गया। किन्तु यह औद्योगिक शान्ति अल्पकालीन था। आर्थिक संकट के समय चारों ओर मूल्यों में गिरावट हुई; और कारखाने वालों ने मजदूरी घटाना शुरू किया। इसको रोकने के लिए मजदूरों ने कई हड़तालें कीं। सन् १९२९–१९३३ का समय बहुत ही मार्के का है। इस समय में आर्थिक संकट अपनी तीव्रता पर था और मजदूरी में कमी की जा रही थी जिसके फलस्वरूप कई अल्पकालीन हड़तालें हुईं। किन्तु जब औद्योगिक विकास हुआ, तब हड़तालें फिर प्रकट हुईं और इस समय उन्होंने विकराल रूप धारण कर लिया। सन् १९३९ में ४०० से अधिक हड़तालें हुईं। इसका एक कारण यह भी था कि कई राज्यों में कांग्रेस सरकारें स्थापित हो चुकी थीं और उन्होंने मजदूरों की अवस्था सुधारने की प्रतिज्ञा की थी। द्वितीय महायुद्ध के समय में एक कानून बना जिसके अन्तर्गत सब हड़तालें अवैध घोषित कर दी गईं और मतभेद होने पर सरकार को पूर्व सूचना देना आवश्यक कर दिया गया जिससे कि झगड़े का निपटारा किया जा सके। द्वितीय युद्ध के पश्चात् हड़तालों की फिर एक लहर आई। इसका एक कारण तो यह था कि मूल्य बहुत ऊँचे हो रहे थे और दूसरा यह कि विभिन्न राजनैतिक दल अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। वास्तव में युद्ध तथा स्वतंत्रता के पश्चात् का समय औद्योगिक शान्ति की दृष्टि से सबसे खराब था। सन् १९४७ में १,८११ हड़-

तालें हुई जिनके फलस्वरूप लगभग २ करोड़ मनुष्य-दिवस (man-days) का नुकसान हुआ।

शांति स्थापना की मौलिक बातें

हमारे देश में औद्योगिक शान्ति बनाये रखने की समस्या बहुत आवश्यक हो गयी है। यह शान्ति बनाये रखने के लिये कुछ आधारभूत बातें स्पष्टतया समझ लेनी चाहिये। पहली बात यह जानने की है कि सामान्यतया मालिकों की शक्ति अधिक होती है जिसके कारण यदि वे न्यायपूर्ण व्यवहार न करें तो यह शक्ति अन्याय तथा अत्याचार का कारण बन सकती है। दूसरे, ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जो स्पर्धा तथा व्यक्तिगत लाभ आधार पर संगठित हो, मजदूरों को शान्तिमय हड़ताल द्वारा अपने हित की रक्षा करने तथा अपनी अवस्था सुधारने से नहीं रोका जा सकता। तीसरे, औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम में मजदूरों को साझीदार समझना चाहिये। उनकी शक्ति एवं कुशलता देश की बहुमूल्य सम्पत्ति है। किन्तु उनका एक व्यक्तित्व होता है जिसकी हमें रक्षा करनी चाहिये और उसका सम्मान भी। दूसरे शब्दों में, हमें उनको मनुष्य समझना चाहिये, यंत्र नहीं। चौथे, मजदूरों के आपस में मिलकर संघ बनाने का अधिकार स्वीकार करना पड़ेगा और मजदूर सभाओं की स्थापना को हमें केवल सहन ही नहीं करना चाहिये बल्कि उनको औद्योगिक प्रणाली के एक भाग के रूप में स्वीकार करना चाहिये और उनको सहायता भी करनी चाहिये। अन्त में, यह भी मानना पड़ेगा कि मजदूरों के हड़ताल का अधिकार राष्ट्रीय हित में सीमित भी किया जा सकता है। विशेष तथा राष्ट्रीय संकट में या समाज की सुरक्षा और कल्याण के लिए आवश्यक सेवाओं के सम्बन्ध में, झगड़े के न्याय-पूर्ण निर्णय के समय तक हड़ताल करने पर प्रतिबन्ध लगाना उचित होगा। इन सभी बातों का यह परिणाम निकलता है कि हमें मजदूरों के हड़ताल करने का अधिकार स्पष्टतया काम में लाना चाहिये, पर हमें ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिये कि जिसमें इस अधिकार को काम में लाने की आवश्यकता ही न पड़े। इसका यह आशय होता है कि मजदूरों में उत्तरदायित्व और वास्तविकता समझने की भावना होनी चाहिये और मालिकों में न्याय तथा सच्चाई की ओर प्रवृत्ति होनी चाहिये।

झगड़ों का निपटारा

हमें निम्न रचनात्मक कार्यक्रम का अनुगमन करके औद्योगिक शान्ति बनाये रखना चाहिये। पहला, हमें ऐसा काम करना चाहिये जिससे झगड़ा हो ही नहीं। यदि फिर भी झगड़ा होता है, तो हमको यह प्रयत्न करना चाहिये कि वे आपस में ही निपट जायँ। यदि यह भी सम्भव न हो तब, अन्त में, निष्पक्ष परीक्षा और पंचायत (Arbitration) के द्वारा निपटारा करना चाहिये।

(१) झगड़े बन्द करना

हमें प्रयत्न करना चाहिये कि औद्योगिक झगड़े हो ही नहीं, और इसलिए हमें उन दशाओं को उपस्थित करना पड़ेगा जो औद्योगिक शान्ति के लिए आवश्यक है। इस दिशा में निम्नलिखित सुझाव विचारणीय हैं :

i. **निर्देशों की सूची** (Manual of Instructions)—व्यर्थ का संघर्ष बनाने के लिए अभीष्ट होगा कि मालिकों और मजदूरों के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों की एक सूची स्पष्ट और ठीक-ठीक रीति पर बनायी जाय। मजदूर को पता होना चाहिये कि किस

खास पेशे में और किस खास पद पर उससे क्या आशा की जाती है। प्रत्येक कारखाने को हर वर्ग के मजदूरों के लिए एक अलग निर्देशों की सूची तैयार करना चाहिये। ऐसी सूचियाँ मजदूरों और सरकार के सहयोग से बननी चाहिये।

ii. निरीक्षक (Shop Stewards)—कारखाने में निरीक्षण करने के लिए मजदूरों के चुने हुए प्रतिनिधि निरीक्षक बनाये जाने चाहिये। मजदूरों की शिकायतें भी उनके द्वारा दूर की जा सकती हैं।

iii. शिकायतों को दूर करने की रीति का निवारण—मालिकों को यह भी चाहिये कि वे मजदूरों से परामर्श करने के पश्चात् यह स्पष्टतया निश्चित कर दें कि मजदूर अपनी शिकायतें किस प्रकार से उनके पास पहुँचा सकते हैं। मजदूर को या उसके प्रतिनिधि को यह सम्भव होना चाहिये कि वह कम से कम समय में सबसे बड़े अफसर के पास पहुँच सके। मजदूरों को यह भी सुविधा होनी चाहिये कि वे वर्तमान अवस्था में जो कमी पाते हैं, उसको अफसरों तक पहुँचा सकें।

(vi) सामाजिक सम्पर्क—कारखाने में काम करनेवाले बड़े स्तर के व्यक्तियों को सामाजिक सम्पर्क बढ़ाने का भी प्रयास करना चाहिये। यह सम्पर्क मजदूरों को छोटा मानकर उनके ऊपर कृपा करने की भावना से नहीं होना चाहिये वरन् उनके साथ औद्योगिक परिवार के सदस्यों की भाँति व्यवहार करना चाहिये।

v. समझौता करने वाले (Conciliators) की प्रवृत्ति—समझौता करनेवाले को मजदूर सभाओं के नेताओं तथा मालिकों से उस समय भी सम्पर्क बनाये रखना चाहिये जब कि झगड़े नहीं होते जिससे कि भावी झगड़ों के कारणों का निवारण होता रहे। इस प्रकार के सम्पर्क और बातचीत औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिए बहुत उपयोगी होंगे।

(२) औद्योगिक झगड़ों का पारस्परिक निवारण

यदि कोई औद्योगिक झगड़ा फिर भी हो जाय, तो प्रयास यह होना चाहिये कि मजदूर और मालिक आपस में ही समझ बूझकर उसका निपटारा कर लें। पारस्परिक समझौते द्वारा समस्याओं के हल को खोजा जा सकता है। यह बात स्मरण रखने की है कि श्रम सम्बन्धी कानून और झगड़े निपटाने का कानूनी संगठन केवल एक उपयुक्त ढाँचा मात्र प्रदान कर सकते हैं जिसमें मजदूर और मालिक शान्ति के लिए काम कर सकें, वे स्वयं शान्ति की गारन्टी नहीं दे सकते। हाल में ही इस प्रकार के कुछ समझौते गम्भीर झगड़ों के सम्बन्ध में हो चुके हैं। जून सन् १९५५ में अहमदाबाद मिलओनर्स एसोसियेशन और वहाँ के सूती मजदूर सभा के बीच में बोनस के प्रश्न पर एक समझौता हुआ था। एक दूसरा बोनस सम्बन्धी समझौता सन् १९५६ के आरम्भ में बम्बई मिलओनर्स एसोसियेशन तथा राष्ट्रीय मिल मजदूर संघ के बीच में हुआ। इसी प्रकार एक समझौता टाटा कम्पनी तथा उसके मजदूर के यूनियन के बीच में हो चुका है। आशा की जाती है कि ये समझौते भविष्य का मार्ग प्रदर्शन करेंगे और देश में औद्योगिक शान्ति का वातावरण उपस्थित करने में सहायक होंगे।

संयुक्त कमिटियाँ (Joint Committees)—मालिकों और मजदूरों में तुरन्त ही झगड़े दूर करने के लिए संयुक्त कमिटियाँ भी उपयोगी होती हैं। ये कमिटियाँ सामान्य रूप से श्रम-अनुशासन में सुधार करने तथा उत्पत्ति बढ़ाने के काम में मजदूरों का सहयोग प्राप्त करने में भी सहायक हो सकती हैं। इनका सफलतापूर्वक कार्य करना बहुत

मूल्य बहुत बढ़ गये थे; किन्तु मजदूरी उतनी नहीं बढ़ी थी। इससे मजदूरों में अशान्ति हुई। इसी समय देश में राजनीतिक हलचल भी मच गई। श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास में और लाला लाजपतराय ने पंजाब में कुछ मजदूर सभाएँ स्थापित कीं। आन्दोलन मद्रास से बम्बई में फैल गया और बम्बई अब इन सभाओं का केन्द्र हो गया है। मजदूर सभाओं को जनता से तथा सार्वजनिक संस्थाओं से जैसे कांग्रेस, होमरूल लीग और मुस्लिम लीग से बहुत सहानुभूति प्राप्त हुई। सन् १९२३ में मजदूरों की दशा काफी सुधर चुकी थी। मजदूर सभाओं के प्रारम्भिक समय में मजदूरों की द्रव्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ ही उन्हें एकता के सूत्र में बाँध सकती हैं; और जब यह सूत्र ढीला हो जाता है, तो आन्दोलन अपनी शक्ति खो देता है। अतः इस समय ऐसी सभाओं का काम धीमा पड़ गया।

ये प्रारम्भिक मजदूर सभाएँ केवल हड़ताल करने की कमेटियाँ मात्र थीं जो कि हड़ताल के समय अस्थायी रूप में स्थापित कर दी जाती थीं और जब उद्देश्य पूरा हो जाता था या पूरा नहीं होता था, तो वे भंग कर दी जाती थीं। किन्तु सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन ऐक्ट बना जिसने मजदूर सभा के आन्दोलन का इतिहास ही बदल दिया। इस एक्ट के पूर्व हमारे देश में मजदूर सभा सम्बन्धी कोई कानून नहीं था। पुराने सामान्य कानून के षड्यन्त्र के सिद्धान्त मजदूर सभाओं पर लागू किये जाते थे, जो उनके लिए बहुत घातक होते थे। १९२६ के ऐक्ट ने रजिस्टर्ड यूनियनों को बहुत सी सुविधाएँ प्रदान कीं। यह कानून बना दिया गया कि यदि कोई मजदूर सभा या और कोई व्यक्ति औद्योगिक झगड़ों को प्रोत्साहित करने के लिए कोई काम करे, तो वह दंड का भागी नहीं होगा। इस ऐक्ट ने इस आन्दोलन को सुदृढ़ कर दिया।

ट्रेड यूनियन ऐक्ट ने मजदूर आन्दोलन को बहुत बल और प्रोत्साहन दिया है। इस आन्दोलन को प्रारम्भिक अवस्था में निम्नलिखित ने भी प्रभावित किया: रूस की सन् १९१७ की क्रान्ति; अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की सन् १९२० में स्थापना; सन् १९२१-२४ का स्वराज्य आन्दोलन; और प्रारम्भिक हड़तालों की सफलता।

वर्तमान अवस्था—सन् १९४९–५० में भारत में लगभग ३,४०० रजिस्टर्ड मजदूर सभाएँ थीं। सन् १९३८-३९ में, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के पहले, यह संख्या केवल ७०० थीं। अर्थात् युद्धकाल में यह संख्या लगभग पाँच गुना बढ़ गई। इन सभाओं के सन् १९३८-३९ में ४ लाख सदस्य थे; पर सन् १९४९-५० में यह संख्या १८ लाख, अर्थात् ४½ गुनी, बढ़ गई। इनमें से अधिकांश सभाएँ औद्योगिक हैं अर्थात् ये किसी एक उद्योग के सब श्रेणी के मजदूरों को संगठित करती हैं।

इस समय देश में चार अखिल भारतीय सभाएँ हैं। इनके नाम हैं—भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress), अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress), हिन्द मजदूर सभा (Hind Mazdoor Sabha), और संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress)। भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने श्रम-आन्दोलन को सन्मार्ग दिखलाने के लिए सन् १९४७ में स्थापित किया और आज यह सबसे बड़ी अखिल भारतीय संस्था है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस सन् १९२० में बनी है और सन् १९४७ में यह सबसे बड़ी अखिल भारतीय संस्था थी। शेष दो संस्थाओं का अधिक महत्व नहीं है।

मजदूर सभाओं की कठिनाइयाँ—हमारे देश में मजदूर सभाओं की उन्नति अधिक

नहीं हुई है। जो हुई भी है उसमें वहुत-सी कमजोरियाँ हैं। इस आन्दोलन की निम्न-लिखित कठिनाइयाँ है जो मजदूर-सभाओं की उन्नति में वाधा डालती हैं:

(१) **भारतीय श्रम की पर्यटनशीलता**—भारतीय मजदूर केवल कारखानों पर ही निर्भर नहीं रहते। इसके विपरीत वे औद्योगिक केन्द्रों में तभी काम करने को आते हैं जब खेतों पर कोई काम करना नही होता। जब खेतों पर काम होता है, तब वे कारखानों का काम छोड़ कर गाँव में वापस चले जाते हैं। अतः उनका कारखाने से अस्थायी सम्वन्ध होता है और इसलिए उन्हें स्थायी रूप से मजदूर सभाओं के आधार पर संगठित करना कठिन हो जाता है।

(२) **भारतीय श्रम की भिन्नता**—हमारे औद्योगिक केन्द्रों में विभिन्न प्रदेशों के मजदूर, जिनकी जाति और जिनके धर्म अलग होते हैं, काम करने के लिए आते हैं। ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ वोलते हैं और उनके रीति-रिवाज तथा रहन-सहन के तरीके अलग-अलग होते हैं। अतः वे एक दूसरे से स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं मिल पाते और उसमें एकता का वंधन स्थापित नहीं हो पाता।

(३) **अनुशासन का अभाव**—भारतीय मजदूरों को पार्टी के अनुशासन (discipline) में रहने की आदत नहीं होती। उन्हें वहुधा मजदूर सभाओं के नियम और उपनियम खराव मालूम होते हैं और वे उनमें वंध जाना वुरा समझते हैं।

(४) **भारतीय मजदूरों की निर्धनता**—हमारे मजदूर वहुत निर्धन हैं और वे मजदूर सभा का चंदा आसानी से अदा नहीं कर पाते। इसलिए उनमें से वहुत से किसी भी सभा के सदस्य नही वनते। अगर सदस्य वन भी जाते हैं, तो वे वरावर चंदा दे नही पाते और अन्त में उनका नाम रजिस्टर से काटना पड़ता है।

(५) **अशिक्षा**—हमारे मजदूर अशिक्षित भी होते हैं। इस कारण वे मजदूर सभा का वास्तविक उद्देश्य नहो समझ पाते। वे इस वात का अनुभव नहीं करते कि यदि वे एक दूसरे से मिल जायँ तो मालिक के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा स्थापित कर सकते हैं और वैसे वहुत से लाभ प्राप्त कर सकते हैं जो उन्हें अन्यथा न मिलते।

(६) **मजदूर नेताओं की कमी**—मजदूरों के अपने नेता नहीं होते। अधिकांश में जव राजनोतिज्ञ अपने दृटिकोण से मजदूरों में अशांति फैलाना ठीक समझते हैं, तव वे मजदूरों के नेता वन जाते हैं। जव उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है या राजनीतिक आंदोलन शिथिल हो जाता है, तव वे भी अदृश्य हो जाते हैं। किंतु कुछ राजनीतिज्ञों तथा वकीलों ने मजदूरों की वास्तविक सेवा की है। किंतु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मजदूरों के लिये वे उतने उपयोगी नहीं हो सकते जितने कि मजदूर-वर्ग के नेता।

(७) **मालिकों और निरीक्षकों का विरोध**—मालिक कई रीतियों द्वारा मजदूर सभाओं का विरोध करते हैं। इनका भाव-व्राव करने की सामर्थ्य सशक्त होने के कारण, व्रे इन विरोधों में सफल भी हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, मजदूरों के निरीक्षक भी यह जानते हैं कि यदि मजदूर असंगठित हुए, तो वे उन पर अपना प्रभुत्व आसानी से जमा सकते हैं। इसलिए वे इन सभाओं का विरोध करते हैं।

समय के वीतने के साथ-साथ जैसे-जैसे ये वाधाएँ कम होती जायँगी, वैसे ही वैसे हमारे देश में मजदूर सभाओं का आन्दोलन भी जोर पकड़ता जायगा। किंतु अभी चेष्टा इस वात की होनी चाहिए कि इस आन्दोलन की नींव सुदृढ़ हो, और इसका काम उपयुक्त दिशा में हो।

मजदूर सभा आन्दोलन की कमजोरियाँ

हमने ऊपर भारत में मजदूर सभाओं की कुछ कठिनाइयों की चर्चा की है। अब हम उनकी कमजोरियों का दिग्दर्शन करेंगे। (१) भारत में मजदूर सभाओं की संख्या बहुत अधिक है। यह मजदूरों में सामूहिक संगठन स्थापित करने में बाधक होता है। (२) इन सभाओं में राजनीतिक वैमनस्य होता है। विभिन्न राजनीतिक दलों ने अलग मजदूर सभाएँ स्थापित कर ली हैं, और राजनीतिक द्वेषों ने इस आन्दोलन को आ घेरा है। (३) इन सभाओं के पास धन की भी कमी होती है जिससे इन्हें काम करने में बहुत-सी बाधाओं का सामना करना पड़ता है। बहुधा यह भी देखा जाता है कि मजदूरों में स्वयं आपस में एका नहीं होता। (४) इन सभाओं को बाहरी व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है जो कि इस आन्दोलन की एक भारी कमी है।

सभाओं की बाहरी व्यक्तियों पर निर्भरता—यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बाहरी व्यक्तियों ने मजदूर सभा आन्दोलन को स्थापित करने में बहुमूल्य सहयोग दिया है। यदि उनका सहयोग प्राप्त न होता, तो यह आन्दोलन वर्तमान शक्ति एवं विस्तार ग्रहण न कर पाता। बाहरी व्यक्ति या तो अपना पूरा समय मजदूर सभाओं के काम में लगाते हैं या वे इस काम को अपने प्रधान काम का पूरक मानते हैं। पूरे दिन काम करनेवाले बाहरी व्यक्ति मजदूर सभाओं की वास्तविक सेवा करते हैं और उनको अपना प्रतिनिधि चुनना इन सभाओं का अधिकार है। फिर भी इन सभाओं को समझना चाहिये कि बाहरी व्यक्तियों पर निर्भर रहने से उनमें स्वयं संगठन करने की सामर्थ्य नहीं हो पाती। हाल में ही ऐसे बाहरी मजदूरों व्यक्तियों की संख्या कम हो चली है, और इस प्रवृत्ति को बढ़ाना उचित होगा।

उपचार

भारतीय मजदूर सभा के आन्दोलन की कठिनाइयों और कमजोरियों के उपर्युक्त विवेचन से उनके उपचार की प्रधान रेखाएँ स्वयं स्पष्ट हो जाती हैं। उनमें से कुछ का हम नीचे विवरण देते हैं:

(१) मजदूरों को मजदूर सभाओं के दर्शन और रीतियों की शिक्षा देना आवश्यक है जिससे कि उनमें आत्म-विश्वास की भावना जागृत हो जाय। भारत सरकार ने इस उद्देश्य से एक नयी योजना चालू की है। कम-से-कम इतना हो ही जाना चाहिये कि मजदूर स्वयं मजदूर सभाओं के पदाधिकारी होने के योग्य बन जायें।

(२) मजबूत सभाओं को मजदूरों का प्रतिनिधि मान लेना चाहिये। कुछ राज्यों में ऐसी बड़ी सभाओं को जिनके सदस्य काफी होते हैं, इस प्रकार की मान्यता प्रदान कर दी गई। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार की मान्यता सहायक सिद्ध होती है।

(३) इस आन्दोलन को बल तभी प्राप्त हो सकेगा जब कि सभाओं के भीतरी स्रोतों से पर्याप्त धन मिलने लगे। सदस्यता बड़ी करने के लिए सभाएँ सदस्यता फीस कम रखती हैं और उसको भी वसूल करने में असमर्थ रहती हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि सदस्य समय पर फीस देते रहें, और यदि उसमें बाधा हो तो उनकी सदस्यता तुरन्त समाप्त कर दी जाय। किसी यूनियन की रजिस्ट्री करने के पूर्व इस बात को आवश्यक समझना चाहिये कि उसकी सदस्यता की फीस कम-से-कम ४ आने प्रतिमास हो। अदत्त फीस की वसूली कड़ाई के साथ करनी चाहिये।

मजदूर सभाएँ और आर्थिक उन्नति

सुदृढ़ मजदूर सभाओं का आन्दोलन केवल मजदूरों के हित-वर्धन के लिए ही आवश्यक नहीं है किन्तु उत्पत्ति बढ़ाने तथा लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भी यह जरूरी है। आर्थिक उन्नति को सफल बनाने में मजदूर सभाएँ महत्वपूर्ण काम कर सकती हैं। वे मजदूरों मे योजना के लिए उत्साह उत्पन्न कर सकती हैं और योजना-काल में काम में वाधा न डालकर वे इसको सफल भी बना सकती हैं।

इस बात को अब सभी स्वीकार करते हैं, और योजना के कार्यान्वित करने में मजदूरों के संगठनों का सहयोग प्राप्त किया जा रहा है। सन् १९४७ में औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) पास हुआ जिससे अनुसार मालिक और मजदूरों ने काम न रोकने का वचन दिया। सन् १९४८ में विभिन्न महत्वपूर्ण उद्योगों में त्रिपक्षीय आधार पर औद्योगिक कमेटियाँ (Industrial Committees) स्थापित की गईं। औद्योगिक विधान के अन्तर्गत वर्क्स कमिटी भी स्थापित की गई है। विकास परिषद (Development Councils) में भी जब श्रम-सम्बन्धी मामले विचाराधीन होते हैं तब मजदूरों के प्रतिनिधि बुलाये जाते हैं। त्रिपक्षीय आधार पर एक संयुक्त परामर्श बोर्ड (Joint Consultative Board) भी बनाया गया है। इस प्रकार का विकास बहुत अच्छा है और आशा है कि इस दिशा में और भी उन्नति होगी।

§ ६. भारत में मजदूरी की समस्याएँ

हमारे देश में औद्योगिक मजदूरी की समस्या मूलतः यह है कि मजदूरी की दर बहुत नीची है जिसके फलस्वरूप मजदूरों के रहन-सहन का स्तर तथा उनकी कार्य-क्षमता बहुत हीन होती है। गाँवों में मजदूरी की दर कस्बों और शहरों की अपेक्षा और भी कम होती है। स्पर्धा इसकी दर को ऊँचा करने में सहायक नहीं होती क्योंकि मालिकों की भाव-ताव करने की शक्ति मजदूरों से अधिक होती है, यद्यपि कि मजदूर सभाओं का संगठन मजदूरों की सहायता करने लगा है। यह प्रतीत होता है कि जब तक कि सरकार मजदूरी की दर स्थापित करने में सक्रिय रूप से कार्य न करेगी तब तक मजदूरों की दशा सुधर नहीं सकती। अतः भारत में औद्योगिक मजदूरी की समस्या यह है कि इसको कैसे ऊँचा किया जाय।

न्यायपूर्ण मजदूरी (Fair Wages)

युद्धकाल में और युद्धोपरान्त मूल्यों में काफी गति से बढ़ती हुई। उद्योगों को लाभ बहुत अधिक हुआ, और औद्योगिक मजदूरों के पुरस्कार में भी काफी वृद्धि हुई। यह बहुत अच्छी बात है। किन्तु मजदूरी में जो वृद्धि हुई वह बहुत कुछ मूल्यों के बढ़ जाने के कारण प्रभावहीन हो गई। यह कहना तो सम्भवतः अनुचित होगा कि मजदूरों को सब जगह आजकल न्यायपूर्ण मजदूरी मिल रही है। सिद्धान्त में तो न्यायपूर्ण मजदूरी देने का आदर्श मान लिया गया है किन्तु इस मजदूरी को रुपये-पैसे में व्यक्त करना बहुत कठिन है। औद्योगिक न्यायाधिकरण (Industrial Tribunal) इस दिशा में सर्व-मान्य गुर (Formulae) देने में असमर्थ रहा है। किन्तु हमें इस समस्या का सामना करना है और मजदूरी को न्यायपूर्ण स्तर पर लाना है।

मजदूरी नियंत्रण

सरकार को मजदूरी नियन्त्रण की व्यवस्था सहानुभूति पूर्ण ढंग पर करनी होगी।

केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने जो विभिन्न आयोग और कमिटियाँ समय-समय पर नियुक्त की हैं उनके परिश्रम के आधार पर लागू होनेवाले कुछ सामान्य सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं। किन्तु वे हर दिशा में प्राप्त नहीं है। इस प्रम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये :

(१) देश की सामान्य सामाजिक नीति में जो अन्तर हों, उनको कम करना चाहिये। साथ ही साथ यह आवश्यक है कि मजदूरों को राष्ट्रीय आय का एक उचित भाग मिले।

(२) जिन मजदूरों को आजीवित मजदूरी (Living wage) से कम पारितोषिक मिलता हो, उनकी दशा सबसे पहले सुधारनी चाहिये। मजदूरी प्रमाणीकरण (Standardization) की नीति बड़े पैमाने पर लागू करनी चाहिये। उस कारखाने में काम करने वाले विभिन्न वर्गों के मजदूरों के पुरस्कार, तथा समान पद पर विभिन्न कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों के पुरस्कार, का वर्तमान अन्तर कम करना चाहिये।

(३) मजदूरों को जो मँहगाई दी जाती है उसका आधा भाग मूल मजदूरी में सम्मिलित कर देना चाहिये क्योंकि मूल्यों के कम होने की अब कोई आशा नही है।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)

सभी मजदूरों को कम से कम इतनी मजदूरी तो मिलनी ही चाहिये कि वे बिना कठिनाई के अपना रहन-सहन चला सकें। यह एक न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने से हो सकता है। हमारे देश में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पास हो चुका है और यह आजकल लागू भी है। इस नीति को अच्छी तरह से कार्यान्वित करना चाहिये।

लाभ-बटाई (Profit Sharing)

औद्योगिक न्यायालय तथा न्यायाधिकरण (Tribunals) अब मजदूरों को सामयिक बोनस देने लगे हैं जिसके फलस्वरूप एक प्रकार की लाभ-बटाई की प्रथा हमारे देश में चल पड़ी है। बोनस के निर्धारित करने का कोई उचित आधार अभी प्राप्त नहीं हुआ है और इसके लिए कुछ रचनात्मक नियम बना देना उचित होगा। यह भी सुझाव रक्खा गया है कि बोनस मजदूर खाने-पीने में उड़ा न डालें, और इसके लिए यह उचित होगा कि बोनस नकद रुपयों में न देकर बचत सर्टिफिकेट आदि के रूप में दिया जाय।

मजदूरी और उत्पादकता में वृद्धि

मजदूरों को यह समझाना आवश्यक होगा कि उनको जितनी अधिक मजदूरी प्राप्त करने का अधिकार है, उसके साथ ही साथ उनकी उत्पादकता वृद्धि करने का कर्तव्य भी है। यदि मजदूर बिना किसी अधिक परिश्रम के, पर सच्चे दिल से, उत्पत्ति बढ़ाने का प्रयास करें, तो सफलता अवश्य मिलेगी। कारखाने के ढाँचे में सुधार करके, काम करने की दशा अच्छी बनाकर और मजदूरों को शिक्षित करके उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है; और उसमें न तो मालिकों को अधिक पूंजी लगानी पड़ेगी और न मजदूरों को अधिक परिश्रम ही करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह भी अभीष्ट होगा कि उत्पादकता के अनुपात में मजदूरी देने की रीति बनायी जाय। न्यूनतम मजदूरी के अतिरिक्त जो भी मजदूरी दी जाय वह उत्पादकता के अनुपात में होनी चाहिये लेकिन ऐसी रीति कार्यान्वित करने के पूर्व मजदूरों की राय ले लेना उचित होगा।

§७. भारत में श्रम कल्याण

श्रम कल्याण उस कार्य को कहते हैं जो मालिक अपने मजदूरों के भले के लिए करता है। जो भी काम मजदूरों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, सामान्य भलाई तथा कुशलता की वृद्धि के हित में करता है, वह सब श्रम कल्याण के अन्तर्गत आता है। भारत ऐसे देश में जहाँ के अधिकांश निवासी बहुत गरीब तथा हर बात में पिछड़े हुए हैं, श्रम कल्याण का महत्व बहुत अधिक है।

घर की समस्या—श्रम कल्याण में एक महान समस्या मजदूरों को रहने के लिए स्थान देने की है। भारत में मजदूर गंदे स्थानों और चालों में रहते हैं जहाँ रोशनी, सफाई, नाले, सड़ांस तथा रोशनदानों की उचित व्यवस्था नहीं होती। कहीं-कहीं पर म्युनिसिपल कमिटियों तथा इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों में मजदूरों के लिए मकान बनवा दिए हैं जो स्वास्थ्यपूर्ण हैं तथा जिनके किराये भी कम हैं; किन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है और उन्होंने समस्या को किसी विशेष सीमा तक हल नहीं किया है। किन्तु यह अवश्य है कि व्यक्तिगत साहस पर ही मकान बनवाने का काम छोड़ दिया जाय, इस पुरानी रीति को त्याग दिया गया है; और सरकार तथा मालिक दोनों इस विषय में दिलचस्पी ले रहे हैं। सन् १९५२ में भारत सरकार ने एक "सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह योजना" चलाई जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों, मालिकों तथा सहकारी समितियों को घर बनवाने के लिए वैयक्तिक सहायता तथा ऋण देने लगी। इसके अन्तर्गत प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में ४४ हजार घर बने किन्तु यह स्कीम अधिक सफल नहीं हुई और इसलिए उसमें सुधार कर दिया गया। द्वितीय योजना में ७७ हजार नये घर बनने की आशा है तथा बस्तियों की सफाई (Slum Clearance) के लिए भी प्रावधान किया गया है। कुछ राज्य सरकारों ने भी इस दिशा में ध्यान दिया है और सफल काम किया है। इस मामले में मालिक भी रुचि दिखा रहे हैं। सूती मिल उद्योग तो अपने मजदूरों के एक छोटे प्रतिशत में ही मकान दे पाया है, पर जूट उद्योग अपने ३३% मजदूरों को मकान देता है। टाटा कम्पनी तथा कुछ अन्य बड़े इन्जीनियरिंग के कारखानों ने मजदूरों के मकानों की अच्छी व्यवस्था की है। कोयले की खानें ८०% मजदूरों को मकान देती हैं; और यही बात उद्यान उद्योगों पर भी घटती है।

अशिक्षा—दूसरी महान समस्या अशिक्षा की है जिसके सुलझाने में श्रम कल्याण का काम हाथ बटा रहा है। बम्बई में ४०% मिलों ने मजदूरों तथा उनके बच्चों को प्राथमिक और विशिष्ट शिक्षा देने का प्रबंध किया है। अहमदाबाद की कुछ मिलों ने मजदूरों के बच्चों के लिए स्कूल खोले हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानों के मालिकों ने भी कुछ कार्य किया है। किन्तु इस दिशा में बहुत थोड़ा काम हुआ है और मालिकों को इस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

स्वास्थ्य—भारत में जहाँ मजदूर गरीब और अशिक्षित हैं, अस्पताल थोड़े और अकुशल हैं तथा डाक्टरों की कमी है, स्वास्थ्य की समस्या बहुत गंभीर है। मकानों के गंदे होने के कारण मजदूरों में बीमारी बहुत फैलती है और उनमें मृत्यु दर भी अधिक होती है। इस दिशा में मालिकों ने लाभदायक काम किया है। बड़ी-बड़ी मिलों ने अस्पताल खोले हैं जहाँ डाक्टर और दाइयाँ हर समय रहते हैं। मध्यम श्रेणी की मिलो ने दवाखाने (Dispensaries) स्थापित की हैं। छोटे-छोटे कारखानों में कुछ समय के लिए डाक्टर आते हैं। किन्तु इतना सब कुछ पर्याप्त नहीं। मजदूरों के राष्ट्रीय बीमा स्कीम के अन्तर्गत

मजदूरों को निःशुल्क डाक्टरी इलाज मिलता है; और उनके आश्रितों को भी यह सुविधा देने का प्रयास किया जा रहा है। इससे अवस्था में सुधार होगा।

नहाने, धोने और कैन्टीन की सुविधाएँ—कारखाने अधिनियम के अन्तर्गत यह प्रतिबन्ध है कि कारखानों में हाथ-मुँह धोने का प्रबंध होना चाहिए; किन्तु इस पर जोर नहीं दिया जाता। अधिकांश कारखानों में पानी तो मिल जाता है पर साबुन और तौलिया शायद ही कहीं मिलता हो। नहाने की सुविधा भी कानून के अनुसार मिलनी चाहिए पर मिलती नहीं है। कारखाने विधान की धारा ४७ के अन्तर्गत हर बड़े कारखाने को यह आवश्यक है कि छुट्टी के समय के लिए वह एक विश्राम घर तथा खाने का कमरा रक्खे। अधिकांशतः ऐसा किया भी जाता है। किन्तु कैन्टीन का प्रबंध कम हुआ है।

मातृत्व लाभ—मातृत्व के निकट आने पर स्त्री मजदूरों को छुट्टी चाहिए पर उनकी आय रुकनी नहीं चाहिए। इस उद्देश्य से अधिकांश राज्यों में "मातृत्व लाभ अधिनियम" बनाये गये हैं। किन्तु सूचना यह है कि मालिक यह लाभ अदा नहीं करना चाहते और कोई न कोई बात निकाल कर लाभ का भुगतान नहीं करते। यदि कोई स्त्री मजदूर लाभ माँगने की जिद करती है, तो वे उसे निकालने की धमकी देते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ तो यह भी नहीं जानतीं कि इस प्रकार का कोई कानून भी है। सरकार को चाहिए कि इस कानून के प्रशासन में सावधानी तथा कठोरता से काम लें; और मालिकों को भी इस ओर सहानुभूति का भाव रखना चाहिए।

वृद्धावस्था के लिए प्रावधान— उन्नतिशील औद्योगिक देशों में मजदूरों को बुढ़ापे में पेंशन देने का व्यवधान है; किन्तु भारत में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। कुछ मिल अपने स्वामिभक्त तथा कुशल मजदूरों को बुढ़ापे में कुछ रुपया देते हैं। यह रकम सौ रुपये से कम ही होती है और इसलिए यह अपर्याप्त है। सरकारी कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को अवश्य १० साल की नौकरी के बाद पेंशन पाने का अधिकार मिल जाता है। हाल में, कुछ उद्योगों में प्रावीडेन्ट फण्ड स्थापित किये गये हैं। मालिक और मजदूर मजदूरी का ६% देते हैं और मजदूर को नौकरी से अलग होने पर उसका फण्ड मिल जाता है।

मजदूरी-सहित छुट्टी—हमारे देश में कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत हर मजदूर को साल में १० दिन की छुट्टी पूरी मजदूरी पर मिलने का आयोजन किया गया है। बहुत से कारखाने, खासकर दक्षिण भारत के कारखाने, इससे अधिक दिनों की छुट्टी पूरी मजदूरी पर देते हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्रम कल्याण का काम अभी सीमित मात्रा में होता ह पर इस दिशा में उन्नति हो रही है।

§ ८. भारत में बेकारी

बेकारी एक भयानक आर्थिक बीमारी मानी जाती है। बेकारी का अर्थ होता है कि वह श्रम शक्ति जो धन उत्पन्न कर सकती है काम में नहीं लगाई जाती। फिर, बेकार व्यक्ति का दृष्टिकोण निराशावादी हो जाता है और इसमें कुशलता का ह्रास होता है। बेकारों की, विशेषतया पढ़े लिखे बेकारों की, संख्या में वृद्धि सरकार के लिए चिन्ता का विषय होती है। इससे राजनैतिक अस्थिरता तथा क्रान्ति का डर बना रहता है।

बेकारी की समस्या संसार के सभी देशों में है। पश्चिमी देशों में बेकारी औद्योगिक

होती है किन्तु बीमारी हमारे देश में अधिकांशतः पढ़े-लिखे व्यक्तियों तथा किसानों में होती है।

भारत में किसानों की बेकारी

भारत में किसानों में वहुत वेकारी होती है। खेती मौसमी पेशा है; और जब खेतों पर काम नहीं होता, तब किसान वेकार हो जाता है। अकाल के समय में वेकारी विकराल रूप धारण कर लेती है। किसानों को इस प्रकार कुछ ही समय के लिए काम रहता है और शेष समय वह वेकार रहता है। इसे अनुरोजगार (Under-Employment) कहते हैं। गाँवों में एक और प्रकार की वरोजगारी होती है जिसे "छिपी वेरोजगारी" (Disguised unemployment) कहा जाता है। आवादी बढ़ने तथा वैकल्पिक पेशों के अभाव में एक खेत पर आवश्यकता से अधिक किसान लगे रहते हैं। यह वेकारी दीख नहीं पड़ती पर होती अवश्य है। गाँवों में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते है जो पूर्णतया वेकार रहते हैं।

अकाल के कारण होने वाली कृषि संवंधी बेकारी का महत्व कम हो चला है क्योंकि एक तो अकाल ही कम होने लगे है और उनकी भयानकता भी कम हो गई है, और दूसरे अकाल से रक्षा करने का संगठन भी काफी अच्छा हो गया है। किन्तु मौसमी बेकारी वहुत अधिक है; और उसे दूर करने के लिए बहुत से कुटीर उद्योग जैसे रस्सी वटना, लकड़ी पर काम करना, मछलियों का व्यवसाय करना आदि चलाये गये हैं। छिपी वेकारी का प्रश्न वुनियादी है; और इसके हल के लिए जन संख्या के वढ़ने की दर को कम करना पड़ेगा तथा उद्योगों का विकास करना पड़ेगा जिससे कि कुछ किसान कारखानों में काम करने लगें।

शिक्षित बेकारी

भारत में शिक्षितों में या मध्यम वर्गो में वेकारी वढ़ती जा रही है। शिक्षित वेकारी की कोई मानी हुई परिभाषा नहीं है; किन्तु हम आठवीं कक्षा तक पढ़े व्यक्ति को शिक्षित मान सकते हैं और उसको उचित काम न मिलने पर उसे वेकार माना जा सकता है। देश में कितने पढ़े-लिखे व्यक्ति वेकार हैं, इसकी कोई ठीक-ठीक गणना नही हुई है; पर यह वेकारी भयानक रूप धारण कर सकती है क्योंकि अशिक्षितों के इस देश में पढ़े-लिखों का प्रभाव वहुत होता है।

शिक्षित वेकारी के कई करण हैं। इसका मूल कारण शिक्षा से संवंध रखता है। हमारी शिक्षा प्रणाली का प्रारंभ दफ्तरों के लिए लिपिक या क्लर्क तैयार करने की दृष्टि से किया गया था; और हमारे आजकल के ग्रेजुएट इसी काम के उपयुक्त होते हैं। हमें अपनी शिक्षा को रचनात्मक, व्यावसाइक तथा विशिष्ट वनाना चाहिए। हमारी अर्थ व्यवस्था कृपि प्रधान है, किन्तु खेती पर आवश्यकता से अधिक व्यक्ति पहले से ही लगे हुए हैं। इधर देश का औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास अधिक नहीं हुआ। अतः शिक्षित व्यक्तियों का वेकार रहना स्वाभाविक है। आवश्यकता इस वात की है कि देश का बहु-मुखी विकास योजना के आधार पर किया जाय और इसमें औद्योगीकरण पर अधिक वल दिया जाय। यदि हमारे उद्योगों की उन्नति हो सके, तो वहुत से व्यक्तियों को रोजगार मिल सकता है। यदि खेती वैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित ढंग पर होने लगे, तो कुछ शक्षित व्यक्तियों को वहाँ भी रोजगार मिल सकता है।

शिक्षित बेकारी को दूर करने के लिए बहुत सी चेष्टाएँ की गई हैं। सन् १९२४ और १९२८ के बीच में बंगाल, मद्रास, बम्बई, पंजाब और ट्रावनकोर आदि की सरकारों ने कमिटियाँ नियुक्त कीं जिससे कि वे इस समस्या पर अच्छी तरह मनन करें। उत्तर-प्रदेश में सन् १९३४ में ऐसी कमेटी बैठाई गई और सन् १९३७ में बिहार में। इन कमिटियों की रिपोर्टों में मूल्यवान सूचना मिलती है। पर समस्या का वास्तविक हल देश की गतिपूर्वक आर्थिक उन्नति करना है।

भारत में औद्योगिक बेकारी

पश्चिमी देशों में औद्योगिक मजदूरों की बेकारी एक आम बात है। हमारे देश में ऐसा नहीं है पर कभी-कभी यह समस्या सामने आ जाती है। साधारणतया हमारे यहाँ औद्योगिक मजदूरों की कमी रहती है, उनका आधिक्य नहीं। किन्तु मंदी के समय, जिसका कारण बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय होता है, बहुत से कारखाने बन्द हो जाते हैं और मजदूर बेकार हो जाते हैं। बेकारी की समस्या को हल करते समय इस प्रश्न को भी ध्यान में रखना चाहिए।

§ ९. कृषि-श्रम की समस्या

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश में ५ करोड़ खेतिहर मजदूर हैं। ये ग्रामीण जनसंख्या का २०% तथा देश की कुल जनसंख्या का १४% हैं। प्रथम अखिल भारतीय कृषि श्रम जाँच १९५०–५१ में हुई। इससे मालूम हुआ कि गाँवों के ३०% परिवार खेतिहर मजदूरों के हैं; और इनमें से आधे भूमिहीन मजदूर हैं। जिन मजदूरों के पास भूमि है, वह बहुत थोड़ी है और उनके लिए पर्याप्त नहीं।

आर्थिक परिस्थित

इस जाँच से मालूम हुआ कि १५% खेतिहर मजदूरों को साल में किसी भी प्रकार का रोजगार नहीं मिल पाता। शेष ८५% को कभी-कभी—जैसे जुताई, निराई या कटाई के समय—काम मिल जाता है। सन् १९५०–५१ में देश की प्रति-व्यक्ति आय रु० २६३ थी किन्तु खेतिहर मजदूरों की प्रति-व्यक्ति आय केवल रु० १०४ थी। वे साल में १८९ दिन खेतों पर काम करते हैं और २९ दिन और प्रकार का काम; अतः साल में उन्हें २१८ दिन या ७ महीने काम मिल पाता है। उनकी अवस्था इतनी शोचनीय है कि उस पर ध्यान देना आवश्यक है।

सुधार के उपाय

खेतिहर किसानों की परिस्थिति के सुधार का विषय उस गरीबी से मुक्ति पाने की समस्या से संबंधित है जिसका प्रकोप देश के कोने-कोने में है। फिर भी उनकी अवस्था में सुधार के लिए कुछ सुझाव नीचे दिए जाते हैं।

(अ) **भूमि का पुनर्वितरण**—जिन व्यक्तियों के पास एक निश्चित अधिकतम सीमा से अधिक भूमि है, उनसे अतिरिक्त भूमि लेकर खेतिहर मजदूरों को दे देनी चाहिए। इससे जीविकोपार्जन का उन्हें कुछ सहारा मिल जायगा।

(आ) **गहरी और विभिन्न प्रकार की खेती**—खेतिहर मजदूरों को काम गाँवों में ही खोजना पड़ेगा; अतः भारतीय खेती की उन्नति के समस्त उपाय उनकी अवस्था में भी

सुधार करेंगे। यदि हमारी खेती गहरे ढंग पर की जाय और भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलें उगाहने का प्रयत्न किया जाय, तो खेतों पर अधिक व्यक्ति काम कर सकते हैं।

(इ) गाँवों में पेशेवार भिन्नता—गाँवों में खेती के अतिरिक्त अन्य पेशे भी सफलता पूर्वक चलाये जा सकते हैं। इनमें से कुछ तो पेशे खेती के सहायक होंगे और कुछ उसके वैकल्पिक।

(ई) नयी भूमि को बसाना—खेतिहर मजदूरों को नई भूमि पर बसाने का प्रयत्न भी किया जा सकता है। जो भूमि आजकल बेकार पडी है उसे ट्रैक्टर आदि के द्वारा खेती के योग्य बनाया जा सकता है। सन् १९५७–५८ में भारत सरकार ने कई राज्यों को रु० २१ लाख सहायता या ऋण के रूप में इस काम के लिए दिये। मध्य प्रदेश में ५०० भूमिहीन मजदूरों को भूपाल के केन्द्रीय यान्त्रिक खेत पर बसाया गया है।

(उ) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम—खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी स्थिर करने का भी काम हुआ है। प्रथम योजना काल में न्यूनतम मजदूरी पंजाब, राजस्थान, अजमेर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ और त्रिपुरा में स्थिर की गई। अन्य सात राज्यों में भी इस दिशा में कुछ काम हुआ। दूसरी योजना काल में यह चेष्टा को जा रही है कि सब राज्यों में यह अधिनियम लागू हो जाय। किन्तु इससे अधिक लाभ होने की आशा नहीं है। पहले, यह उन्हीं मजदूरों को लाभ पहुँचावेगी जिनको काम मिलेगा औरों को नहीं। दूसरे, इस अधिनियम को लागू करने के लिए गांवों में कोई उचित प्रबंध नही। तीसरे, किसानों की हालत स्वयं इतनी खराब है कि शायद वे न्यूनतम मजदूरी न दे सकें।

मजदूरी के भुगतान की विधियाँ

खेतिहर मजदूरों को मजदूरी या तो नकद दी जाती है या सामान के रूप में। सामान के रूप में दी जाने वाली मजदूरी रीति-रिवाज द्वारा नियमित होती है और वह अधिकांशतः अनाज के रूप में दी जाती है। जो मजदूरी नकद दी जाती है उसका नियंत्रण अब न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के द्वारा होने लगा है।

दूसरी कृषि-श्रम जांच

दूसरी कृषि-श्रम जांच सन् १९५६–५७ में हुई। अब खेतिहर मजदूरों की १९५६–५७ की आर्थिक अवस्था का सन् १९५०–५१ की अवस्था से मुकाबला किया जा सकेगा; और यह पता चल सकेगा कि उनकी अवस्था में क्या परिवर्तन हुआ है।

सारांश

१. भारतीय श्रम कार्यकुशल नहीं है। इनकी कुशलता की कमी के कई कारण हैं।

२. मजदूरों की भर्ती के बहुत-से दोष हैं। रोजगार कार्यालय इस ओर सहायक सिद्ध नहीं हुए हैं।

३. भारत में श्रम की गतिशीलता में अनेक बाधाएँ है जिन्हें दूर करने का प्रयास करना अभीष्ट है।

४. औद्योगिक शांति का महत्व बहुत महान् है। हड़तालों के कुछ लाभ हैं पर हानियाँ अधिक हैं। हड़तालों का इतिहास पहले महायुद्ध के बाद भारत में आरम्भ हुआ। झगड़ों के निपटाने की विभिन्न रीतियाँ हैं जिनके अनुसार काम करना अभीष्ट होगा।

५. भारत में मजदूर सभाओं का इतिहास सन् १९१८ से आरम्भ होता है। इन

सभाओं की बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। इनकी विशेष कमजोरियाँ भी हैं।

६. न्यायपूर्ण मजदूरी, मजदूरी नियंत्रण, न्यूनतम मजदूरी, लाभ-बटाई, उत्पादकता-वृद्धि भारतीय श्रम की कुछ और समस्याएँ हैं।

७. भारत में श्रम-कल्याण ने काफी उन्नति की है। घर, शिक्षा, स्वास्थ्य, कैंटीन, मातृत्व लाभ, वृद्धि-प्रावधान तथा मजदूरी सहित छुट्टी की दिशाओं में काम हो रहा है।

८. भारत में किसानों में बेरोजगारी रहती है। इसको हल करने का प्रयत्न करना चाहिये। शिक्षित बेकारी की ओर भी ध्यान देना चाहिये। भारत में औद्योगिक बेरोजगारी की समस्या गंभीर नहीं।

९. भारत में ५ करोड़ खेतिहर मजदूर हैं जिनकी अवस्था शोचनीय है। उनकी दशा सुधारने के लिये उपयुक्त उपाय काम में लाने चाहिये।

परीक्षा प्रश्न

दिल्ली हायर सेकेन्डरी

1. Write a note on Industrial labour. (1957).

2. Write a note on Factory labour. (1956).

3. Is it correct to say that industrial labour in India is less efficient than in other advanced countries? Give reasons for your answer. (1954).

पंजाब, इन्टर

4. Write a lucid note on labour welfare work in India and state how far it has helped in promoting good relations between workers and employees ? (1958).

5. What is the nature and size of unemployment problem of India ? What measures are being adopted to solve the problem ? (1958).

6. Give briefly the various causes that hinder the growth of sound and strong Trade Unionism in India. (1955).

जम्मू एन्ड काशमीर, इन्टर आर्ट्स

7. Write a note on Trade Unionism in the Jammu and Kashmir State. (1954).

8. Write a note on the economic causes of unemployment in India. (1954).

9. Give an idea of the situation in regard to factory labour in India or in your State. How can the situation be improved ? (1952).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

10. What is meant by mobility of labour ? What are the abstacles to mobility of labour in India ? (1958).

11. What are the factors on which the efficiency of labour depends. Discuss with reference to industrial labour in India. (1958.)

12. Trace the growth of Trade Union Movement in India. Desorebe the present position of Trade Unions. (1954).

पटना, इन्टर आर्ट्‌स

13 How do you account for the low efficiency of Indian agricultural labour ? Suggest remedies. (1958).

14. Discuss the causes of law efficiency of Indian industrial workers. What steps have been taken since 1947 to improve their conditions ? (1957).

15. What is the method of payment of agricultural wages in your State ? What are its defects ? How would you remedy them ? (1955).

बिहार, इन्टर आर्ट्‌स

16. What are the problems of agricultural labour in Bihar ? How far has the Minimum wages Act 1948 improved its lot ? (1958).

17. Describe the economic conditions of agricultural labourers. Suggest measures to improve their condition. 1957).

18. Describe the measures taken from time to time by the Government of your State to protect tenants from landlords. (1954, Supple.)

19. How do you explain the inefficiency of industrial workers in India ? What measures do you suggest for their improvement ? (1954, Supple.).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्‌स

20. What are the causes of the inefficiency of Indian labour as compared to labour in other countries ? (1952).

21. What are the causes of industrial disputes in India ? Describe the steps taken to settle them. (1950).

अध्याय १५

भारतीय यातायात प्रणाली

§ १ प्रारम्भिक

हमारा वर्तमान समाज यातायात के साधनों पर मूल रूप से निर्भर है। इसीलिए यातायात के साधनों को वर्तमान समाज की नसें कहा जाता है और संदेशवाहन के साधनों को स्नायु। मनुष्य ने प्रकृति पर जो विजय प्राप्त की है, यातायात के साधन उनके प्रतीक हैं, क्योंकि उन्होंने दूरी को संक्षिप्त कर दिया है और संसार को पहले से छोटा बना दिया है। यातायात के साधनों का जो सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक महत्व है, वह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु उनका आर्थिक महत्व महान् है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा संसारव्यापी व्यापार का वर्तमान युग यातायात के कुशल साधनों के ऊपर स्थिर है। कच्चा माल दूर-दूर के स्थानों से जहाज और रेल आदि द्वारा ही कारखानों में आता है। जब कारखाने उन्हें पक्के माल में परिणत कर देते हैं, तो रेल और जहाज ही उन्हें देशी और विदेशी बाजारों में पहुँचाते हैं, जहाँ लाखों उपभोक्ता उन्हें खरीद सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि आधुनिक उद्योगवाद, जो वर्तमान काल का हृदय है, बिना सस्ते, आसान और कुशल यातायात के साधनों के असम्भव है।

यातायात के साधन

समय की गति के साथ-साथ यातायात के साधनों में भी परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहले मनुष्य ही यातायात का साधन था, और वर्तमान कुली इसका अवशेष चिह्न है। बाद को इस काम के लिए पशु बहुत उपयोगी सिद्ध हुए और यातायात के महत्वपूर्ण साधन हो गये। इसके उपरान्त जल-यातायात की प्रधानता हुई : पहले नदियों का उपयोग किया गया, क्योंकि उन पर अपेक्षाकृत कम खतरा था; और फिर नदियों के अनुभव से प्रोत्साहित होकर लोगों को समुद्र यातायात के उपयोग करने की हिम्मत हुई। तत्पश्चात् सड़क यातायात का प्रचार हुआ और सड़क के सुधार तथा उन पर चलने वाली गाड़ियों के निर्माण का समय आया। इसके बाद भाप की खोज हुई और रेल गाड़ियों का आविष्कार हुआ। फिर मोटर यातायात का जन्म हुआ और आजकल के आर्थिक जीवन में इसका प्रमुख स्थान है। यातायात के साधनों की वृद्धि का अंतिम रूप वायु-यातायात है।

भारत में यातायात का विस्तार तथा उनके परिणाम

यातायात की वृद्धि के आर्थिक परिणामों का भारत का उदाहरण देकर बड़ा ही अच्छा विवेचन किया जा सकता है। प्राचीन भारत में यातायात के साधन पूर्णतया सुव्यवस्थित तथा अच्छे थे। इसके पश्चात् आधुनिक काल तथा प्राचीन काल के बीच अशान्तिपूर्ण शताब्दियों में उनकी काफी अवनति हुई। इसके बाद यातायात की आवश्यकता की उन्नति के साथ यातायात के साधनों की समान उन्नति न हुई और सन् १८५७ की क्रान्ति के पूर्व उनकी दशा बहुत शोचनीय थी। सड़क थोड़ी थीं; और जो थी भी, वे बहुत कष्ट-

दायक और रक्षित थीं; नाव चलाई जा सकने वाली नहरें थी ही नहीं; और रेलों की उन्नति अभी होने को थी। इसके पश्चात् दशा सुधारने की भरसक चेष्टा की गई; और आज हमारे देश में एक अच्छी यातायात की व्यवस्था विद्यमान है, यद्यपि यह हमारी सारी अवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकती।

आधुनिक काल में यातायात के साधनों को उन्नति होने से हमारी आर्थिक प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं: (१) उनके आगमन के पूर्व हमारे उद्योग (Industries) छोटे पैमाने के थे और उनमें यन्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। किन्तु यातायात के सस्ते, आसान और शीघ्र साधन स्थापित हो जाने से हम मशीनों का, रसायनों का तथा विशिष्ट व्यक्तियों (technicians) का विदेशों से आयात करने लगे और हमारे देश में मशीन का उपयोग करने वाले बड़े पैमाने के उद्योग आरम्भ हो गये। यातायात ने यह भी सम्भव बना दिया कि हम कच्चा माल आसानी से कारखानों तक ले जा सकें और पक्का माल कारखानों से विभाजनकर्ताओं (distributors) और उपभोक्ताओं के पास तक पहुँचा सकें; और इससे आधुनिक उद्योगवाद के विकास में सहायता मिली, आधुनिक उद्योग की उन्नति के साथ-साथ हमारे घरेलू उद्योग अभाग्यवश नष्ट होने लगे, क्योंकि वे कारखानों के सस्ते माल की स्पर्द्धा न सह सके। (२) हमारे व्यापार और वाणिज्य की इतनी उन्नति यातायात के विकास की ही देन है। व्यापार और यातायात में घनिष्ठ सबन्ध है और एक की उन्नति के बिना दूसरे की उन्नति हो ही नहीं सकती। (३) किन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव हमारी कृषि पर हुआ, जिसका वर्णन हम नीचे करते हैं।

कृषि पर प्रभाव—(क) यातायात के साधनों की उनति का सबसे प्रधान असर कृषि का व्यापारकरण (Commercialisation of Agriculture) व्यापार हुआ। पहले हमारी कृषि "जीवन-रक्षक" (Subsistence Farming) कहलाती थी, क्योंकि किसान खेती मुख्यतया अपने भरण-पोषण के लिए करता था। यातायात के साधनों की उन्नति होने से कृषि के पदार्थ के लिए बहुत से लाभदायक बाजार खुल गये और किसान ने बाजारों में बेचने के लिए फसलें उगाहना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार कृषि का व्यापारकरण हो गया। (ख) पहले कृषि के पदार्थों का बाजार स्थानीय था। अतः अकाल के समय में मूल्य बहुत बढ़ जाते थे। यातायात के साधनों के न होने के कारण अनाज की अधिकता वाले स्थानों से अनाज लाया नहीं जा सकता था। इसके विपरीत, जब फसल अच्छी होती थी, तो अतिरिक्त उत्पत्ति दूसरे स्थान पर भेजी नहीं जा सकती थी और इस कारण मूल्य बहुत गिर जाते थे। हमारी कृषि का यह असन्तोषजनक लक्षण अदृश्य हो गया है। अब अकाल के समय, द्रुतगामी रेलों के द्वारा अकाल से प्रभावित क्षेत्रों में दूसरी जगह से शीघ्र ही अनाज पहुँचा दिया जाता है; और फसल अच्छी होने पर अतिरिक्त उत्पत्ति दूसरे स्थानों को भेज दी जाती है, जहाँ वह अच्छे मूल्य पर बिक सकती है। (ग) उत्पत्ति के साधन द्रुतगामी हो गये हैं और इस कारण गाँव वालों के लिए यह अब सम्भव हो गया है कि फल, साग-भाजी, दूध, अण्डे आदि नाशमान् वस्तुएँ उत्पन्न करें और उन्हें शहरों के बाजार में शीघ्र ही बेच दें। (घ) यातायात के साधनों ने हमारे दूर-दूर फैले हुए शान्त गांवों और कार्य-संलग्न शहरों के बीच में, तथा शहरों और विदेशों के बीच में, सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। अब हमारे गांव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के एक अंग बन गये हैं और वे अब संसार की दशाओं से प्रभावित होते हैं; उदाहरण के लिए क्रीमिया के युद्ध से बहुत से जूट पैदा करने वाले किसानों के घर चमक गये और अमेरिका के घरेलू युद्ध के समय में हमारे कपास उगाने वालों ने खूब लाभ

कमाया। (ङ) शहरों से घनिष्ठता हो जाने के कारण अब किसान प्रति दिन के काम के पदार्थ सस्ते मूल्य पर खरीद सकता है; और जब उसे नौकरी की आवश्यकता होती है, तब वह औद्योगिक शहरों को जा सकता है। (च) यातायात के साधनों ने हमारे किसानों को शिक्षित बना दिया है। उनके ज्ञान का क्षितिज अब विस्तीर्ण हो गया है और उनका धार्मिक जोश तथा प्रांतीयता, जाति-प्रतिबन्ध एवं रूढ़िवाद कम हो चला है।

§ २. भारत में रेल-यातायात

संक्षिप्त इतिहास

भारत में यातायात का सबसे प्रधान साधन रेल है। भारतीय रेलों का इतिहास सन् १८५३ से आरम्भ होता है जिस वर्ष लार्ड डलहौजी ने इस विषय पर अपनी सुप्रसिद्ध टिप्पणी (minute) लिखी। पहली रेलें प्राइवेट कम्पनियों ने गारंटी प्रथा के अन्तर्गत बनाई, जिसके अनुसार सरकार पूँजी पर ५% प्रति वर्ष के लाभ की गारंटी करती थी। इस प्रथा के अंतर्गत रेलवे कम्पनियों को कुशलतापूर्वक और मितव्ययितापूर्वक काम करने की कोई प्रेरणा नहीं होती थी और न उन्हें पूँजी लगाने में किफायत करने की सावधानी होती थी क्योंकि पूँजी चाहे जितनी भी लगे उनको ५% का लाभ होना आश्वासित था। अतः सरकार को भारी हानि उठानी पड़ी। सन् १८६९ में सरकार ने रेलों का बनाना अपने हाथ में ले लिया। किन्तु इसी बीच में सरकार को द्रव्य की कमी का सामना करना पड़ा और रेलों को बनाने का काम सन् १८८९ में फिर एक नई गारंटी प्रथा के अंतर्गत प्राइवेट कम्पनियों को सौंप दिया गया। सन् १९०० में रेलों ने सबसे पहले लाभ दिखाया। तब से नई-नई रेलें बनाने का काम बहुत तेजी से किया जाने लगा और यह काम प्रथम महायुद्ध के छिड़ने तक जारी रहा। युद्ध के बाद सरकार ने रेलों के प्रश्न पर विचार करने के लिए एकवर्थ कमिटी (Acworth Committee) बैठाई। इसकी सिफारिशों के परिणाम-स्वरूप रेलवे यातायात में बहुत सुधार हुए।

वर्तमान अवस्था

नई गारंटी प्रथा के अन्तर्गत सरकार ने उल्लिखित शर्तों पर रेलों के खरीद लेने का अधिकार सुरक्षित रक्खा था। उन्होंने कुछ काल बाद रेलों के खरीद लेने की नीति जारी की। आजकल वस्तुतः सारी रेलें सरकार की सम्पत्ति हैं। आजकल हमारे देश में लगभग ३५,००० मील लम्बी रेलें हैं।[1] हमारे देश के क्षेत्रफल के हिसाब से रेलों की यह लम्बाई बहुत कम है। हमारे देश में प्रति १,००० वर्ग मील पीछे २५ मील रेलवे लाइन हैं जो और देशों की अपेक्षा बहुत कम है। रेलों ने अभी हमारे गाँवों में प्रवेश नहीं किया और वे बन्दरगाहों या शहरों से अभी सम्बन्धित नहीं। हाल में सड़क यातायात की उन्नति हो जाने के कारण रेलों की कमी कुछ कम खटकने लगी है।

रेलों का पुनर्वर्गीकरण—देश के विभाजन के पहले भारत में प्रमुख रेलें ९ थीं। पाकिस्तान बन जाने के बाद भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण (re-grouping)

---

[1] देश के विभाजन के पहले भारत में रेलें ४१,००० मील लम्बी थीं। किन्तु ७,००० मील पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारत में केवल ३४,००० मील रेलें रह गईं।

हुआ। पुरानी रियासतों के भारत में मिल जाने के कारण उनकी रेलें भी भारतीय रेलों में मिल गई और इसके कारण रेलों का पुनर्संगठन आवश्यक हो गया। वैसे कार्यक्षमता और किफायतशारी के दृष्टिकोणों से भारतीय रेलों का पुनर्संगठन पहले से ही जरूरी था। अब समस्त भारतीय रेलें निम्नांकित ८ समुदायों में बँटी हुई हैं :

क्षेत्रीय (Zonal) रेलें			मील
१. केंद्रीय	..	..	५,३४६
२. पूर्वीय	..	..	२,३१९
३. उत्तरी	..	..	६,४३५
४. उत्तर-पूर्वी	..	..	३,०८२
५. उत्तर-पूर्व सीमा	..	..	१,७३३
६. दक्षिणी	..	..	६,१६१
७. दक्षिण-पूर्वी	..	..	३,४९६
८. पश्चिमी	..	..	६,०६४
			३४,६३६

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में रेलों की वर्तमान स्थिति

देश में भारतीय रेल प्रणाली सबसे बड़ा राष्ट्रीय उपक्रम (Nationalised-Enterprise) है। इसकी आमदनी इतनी अधिक होती है कि यह अपने चालू और स्थिर खर्च तो वहन कर ही देती है, पर इसके अतिरिक्त वह विकास एवं सुरक्षित कोष में भी काफी रुपया लगाती रहती है जो कि संसार के अन्य देशों की रेलें नहीं कर पातीं। रेलें माल ढोने व यात्रियों को लाने-लेजाने का काम अधिकांश मात्रा में पूर्ण करती है। भारतीय रेल उपक्रम में लगभग १,००० करोड़ रुपया लगा हुआ है। अपने कार्य परिचालन में उन्होंने सदैव नये-नये वैज्ञानिक एवं विशिष्ट विकास अपनाने की चेष्टा की है और वे सुरक्षित, मितव्ययी एवं कुशल सेवा प्रदान करती है। वास्तव में आजकल भारत में रेलें यातायात की सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं; और जहां तक हमें दीख पड़ता है आगे चलकर भी उनका यह महत्व बना रहेगा। वास्तव में उनका महत्व बढ़ रहा है क्योंकि देश की सवेग औद्योगिक उन्नति और आर्थिक विकास रेलों के ऊपर नया उत्तरदायित्व रखता जा रहा है।

रेलों के लाभ

हमारे जीवन के समस्त क्षेत्रों में—चाहे सामाजिक हों या राजनीतिक या आर्थिक—रेलों में बहुत तात्विक परिवर्तन कर दिये हैं। उन्होंने देश को निम्नलिखित लाभ पहुँचाये हैं :

(१) सामाजिक प्रभाव—रेलों ने कुछ समय पूर्व के शान्त और एकान्त गाँवों को शहरों से सम्बन्धित कर दिया है। उन्होंने समस्त भारत को एकता के सूत्र में बांध दिया है जिससे कि देश के कोने-कोने में पारस्परिक विचार विमर्श और सामाजिक मेलजोल होने लगा है। यात्रा के सस्ते, सुगम और शीघ्रगामी साधन प्राप्त हो जाने के कारण उन्होंने मनुष्यों में यात्रा करने की आदत प्रोत्साहित कर दी है। विशेषकर धार्मिक यात्रियों

को इससे विशेष सुविधा हुई है। रेल द्वारा यात्रा करना सुरक्षित भी होता है : अकेली बैलगाड़ी या पालकी को लूटने के बजाय कई सौ यात्रियों से भरी हुई गाड़ी को लूटना आसान नहीं है। वास्तव में भारत में जो पहले ठगी की प्रथा प्रचलित थी, उसको इतिश्री करने में रेलों ने अच्छा काम किया। सफाई के लिए खेती के सुधरे हुए तरीके लोकप्रिय बनाने के लिए तथा अन्य कामों के लिए जो प्रोपेगेंडा किया जाता है, उसमें भी रेलें काफी सहायता पहुँचाती हैं। अंत में, उन्होंने देशवासियों को कई प्रकार के आर्थिक लाभ पहुँचा कर देश का धनी भी बनाया है।

(२) **राजनीतिक लाभ**—रेलों के राजनीतिक लाभ भी कई होते हैं। उन्होंने भीतरी दंगों, झगड़ों और युद्धों का अन्त कर दिया है और देश के अन्दर शान्ति स्थापित करने में सहायता दी है। भारत की एक जाति का स्वरूप देने में और केंद्रीय सरकार को मजबूत बनाने में रेलों ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। उन्होंने देश की बाहरी आक्रमणों से भी रक्षा की है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर फौजें शीघ्रता से जहां आवश्यक हो भेजी जा सकती हैं। रेलों ने सरकार को देश के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने के लिए मजबूर किया और इस प्रकार उन्होंने सरकार के हस्तक्षेप न करने की हानिकारक नीति के खंडन करने में सहायता पहुँचाई। उन्होंने सरकार की आय भी बढ़ाई है। रेलें सरकारी सम्पत्ति हैं, इसलिए उनका सारा लाभ सरकारी खजाने में ही जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने देशवासियों की आय बढ़ाकर उनकी कर देने की सामर्थ्य भी बढ़ा दी है; और उन्होंने मालगुजारी, आयात-निर्यात कर तथा अन्य करों के वसूल करने में काफी सुविधाएँ प्रदान करने की है।

(३) **आर्थिक लाभ**—सामाजिक और राजनीतिक लाभों की अपेक्षा रेलों के आर्थिक लाभ और भी अधिक तात्विक हुए हैं। उन्होंने कृषि, जंगल, उद्योगों और व्यापार को बहुत लाभ पहुँचाये हैं, और श्रम तथा पूंजी पर भी उनका अच्छा प्रभाव हुआ है।

(क) **कृषि**—हमने ऊपर यह बताया है कि यातायात और सन्देशवाहन के साधनों की उन्नति से कृषि को क्या-क्या लाभ हुए; ये सारी बातें रेलों पर भी घटती हैं। संक्षेप में, रेलों ने (१) कृषि का व्यापारीकरण कर दिया है जिससे फसलों का स्थानीयकरण (localisation) और विशिष्टीकरण (specialisation) होने लगा है; (२) बाजारों का विस्तार बढ़ा दिया है; (३) नाशमान वस्तुओं की उत्पत्ति को प्रोत्साहित किया है; (४) हमारी ग्रामीण व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से सम्बन्धित कर दिया है; (५) किसानों की आर्थिक दशा सुधारी है; (६) हमारे किसानों को कई प्रकार से शिक्षित किया है; (७) अकाल के समय में रेलों ने समय-समय पर जो सहायता पहुँचाई है, वह बहुमूल्य सिद्ध हुई है। वास्तव में रेलों ने "अकाल" शब्द का अर्थ ही बदल दिया है—पहले अकाल का अर्थ होता था **खाद्य पदार्थों की कमी**। किन्तु अब इसका अर्थ होता है **बेरोजगारी** (Lack of Employment)।

(ख) **वन-व्यवसाय** (Forestry)—रेलों ने वन-व्यवसाय को भी बहुत फायदा पहुँचाया है। रेलों के बनाने में स्लीपरों की बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है, जिसके कारण लकड़ी काटने की प्रेरणा मिली है। इसके अतिरिक्त रेलों ने जंगलों के शोषण में और उनकी छोटी और बड़ी उत्पत्तियों के प्राप्त करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है।

(ग) **उद्योग**—रेलों ने आधुनिक उद्योग की स्थापना में बहुत सहयोग दिया है। मशीन, रसायन और निपुणता के आयात तथा कोयला और कच्चे माल के यातायात में रेलों ने बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान की हैं। पक्के माल का समस्त देश में विभाजन करना

भी रेलों ने ही सम्भव बनाया है। रेलों ने इंजोनियरिंग के उद्योगों को भी उत्तेजना दी है। खनिज पदार्थों के शोषण करने में, जिनके बिना आधुनिक उद्योग चल ही नहीं सकते रेलों ने बड़ी सहायता पहुँचाती है।

किन्तु उन्होंने घरेलू उद्योगों को लगभग नष्ट-सा कर दिया है। कारखाने के बने हुए सस्ते माल का आ जानो से और सस्ती दर पर यातायात करके उन्होंने घरेलू उद्योगों का अंत-सा कर दिया है।

(घ) व्यापार—रेलों ने व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहित किया है। देश के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि कुछ समय पूर्व हमारा भीतरी (internal) व्यापार बहुत थोड़ा था। किन्तु रेलों के बन जाने से माल के यातायात को लागत और असुविधाएँ बहुत कम हो गई हैं। इसलिए भीतरी व्यापार बहुत बढ़ गया है। उन्होंने बन्दरगाहों पर बाहर जानेवाला माल एकत्रित करके और आयात किये हुए माल का देश भर में विभाजन करके हमारे विदेशी व्यापार को बढ़ाया है।

(ङ) श्रम—रेलों ने श्रम की गतिशीलता (mobility) को बढ़ाया है और जन-संख्या के समान विभाजन में सहायता की है। अब मजदूरों ने गाँव से, जहाँ आबादी का दबाव अधिक होता है, औद्योगिक शहरों को (जहाँ श्रम की कमी है) जाना आरम्भ कर दिया है। रेलों ने दो श्रम-वर्गों को उत्पन्न किया है; रेल के कर्मचारी जिनमें ड्राइवर, गार्ड, स्टेशन-मास्टर और कुली आदि शामिल होते हैं, और कारखानों के मजदूर जिनकी संख्या कारखानों की संख्या के साथ-साथ बढ़ गई है और कारखानों की संख्या रेलों के ही कारण बढ़ी है।

(च) पूंजी—वे हमारे देश में बहुत-ही विदेशी पूंजी भी लाई हैं जो आर्थिक लाभों से शून्य नहीं और जिसने हमारे देवासियों में जोखम झेलने की प्रवृत्ति जागृत की है।

रेलों से हानियाँ

रेलों से हमारे देश को हानियाँ भी हुई हैं। किन्तु बहुधा उन्हें बढ़ाकर बताया जाता है। यह कहा जाता है कि रेलों ने घरेलू उद्योगों को नष्ट कर दिया है और इस प्रकार उन्होंने सहायक आय का एक साधन किसानों से छीन लिया है। परन्तु यह कुछ ही सीमा तक सच है। संसार के प्रत्येक देश में आर्थिक उन्नति का एक ऐसा सोपान आता है जब कि कारखाने घरेलू उद्योगों के ऊपर विजयी होते हैं। यदि हमारे देश में रेलें न होतीं तो हो सकता था कि कारखानों की यह विजय कुछ समय बाद होती, किन्तु यह विजय होती अवश्य। इसके अतिरिक्त, जो घरेलू उद्योग कारखानों से स्पर्द्धा करने में समर्थ हैं, वे या तो स्थापित हैं या उनका पुनरुद्धार हो रहा है और रेलों से इस काम में सहायता मिल रही है। रेलों पर यह भी लांछन लगाया जाता है कि उन्होंने देश की एकतरफा उन्नति की है: उन्होंने निर्यात किये जानेवाले कच्चे माल पर और आयात किये गये पक्के माल पर कम किराया वसूल करके देश को अनुपात से अधिक कृषि-प्रधान बना दिया है। यह बात तो ठीक है; किन्तु इसके लिए रेलें उत्तरदायी नहीं, वरन रेल के किराये की नीति उत्तरदायी है। यह भी कहा जाता है कि रेलों ने अकाल की समस्या को आसान तो बना दिया है, किन्तु साथ ही साथ उन्होंने घरेलू उद्योगों का विनाश करके भूमि पर आबादी का दबाव बढ़ा दिया है। हमने इस बात पर विवेचना की है, और उसका दोहराना बेकार है। रेलों के आलोचक यह भी कहते हैं कि उनके कारण जंगलों की विवेकहीन और आँख मूंदकर कटाई आरम्भ हो गई, जिसे बाद को रोकना पड़ा। देश में बहुत-सी विदेशी पूंजी

का आयात करने के लिए भी रेलें ही जिम्मेदार ठहराई जाती हैं; और यह सर्वविदित है कि विदेशी पूँजी ने भूतकाल में हमें बहुत-सी आर्थिक और राजनीतिक हानि पहुँचाई।

रेल यातायात के विस्तार की आवश्यकता

हमारे देश में रेल यातायात की सुविधाएँ हमारी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सदैव अपर्याप्त रही हैं। भारत में लगभग ३६ हजार मील लम्बी रेलें हैं। देश का इतना बड़ा विस्तार होते हुए भी इतनी कम रेल होना बड़े दुःख की बात है। प्रति एक हजार वर्ग मील पीछे हमारे यहाँ २५ रेल की मीलें हैं जो अन्य देशों से बहुत कम है। रेलों ने अभी ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश नहीं किया है; और ये क्षेत्र बन्दरगाहों से या शहरों से रेल यातायात द्वारा सम्बन्धित नहीं हो पाये हैं। आधुनिक समय में हमने हमेशा रेलों की कमी महसूस की है।

गत कुछ वर्षों से रेलों की यह कमी और भी गम्भीर बन गई है। देश की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ रेल द्वारा ले जाये जानेवाले माल की मात्रा बहुत बढ़ गई है और इस सब माल को ले जाने में रेलें असमर्थ सिद्ध हो रही हैं। देश की जैसे-जैसे औद्योगिक उन्नति होती जायगी और हमारे महान् निर्माण कार्य (projects) जैसे-जैसे तैयार होते जायँगे, वैसे ही वैसे रेलों को अधिक मात्रा में माल ढोना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, सिंदरी में खाद का कारखाना बन जाने के कारण रेलों को प्रति दिन एक हजार टन जिप्सम (Gypsum) बीकानेर से सिंदरी ढोना पड़ता है। जब पक्का माल तैयार हो जाता है तब उसको भी देश भर में वितरण करने के लिए रेल यातायात की आवश्यकता पड़ती है। कोयला, चूना, जूट तथा अन्य उद्योगों की उत्पत्ति बढ़ती ही जा रही है; और कच्चा माल कारखानों तक ढोने के लिये और पक्के माल को उपभोग केन्द्रों अथवा बन्दरगाहों तक पहुँचाने के लिए रेल यातायात की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ती जा रही है। सन् १९५५-५६ में रेलों ने ११ करोड़ टन माल ढोया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पूरे हो जाने पर उन्हें प्रति वर्ष १६ करोड़ टन माल ढोना पड़ा: कोयले की उत्पत्ति बढ़ जाने से २ करोड़ टन, इस्पात की उत्पत्ति बढ़ जाने से २ करोड़ टन, और सीमेंट की उत्पत्ति बढ़ जाने से ५० लाख टन माल उन्हें और ढोना पड़ा। देश की सामान्य उन्नति होने के साथ-साथ रेल द्वारा यात्रियों को लाने-ले जाने का काम भी बढ़ता जा रहा है। कई वर्षों से यात्रियों की यह माँग है कि ट्रेनों की संख्या बढ़ाई जाय और उन्हें यात्रा की अधिकाधिक सुविधाएँ दी जायँ।

विस्तार-सम्बन्धी उद्देश्य एवं लक्ष्य

यह बताया जा चुका है कि सन् १९६०-६१ में भारतीय रेलों को लगभग १६ करोड़ टन माल ढोना पड़ा। अनुमान यह है कि सन् १९६०-६१ में उन्हें २४ करोड़ टन माल ढोना होगा। रेलें अब से इस बात का प्रयास कर रही हैं कि उनकी सामर्थ्य इतनी बढ़ जाय कि वे इतने माल को ढो सकें। रेलवे लाइनों को बढ़ाने तथा रेल के एंजिन और डिब्बे आदि की संख्या में वृद्धि करने के लिए यथोचित नियोजन किया जा रहा है। रेलें अधिक यात्रियों को ले जाने की सुविधाएँ प्रदान करने की भी चेष्टा कर रही हैं। किन्तु उनकी इस दिशा में अधिक सुविधा देने की सामर्थ्य सीमित है; और यह भी सब मानते हैं कि उन्हें पहला ध्यान माल ढोने की ओर देना चाहिये। अतः आजकल रेल गाड़ियों में जो भीड़-भाड़ होती है, उसे भविष्य में कुछ सीमा तक तो अवश्य सहन करना होगा। फिर भी रेलों ने यह आयोजन किया है कि तीसरी योजना में यात्रियों को ले जाने की सामर्थ्य में १५ प्रतिशत की उन्नति हो।

यह हर्ष का विषय है कि भारतीय रेलों ने बढ़ती हुए माल तथा यात्रियों की संख्या को यातायात की सुविधा देने के लिए व्यावहारिक एवं उचित ढंग पर काम करना आरम्भ कर दिया है; और वे अधिक रेलवे लाइनों को बनाने तथा डिब्बे और एंजिनों की संख्या बढ़ाने का व्यवस्थित ढंग पर प्रयास कर रही हैं। पहली पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) में रेलों पर ४०० करोड़ रुपया लगाया गया; दूसरी योजना (१९५६-६१) में उन पर १,१२५ करोड़ रुपये लगाने का प्रावधान हुआ; और तीसरी योजना में रु० १२२० करोड़ का।

रेलवे लाइन, एंजिन और डिब्बों का प्रतिस्थापन (Rehabilitation) तथा वृद्धि की समस्या

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि रेलवे यातायात में वृद्धि करना बहुत आवश्यक है। रेलों का गतिपूर्वक विकास इस कारण नहीं हो रहा है कि बहुत सी रेलवे लाइनें पुरानी हो चुकी हैं और बहुत से रेल के डिब्बे और एंजिन काम लायक नहीं रहे। वास्तव में रेलों के सामने आजकल सबसे बड़ी समस्या पुराने डिब्बों, एंजिनों तथा लाइनों की है।

प्रतिस्थापन की समस्या का इतिहास—गत २५ वर्षों में रेलों को स्थिर पूंजी (Fixed assets) का काफी प्रयोग हुआ; किन्तु उनका प्रतिस्थापन पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकी। सन् १९२९-३१ के महान् संकट के समय में रेलों की आमदनी इतनी भी नहीं थी कि वे अपने ऋण पर ब्याज भी दे सकें। डिब्बों और इंजिनों का प्रतिस्थापन जो नितान्त आवश्यक था, केवल वही पूरा किया जा सकता था। सन् १९३७ में रेलों की अवस्था सुधरी और तब उन्होंने यह चेष्टा की कि प्रतिस्थापन की गति को तेज किया जाय। लेकिन सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और इस मार्ग में फिर बाधा आ खड़ी हुई। युद्ध के आरम्भ में देश का मध्य-पूर्व (Middle East) को बहुत से डिब्बे और रेल का इंजिन भेजने पड़े तथा कुछ रेल की पटरियां भी उखाड़ कर भेजनी पड़ी। २६ छोटी रेलवे लाइनें पूरे रूप से उखाड़ डालनी पड़ी। युद्ध के उत्तरी काल में जापान के विरुद्ध लड़ाई लड़ने का भारत आधार बनाया गया और बहुत सी रेल की निर्माणशालाओं में अस्त्र-शस्त्र बनने लगे। इसके फलस्वरूप प्रतिस्थापन की समस्या गम्भीर होती ही चली गई। जब युद्ध समाप्त हुआ तो देश का विभाजन हो गया जिसके फलस्वरूप रेलों तथा उनके सामानों का भी विभाजन करना पड़ा। प्रतिस्थापन की समस्या और भी जटिल बन गई और तब से उसकी गम्भीरता चली आ रही है।

नये एंजिन और डिब्बे—सब बाधाओं के रहते हुए भी भारतीय रेलें बराबर डिब्बे और एंजिनों की संख्या बढ़ाती रही है। सन् १९५०-५१ में उनके पास केवल ८ हजार एंजिन थे; किन्तु अगले ५ वर्षों में उनकी संख्या ९ हजार हो गई थी। सन् १९६०-६१ में यह संख्या बढ़कर १० हजार हो गई। सवारी और माल के डिब्बों में जो वृद्धि हुई है और होगी वह सारिणी २४ से स्पष्ट हो जायगी। स्पष्टतया द्वितीय योजना-काल में प्रति-स्थापन की दशा में अवस्था बहुत कुछ सुधरी। इस काम के लिए ३८० करोड़ रुपये का आयोजन किया गया।

सारिणी २४

भारत में एंजिन और डिब्बे

	१९५०–५१	१९५५–५६	१९६०–६१ (लक्ष्य)
एंजिन	८,०००	९,०००	१०,०००
सवारी डिब्बे	१९,०००	२४,०००	३०,०००
माल के डिब्बे	२,००,०००	२६,६००	३,४०,०००

आयु-प्राप्त एंजिन और डिब्बों का प्रतिस्थापन—एंजिनों और डिब्बों की संख्या में जो वृद्धि होती है, उस सीमा तक उनकी कुल संख्या नहीं बढ़ पाती क्योंकि कुछ आयु-प्राप्त एंजिन और डिब्बों का प्रतिस्थापन करना पडता है। इस समस्या की भीषणता का आभास इससे हो सकता है कि सन् १९५१ में ऐसे एंजिन और माल के डिब्बों की संख्या जो ४० वर्ष पुराने हो चुके थे, २ हजार और ४० हजार क्रमशः थी; और ३० साल से अधिक पुराने सवारी डिब्बे ७ हजार थे। उन सब का प्रतिस्थापन नितान्त आवश्यक था। किन्तु साधनों के अभाव के कारण इन पुराने एंजिनों और डिब्बों की संख्या धीरे-धीरे कम की जा रही है। पुराने एंजिन कुल एंजिनों के सन् १९५१ में २३ प्रतिशत थे; किन्तु सन् १९६१ में यह अंक १० प्रतिशत तक घटा दिया गया। पुराने सवारी डिब्बों का प्रतिशत १३ प्रतिशत से ७ प्रतिशत तक घटा दिया गया है; और पुराने माल के डिब्बों का अनुपात ३० प्रतिशत से १० प्रतिशत तक ले आया गया है।

नई रेल की लाइनें बनाने की समस्या——रेल की पटरियाँ भी बढ़ाई जा रही हैं। किन्तु प्रतिस्थापन की समस्या गम्भीर होने के कारण इस दिशा में अधिक वृद्धि होना सम्भव नहीं है। प्रथम योजना में ६५६ मील रेलवे लाइन बनी; और द्वितीय योजना-काल में केवल ८४२ मील। तीसरी योजना में १२०० मील लम्बी नयी लाइनें बनाई जायेंगी। इन लाइनों का बनना, इस्पात उद्योग, कोयले का उद्योग तथा अन्य निर्माण कार्यों ने आवश्यक बना दिया है। यह सत्य है कि भारत में रेलवे लाइनें गति से बढ़नी चाहिये। किन्तु फिलहाल प्रतिस्थापन की समस्या और भी कठिन है और इसको सर्व प्रथम सुधारा जा रहा है।

पुरानी रेलवे लाइनों में सुधार (Rehabilitation)—पुरानी और घिसी हुई रेलवे लाइनों को अभी कई वर्षों से पुनर्स्थापित नहीं किया गया जिसके फलस्वरूप पुरानी पटरियों पर रेलगाड़ियों को धीरे चलना पड़ता है। अनुमान लगाया गया है कि हमें ७ हजार मील लम्बी रेल की पटरियों को फिर से डालना पड़ेगा; और यह अंक सन् १९६१ में बढ़कर १३ हजार की सीमा तक पहुँच गया है। प्रयास यह किया जा रहा है कि प्रति वर्ष १,६०० मील पुरानी पटरियों का सुधार किया जाय।

वर्तमान लाइनों की सामर्थ्य में वृद्धि—वर्तमान रेलवे लाइनों की भी सामर्थ्य

में वृद्धि करना आवश्यक हो गया है। इसके लिए छोटी लाइनों को बड़ी लाइनों में परिवर्तित किया जा रहा है। कहीं-कहीं पर रेलवे लाइनों का द्विगुणन (Doubling) किया जा रहा है। द्वितीय योजना काल में १८६ करोड़ रुपये लगाकर वर्तमान रेल की लाइनों की सामर्थ्य में ५० प्रतिशत की वृद्धि की गई।

रेलवे एंजिन और डिब्बों का निर्माण-कार्य

रेलों के लिए डिब्बों तथा एंजिनों का देश में निर्माण करने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है।

एंजिनों का निर्माण—सरकार ने एंजिनों को बनाने के लिए चित्तरंजन में एक कारखाना खोला है और अब इस कारखाने की सामर्थ्य बढ़ाई जा रही है। आशा की जाती है कि इस कारखाने में ३०० एंजिन प्रति वर्ष बनने लगेंगे। सरकार ने टाटा इंजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कम्पनी की भी सहायता की है जिससे कि यह कम्पनी प्रति वर्ष १०० एंजिन बनाने लगेगी।

सवारी डिब्बों का निर्माण—केन्द्रीय सरकार ने पैरम्बूर में एक सवारी डिब्बे बनाने का कारखाना खोला है। इसको अब बड़ा भी किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त एक छोटी लाइन के सवारी डिब्बे के लिए भी कारखाना स्थापित किया जा रहा है जिसमें १० करोड़ रुपये लगाये जायेंगे।

माल के डिब्बों—माल के डिब्बे भारत में बहुत दिनों से निर्मित हो रहे हैं। किन्तु सन् १९५०-५१ में केवल ३ हजार माल के डिब्बे बनाये गये। बाद को यह अंक बढ़ कर ६ हजार प्रति वर्ष हो गया। जब नये कारखाने सम्पूर्ण हो जायेंगे तब इस संख्या में और भी वृद्धि होगी।

अन्य सुधार

बिजली की चालक शक्ति का प्रयोग—रेलों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए, उनकी सेवा की लागत कम करने के लिए, और उनकी सामर्थ्य में वृद्धि करने के लिए इस बात का प्रयास किया जा रहा है कि रेलों में बिजली की चालक शक्ति प्रयुक्त होने लगे। आरम्भ में ८०० मील रेलवे लाइनों पर बिजली प्रयोग करने की व्यवस्था की जा रही है।

डीजल चालक शक्ति का प्रयोग—यह भी अनुमान लगाया गया है कि यदि रेलों पर डीजल चालक शक्ति प्रयुक्त होने लगे तो रेलों की कार्यक्षमता बढ़ जायगी और उनकी लागत कम हो जायगी। इसलिए आरम्भ में १५०० मील रेलवे लाइनों पर डीजल चालक शक्ति प्रयुक्त करने का आयोजन किया जा रहा है।

पुलों का निर्माण—देश में ४ बड़े-बड़े पुल भी बनाये जा रहे हैं, जिनमें से सबसे बड़ा गंगा का पुल है। उसका निर्माण कार्य सन् १९५३-५४ में आरम्भ हुआ और सन् १९६० में पूरा होगा और इसमें १६ करोड़ रुपये लगेंगे। इसकी लम्बाई ६,१०० फीट होगी। ३ बड़े-बड़े पुल ब्रह्मपुत्र, यमुना और गंडक नदियों पर बनाये जा रहे हैं। पुरानें पुलों को सुदृढ़ करने और उनमें सुधार करने का काम भी आरम्भ कर दिया गया है।

§ ३ भारत में सड़क यातायात

जहाँ तक रेलों का सम्बन्ध है, रेल की लाइनें, एंजिन और डिब्बों का निर्माण सरकार के दायित्व में होता है। किन्तु सड़क यातायात में सरकार तो सड़कें बनाती और

उनको अच्छे स्वरूप में रखती है, पर उनका प्रयोग जो गाड़ियाँ करती हैं वे अधिकतर व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति होती हैं यद्यपि कि राज्य सरकारों ने इस क्षेत्र में भाग लेना आरम्भ कर दिया है। अतः सड़कें और सड़क यातायात की गाड़ियाँ स्वामित्व में भिन्न होती हैं और उनकी समस्याएँ भी इसी कारण अलग-अलग प्रकार की हैं। अतः हम उनका अलग से वर्णन करेंगे।

सड़कों का संक्षिप्त इतिहास

हर प्रकार के विकास के लिए, चाहे वह खेती का विकास हो या उद्योगों का या व्यापार का, सड़कें नितान्त आवश्यक होती हैं। भारत में प्राचीन काल से ही बहुत अच्छी तथा सुन्दर सड़कें विद्यमान रही हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है उससे सिद्ध हो गया है कि प्राचीन समय में बहुत अच्छी सड़कें हमारे देश में उपस्थित थी। जब अँग्रेजों ने इस देश की बागडोर सँभाली, तब सड़कों को एक नया राजनैतिक महत्व मिला क्योंकि वे फौजों को शीघ्रतापूर्वक आने-जाने के लिये नितान्त आवश्यक सिद्ध हुई। लार्ड डलहौजी ने गतिपूर्वक सड़कें बनाने की नीति अपनायी, जैसा कि उन्होंने रेलों के सम्बन्ध में भी किया। रेलों की सवेग उन्नति के कारण सड़कों की कुछ अंशों तक उपेक्षा होने लगी; और बाद को जब सड़क यातायात की वृद्धि हुई और दोनों में स्पर्धा होने लगी, तब यह उपेक्षा और अधिक प्रतीत होने लगी। वास्तव में रेलों के बनने के कारण सड़कों पर समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका। सन् १९२९ में जब "केन्द्रीय सड़क कोष" (Central Road Fund) स्थापित हुआ, तब से इस दिशा में कुछ परिवर्तन होने लगा और उसके बाद सड़कों की उन्नति हुई। सन् १९५० के "मोटर गाड़ी कर जाँच कमिटी" (Motor Vehicles Taxation Enquiry Committee) ने लिखा था कि इस दिशा में काफी उन्नति हुई है। परन्तु हाल में ही मोटर यातायात की इतनी वृद्धि हुई है और प्रगतिशील भारतीय अर्थ-व्यवस्था की यातायात सम्बन्धी आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि सड़कों को अब बहुत महत्व दिया जा रहा है।

सड़कों की वर्तमान अवस्था

हमारे देश में सब कच्ची और पक्की सड़कें मिलाकर सन् १९५५-५६ में २,७४,००० मील थीं। सन् १९६०-६१ में पक्की सड़कें १,४४,००० मील लम्बी थीं। इस अंक में गावों की सड़कें शामिल नहीं हैं। पक्की सड़कें १ लाख ७ हजार मील लम्बी थीं और कच्ची सड़कें १ लाख ६७ हजार मील लम्बी थीं। इन सड़कों का प्रमुख ढाँचा, जिसमें आकर समस्त सहकारी सड़कें मिलती हैं, ४ महामार्गों द्वारा निर्मित हैं जो देश में कर्ण (Diagonal) के समान फैली हुई हैं। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण सुप्रसिद्ध ग्रांड ट्रंक रोड है जो उत्तरी भारत में है और अमृतसर को कलकत्ते से संयुक्त करती है। अन्य तीन सड़कें कलकत्ते से मद्रास को, मद्रास से बम्बई को और बम्बई से दिल्ली को संयुक्त करती हैं। जहाँ तक सरकारी या राज्य की सड़कों का सम्बन्ध है, संख्या एवं अच्छाई की दृष्टिकोण से दक्षिणी भारत में अवस्था सबसे अच्छी है। ये सब सड़कें अधिकतर पक्की हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कच्ची किन्तु काम लायक सड़कें भी हैं जो वर्षा न होने पर मोटरों द्वारा प्रयुक्त होती हैं। अन्त में, कुछ ग्रामीण सड़कें भी होती हैं, जो साधारणतया मोटरों लायक नहीं होतीं; खासकर बरसात के दिनों में तो उनपर मोटर गाड़ियाँ चल ही नहीं सकतीं। ग्रामीण सड़कों की लम्बाई का अनुमान लगाना कठिन है।

देश की सड़कों का वर्गीकरण नीचे दिया है:—
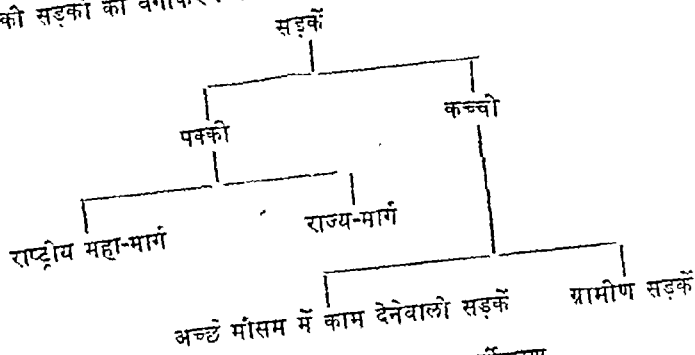
चित्र १८—भारतीय सड़कों का वर्गीकरण

(क) पक्की सड़कें—ये आधुनिक प्रकार की सड़कें हैं। सन् १९५५-५६ में उनकी
लम्बाई १ लाख ७ हजार मील थी। उनके दो उपविभाग किये जा सकते हैं:
राष्ट्रीय महामार्ग जो अखिल-भारतीय महत्व के हैं और राज्य मार्ग।
(ख) कच्ची सड़कें—शहरी क्षेत्रों में ये अच्छे मौसम में ठीक काम देती हैं;
इसलिये इन्हें "अच्छे मौसम में काम आनेवाली" (Fair Weather)
सड़कें कहते हैं। सन् १९५५-५६ में इनकी लम्बाई १,६७,००० मील थी।
(ग) इनके अलावा ग्रामीण सड़कें होती हैं जिनकी बहुत उपेक्षा की गई है और
जिनकी लम्बाई का अनुमान लगाना कठिन है।

भारतीय सड़क योजना के उद्देश्य

भारतीय सड़क योजना के तीन प्रधान उद्देश्य हैं। पहले, सड़कों की सम्पूर्ण लम्बाई देश की आवश्यकता के मुकाबले बहुत अपर्याप्त है। देश का क्षेत्र इतना बड़ा है और उसकी जनसंख्या इतनी अधिक है कि सड़कों की लम्बाई काफी अधिक होनी चाहिये। मोटर यातायात के महत्व ग्रहण करने के पूर्व सड़कों की लम्बाई अपर्याप्त थी; और गत ३० वर्षों में मोटर यातायात की वृद्धि हो जाने के कारण यह कमी अधिक खटकने लगी है। हाल में गतिपूर्वक आर्थिक विकास ने यह कमी और भी अधिक कर दी। अतः सड़कों में वृद्धि करना देश की एक बड़ी आवश्यकता है। विशेषतया ऐसे बहुत से क्षेत्र, जो अलग स्थित हैं और रेल के स्टेशनों या शहरों से सम्बन्धित नहीं हैं, उन्हें सड़क द्वारा इनसे मिलाना आवश्यक है। दूसरे, वर्तमान सड़कों में पारस्परिक समन्वय नहीं है, और एक सड़क दूसरी सड़क से कहीं-कहीं मिलती भी नहीं है। तीसरे, पुल और पुलियों के न होने से उनकी उपादेयता काफी कम हो जाती है।

सड़कों में वृद्धि की आवश्यकता

हमारे ऐसे महान् देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सड़कों का सुधार करना और उनकी लम्बाई में वृद्धि करना स्वयं स्पष्ट है। किसान मन्डियों और शहरों को आसानी से और किफायत से अपना माल नहीं भेज पाते, जिससे कि वे उसे अच्छे दामों पर बेच सकें। सड़कों के अभाव के कारण हम अपने वनों का भली-भांति शोषण

भी योजनाएँ बनाएँ उन्हें इस बात का सदैव ध्यान रहे कि उन्हें अखिल भारतीय सड़क-व्यवस्था के अनुकूल काम करना है : प्रत्येक को एक स्वतंत्र नीति नहीं अपनानी चाहिये। (ख) विभिन्न प्रकार की सड़कों का संतुलित रूप से विकास करना चाहिये। (ग) देश के विभाजन के पश्चात् राजनैतिक पुनर्गठन हुआ है और अब यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि भूतपूर्व रियासती क्षेत्रों को हमें देश के अन्य भागों से ठीक प्रकार संयुक्त करना है। बीच में सड़कों की जो टुकड़े अदृश्य हैं उनको बनवाने, वर्तमान सड़कों में सुधार करने और पुलों को बनवाने की इस दृष्टिकोण से आवश्यकता है। (घ) जो सड़कें उत्पत्ति में सहायक हों और विशेषकर खेती के उत्पादन में मदद करती हों, उन पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिये। (ङ) जो सड़कें रेलों तक माल या सवारी पहुँचाती हैं या जो जंक्शनों पर होने वाले माल या सवारी की भीड़-भाड़ कम करती है या जो देश के नये क्षेत्रों को खोलती हैं, उन पर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक है। बहुत-सी पुरानी सड़कें पूर्व से पश्चिम की ओर जाती हैं : अतः अब नई सड़कों को उत्तर से दक्षिण की ओर बनाना चाहिये जिससे जो क्षेत्र प्रधान सड़कों से दूर हैं वहाँ सड़कें बन सकें।

राष्ट्रीय महामार्ग और केन्द्रीय सड़क कार्यक्रम

देश की वे सड़कें, जो सारे राष्ट्र की सेवा करती हैं, जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाती हैं और जो बड़े-बड़े बन्दरगाहों तथा राज्यों की राजधानियों संयुक्त करती हैं, महामार्ग (National Highways) कहलाती हैं। अप्रैल १, १९४७, से उनके विकास और देख-रेख का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार ने स्वयं ले लिया है। सरकार राष्ट्रीय महामार्गों का ३ प्रकार से विकास कर रही है : (अ) बीच-बीच में जहाँ सड़कें नहीं हैं वहाँ सड़कों को बनाना, (आ) विद्यमान सड़कों में सुधार करना, और (इ) जहाँ पुल नहीं हैं वहाँ पुल बनाना। इस दिशा में जो काम हुआ है उसका ज्ञान नीचे के कोष्ठक से हो जाता है।

सारिणी २५

राष्ट्रीय महामार्गों का विकास

	१९४७–५१	१९५१–५६	१९५६-६१ (लक्ष्य)
१. छूटा हुई सड़कों का निर्माण	१६० मील	६५० मील	६०० मील
२. सड़कों का सुधार ..	२०० ,,	२,५०० ,,	१,७०० ,,
३. पुल	१७	४०	६०

इस कोष्ठक से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय महामार्गों को सम्पूर्ण करने में और उनको अच्छी दशा में बनाये रखने के लिए उचित प्रयास किया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस काम के लिए २८ करोड़ रुपये रखे गये; और इसी के अन्तर्गत जम्मू और काश्मीर में बनिहाल सुरंग बनाई गई। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस काम के लिए ५५ करोड़ रुपये नियत किये गये। देश की सीमा के समीप कुछ पहाड़ी भागों में, यात्रियों के लिए उपयोगी तथा अन्तर्राज्य सड़कें भी केन्द्रीय सरकार ने बनवाई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय महामार्गों की लम्बाई १,००० मील और बढ़ी।

मोटर लारियों और रेलों में गहरी स्पर्द्धा रही और दोनों ने किराया कम करना शुरू कर दिया। सन् १९३० तक बहुत से यात्री रेलों को छोड़कर मोटर लारियों का प्रयोग करने लगे, और रेलों को बहुत क्षति उठानी पड़ी। अतः आनेवाले वर्षों में रेल-सड़क स्पर्द्धा पर गम्भीर विचार किया गया। सन् १९३९ में मोटर व्हीकिल्स ऐक्ट पास हुआ जिसके फलस्वरूप स्पर्द्धा को उचित और न्यायसंगत स्वरूप मिला और सड़क यातायात का ठीक प्रकार से विकास होने लगा। सन् १९४६ में व्यक्तिगत साहस, राज्य सरकारों तथा रेलों द्वारा संयुक्त रूप से मोटर यातायात उपक्रम को स्थापित करने की नीति बन गई। सन् १९४८ में रोड ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन ऐक्ट पास हुआ जिसने राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया कि वे मोटर यातायात में भाग लेने के लिए वैधानिक कम्पनियाँ स्थापित करें। ऐसी नीति प्रायः सभी राज्यों में व्यवहृत हुई है।

मोटर गाड़ियों की संख्या— १९५०–५१ में मोटर गाड़ियों (ट्रक और बसों) की कुल संख्या लगभग १.१६ करोड़ थी। सन् १९५५-५६ में यह बढ़कर १ करोड़ ६५ हजार हो गई। सन् १९६०–६१ में यह २,०४,००० हो गई है। किन्तु देश के महान् विस्तार, इसकी बड़ी जनसंख्या और इसकी अर्थ-व्यवस्था देखते हुए यह संख्या अभी बहुत कम है। देश की हाल में हो आर्थिक उन्नति और बढ़ते हुए यातायात की आवश्यकता को पूरा करने के लिए रेलों की असामर्थ्य ने मोटर यातायात का महत्व और भी बढ़ा दिया है। किन्तु इसकी उन्नति आवश्यकतानुकूल नहीं हो रही है।

व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक साहस—सन् १९५०–५१ में देश भर में लगभग १ लाख व्यक्ति मोटर यातायात के साहसी थे। उनमें से आधे तो बड़े पैमाने पर काम करने वाले थे और शेष आधे छोटे पैमाने पर। देश के प्रायः हर राज्य में मोटर यातायात में भाग लेने वाले सरकारी संगठन भी विद्यमान थे। आजकल अवस्था यह है कि लगभग माल का समस्त यातायात और तीन चौथाई यात्रियों का यातायात व्यक्तिगत साहसियों के हाथ में है।

व्यक्तिगत साहसी (Private operators)—हाल में मोटर यातायात का विकास बहुत कम हो गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यक्तिगत साहसियों के हृदय में निम्न दिशाओं में भय बैठ गया है: (क) राष्ट्रीयकरण का भय, (ख) मोटर यातायात पर कर बढ़ाये जाने का भय, (ग) अन्तर्राज्य यातायात पर बन्धन लगाये जाने का भय, और (घ) कुछ राज्यों में केवल ३ या ५ साल के लिए परमिट दिये जाने के कारण भय। यह अभाग्य का विषय है। यह स्पष्ट सत्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र में मोटर यातायात के सम्बन्ध में चाहे जितना हो विकास क्यों न कर दिया जाय, फिर भी अधिकांश यातायात का काम व्यक्तिगत साहसियों के ही हाथ में रहेगा। इसलिए उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण एवं उचित नीति अपनाना आवश्यक है।

सड़क यातायात में सार्वजनिक साहस—सड़क यातायात के क्षेत्र में आसाम, बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मैसूर, दिल्ली तथा अन्य क्षेत्रों में प्रादेशिक सरकारें कार्य कर रही हैं। किन्तु प्रबन्ध का ढाँचा अलग-अलग है। कहीं-कहीं संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ चलाई गई हैं, तो कहीं-कहीं किसी विशेष अधिनियम के अन्तर्गत विशेष प्रशासन स्थापित किया गया है। कहीं विधान द्वारा नया संगठन बनाया गया है, तो कहीं सरकारी विभाग ही यह काम कर रहे हैं। कुछ राज्यों में रोड ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन अधिनियम के अन्तर्गत विशेष कार्पोरेशन भी बना लिये गये हैं। रेलों ने बम्बई, मद्रास, पंजाब और उड़ीसा में इन सरकारी संगठनों में धन लगाकर सहयोग दिया है। इस क्षेत्र में सरकारी काम अधिक कुशलतापूर्वक हो सकता

है और इसमें किफायत भी होनी चाहिये क्योंकि पैमाना बड़ा होने के कारण निर्माण-शालाओं में तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में बचत हो जाती है। इस बचत से यात्रियों और कर्मचारियों का भला होना चाहिये। किन्तु सरकारी मोटर चल जाने के कारण व्यक्तिगत मोटर वालों के परमिट छिन जाते हैं और वे बेकार हो जाते हैं; इसलिए राष्ट्रीयकरण की गति धीमी करना और व्यक्तिगत साहसियों को सरकारी उपक्रमों में सम्मिलित करना उचित जान पड़ता है।

व्यक्तिगत बनाम सार्वजनिक उपक्रम—हमें मोटर यातायात के क्षेत्र में व्यक्तिगत या सार्वजनिक उपक्रम में से किसको प्रोत्साहन देना है यह नीति स्पष्ट रूप से निर्धारित हो जानी चाहिये। यह समझा जाने लगा है कि माल ढोने के लिए सरकारी यातायात का संगठन स्थापित करना अनुचित होगा; और यात्रियों को ले जाने के लिए जब सरकार स्वयं यातायात की सेवाएँ प्रदान न कर सके तो व्यक्तिगत साहसियों को प्रोत्साहन देना चाहिये। इन व्यक्तियों को आसानी से परमिट देना चाहिये। केन्द्रीय सरकार स्वयं अन्तर्राज्य मोटर यातायात का नियन्त्रण करने की बात सोच रही है।

भारत में बैलगाड़ी यातायात

हमारे देश में, खासकर गाँवों में, बैलगाड़ियाँ अब भी सड़क पर दीख पड़ती हैं; और वास्तव में बैलगाड़ियाँ कदाचित् पूरी तौर से अदृश्य नहीं हो सकतीं। अतः इनमें सुधार करने की चेष्टा करनी चाहिये। कुछ वर्ष पहले एक सुधरा हुआ पहिया निकाला गया था जिसका लोहे का टायर अधिक चौड़ा होता था और जिससे सड़कों को भी कम क्षति होती थी। हाल में ही बैलगाड़ियों में रबर के टायर प्रयोग में लाये जाने लगे हैं और उनकी परीक्षा भी हो रही है।

§ ४. भारत में सामुद्रिक यातायात

जल यातायात को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—सामुद्रिक यातायात, तटीय यातायात तथा नदी यातायात। भारत में नदी यातायात का विकास बहुत कम हुआ है। हम नदी यातायात का वर्णन अगली शाखा में करेंगे।

सामुद्रिक यातायात का महत्व

भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार समुद्र पार देशों में होता है और यह अधिकतर विदेशी जहाजों द्वारा किया जाता है—भारत के पास स्वयं अपने व्यापारिक जहाज पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। यह बहुधा कहा जाता है भारतीय सामुद्रिक तट के स्वभाव एवं देश के अधिकांश भागों के समुद्र से दूर होने के कारण हम एक सामुद्रिक राष्ट्र नहीं बन सकते। हमारे पास काम के बन्दरगाह केवल बम्बई, मद्रास, विशाखापटनम् और कलकत्ता ही हैं। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्राचीन काल में भारत एक प्रसिद्ध सामुद्रिक देश था; और यदि उपयुक्त सुविधाएँ और अवस्थाएँ प्राप्त हों तो वह फिर प्राचीनप्रसिद्धि प्राप्त कर सकता है। हमारे देश में भारतीय जहाजों की कमी पर सदैव ही शोक प्रकट किया गया है। यह कहा जाता है कि पुराने जगत के देशों में जिस देश का केन्द्रीय स्थान हो, जिसका सामुद्रिक तट ४ हजार मील लम्बा हो और जो सहस्रों प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ उत्पन्न करता हो, उसे प्रकृति ने एक बड़ी सामुद्रिक शक्ति होने के लिए ही बनाया है। हमें इस दिशा में सच्चे दिल से काम करना चाहिये।

अतः हमारे लिए सामुद्रिक जहाजों का महत्व बहुत अधिक है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि व्यापारिक जहाजों को राष्ट्रीय संकट के समय सुरक्षा को दूसरी पंक्ति माना जाता है। साथ ही व्यापारिक जहाजों को नौसेना शिक्षण का सोपान भी माना गया है। युद्ध तथा शान्ति के समय आवश्यक वस्तुएँ विदेशों से लाने के लिए इसका महत्व स्वयं-सिद्ध है। तटीय जहाजों का महत्व भी कुछ कम नहीं है क्योंकि वे यातायात के बहुत सस्ते साधन होते हैं। अतः भारतीय जहाजी बेड़े की वृद्धि करने का प्रयास बहुत आवश्यक है।

वर्तमान अवस्था

भारत में सन् १९५१ में ७३ जहाज थे जो तटीय यातायात में संलग्न थे और उनकी कुल सामर्थ्य २,१७,००० टन थी; और २४ सामुद्रिक जहाज थे जिनकी कुल सामर्थ्य १,७४,००० टन थी। सन् १९५५–५६ में हमारी कुल सामर्थ्य लगभग ४ लाख टन से बढ़कर ५ लाख टन हो गई जो तटीय एवं सामुद्रिक जहाजों में बराबर बटी हुई थीं। सन् १९६०–६१ में यह सामर्थ्य बढ़कर ९ लाख टन हो गई। तीसरी योजना में इसे १४ लाख टन तक बढ़ाने का प्रयास किया जायगा। जहाजी बेड़ा हमारे लिए अपर्याप्त है क्योंकि उसके सहारे भारत विदेशी व्यापार का केवल ८ प्रतिशत भाग कर सकता है।

संक्षिप्त इतिहास

ब्रिटिश काल में भारतीय जहाजी उद्योग को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सबसे पहली जहाजी कम्पनी सिंधिया कम्पनी थी जो सन् १९१९ में स्थापित हुई। विदेशी जहाजी कम्पनियों ने इसके साथ बहुत अन्यायपूर्ण स्पर्धा की, लेकिन फिर भी वह डटी रही। सन् १९२३ में इसको इस बात पर बाध्य होना पड़ा कि वह विदेशों को जहाज न भेजने की प्रतिज्ञा करे और तटीय यातायात पर काम करने पर भी उस पर बंधन लगा दिये गये। सन् १९४७ में पहली बार एक भारतीय जहाजी कम्पनी ने भारतीय और अमेरिका के बीच जहाज भेजने की व्यवस्था की; और सन् १९४८ में भारत और इंगलैंड के बीच ऐसी ही व्यवस्था की गई। सन् १९४७ में राष्ट्रीय सरकार बन जाने पर अवस्था में अच्छा परिवर्तन हुआ है; और अब आशा है कि भारतीय जहाजी उद्योग दिन पर दिन प्रगतिशील बना रहेगा और उन्नति करता जायगा।

सरकारी नीति

भारत सरकार जहाजी उन्नति में बराबर रुचि दिखाती रही है और व्यवस्थित रूप से प्रयास करती रही है। इसकी जहाजी नीति के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(१) भारतीय जहाजी बेड़े की सामर्थ्य में वृद्धि
(२) तटीय जहाजों का पूर्ण रूप से भारतीयकरण
(३) भारत में जहाजों का निर्माण
(४) सामुद्रिक यातायात में सरकार का सक्रिय भाग
(५) भारतीय बन्दरगाहों का विकास

(१) भारतीय जहाजी बेड़े की सामर्थ्य में वृद्धि

जहाजी बेड़े की वृद्धि के लक्ष्य—सन् १९४७ में "जहाजी नीति कमिटी" ने यह सिफारिश की थी कि ५ या ६ वर्षों में हमारे जहाजी बेड़े की सामर्थ्य २० लाख टन हो जानी चाहिये। यह लक्ष्य अभी न तो पूरा हुआ है और न इसके पूरा होने की निकट भविष्य में आशा ही है। इस दिशा में जो हाल में उन्नति हुई, उसको निम्न सारिणी में दिखाया गया है।

सारिणी २६

भारतीय जहाजी बेड़े की उन्नति

साल	सामर्थ्य (टन)
१९५०–५१	३,९१,०००
१९५५–५६ ..	४,८०,०००
१९६०–६१ ..	९,००,०००
१९६५–६६ (लक्ष्य) ..	१४,००,०००

इस सारिणी से ज्ञात होगा कि हमारी जहाजी बेड़े की शक्ति बढ़ी तो है किन्तु हमारी आवश्यकता देखते हुए यह धीमी गति से बढ़ी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में यह शक्ति ३,९१,००० टन के बराबर थी और सन् १९५५–५६ में यह ४,८०,००० टन हो गई और सन् १९६०–६१ में यह ९,००,००० टन।

हमारी प्रथम योजना मे जहाजी उन्नति के लिए १९ करोड़ रुपये व्यय हुए; और दूसरी योजना मे ५४ करोड़ रुपये। तीसरी योजना में ११० करोड़ रुपये का आयोजन हुआ है।

प्रधान उद्देश्य—भारतीय जहाजी बेड़े के विकास के लिए निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य स्थिर किये गए हैं: (१) तटीय व्यापार की यातायात सम्बन्धी आवश्यकता को पूर्ण रूप से पूरा करना, (२) विदेशी व्यापार का अधिकाधिक हिस्सा भारतीय जहाजों द्वारा होना, और (३) जहाजी बेड़े (Tanker Fleet) के विकास के लिए आधार प्रदान करना। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे काम किया जा रहा है।

(२) तटीय यातायात का भारतीयकरण

भारतीय जहाजों की उन्नति के लिए और जनता की माँग का ध्यान करके भारत सरकार ने सन् १९५६ में देश का तटीय व्यापार देश के जहाजों के लिए सुरक्षित कर दिया। इस सुरक्षा को रचनात्मक रूप देने के लिये यह अनुमान लगाया गया कि देश को ३ लाख टन की सामर्थ्य के जहाज आवश्यक होंगे। ऐसा होने पर हम भारत-पाकिस्तान, भारत-ब्रह्मा और भारत-लंका का व्यापार भी अपने जहाजों द्वारा कर सकेंगे। सन् १९५५–५६ में यह लक्ष्य पूरा हुआ। वास्तव में तटीय बेड़ा और भी बढ़ाया जा रहा है, और दूसरी योजना के अन्तर्गत इसका लक्ष्य ४,००,००० है। सन् १९५०–५१ में भारतीय जहाजी कम्पनियाँ तटीय व्यापार का ८० प्रतिशत भाग प्राप्त कर पाई थीं; किन्तु २ साल बाद सारा तटीय व्यापार उनके द्वारा होने लगा। अतः आजकल हमारा समस्त तटीय व्यापार भारतीय जहाजों द्वारा होता है, और विदेशी जहाजी कम्पनियाँ इसमें भाग नहीं ले सकतीं।

(३) जहाजों का निर्माण

सिंधिया कम्पनी ने कई वर्ष पहले विशाखापटनम् में जहाजों का निर्माण आरम्भ कर दिया था। इस काम को अब हिन्दुस्तान शिपयार्ड नामक कम्पनी ने ले लिया है। यह

कम्पनी भारत सरकार तथा सिंधिया कम्पनी ने मिलकर चलाई है। प्रथम २ वर्षो में इसने ६ जहाज बनाये। किन्तु इसकी सामर्थ्य अब बढ़ाई जा रही है। यह कम्पनी एक जहाज ६४ लाख रुपये में बनाती है जब कि वही जहाज इंगलैण्ड से ४२ लाख रुपये में मिल सकता है। अतः सरकार प्रति जहाज पीछे इस कम्पनी को २२ लाख रुपये की सहायता देती है। आशा की जाती है कि कालान्तर में इसकी लागत कम हो जायगी।

(४) सामुद्रिक जहाजी यातायात में सरकार का भाग

भारतीय सामुद्रिक यातायात को बल तथा प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने स्वयं एक कम्पनी चलायी है जिसका नाम ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन है। यह सन् १९५० में बनी और इसकी पूँजी सरकारी तथा व्यक्तिगत स्रोतों से प्राप्त की गई है। सन् १९५५ में यह कम्पनी ४ जहाज चला रही थीं और इसको लाभ हो रहा था।

(५) भारतीय बन्दरगाहों का विकास

हमें अपने बढ़ते हुए सामुद्रिक यातायात की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अपने बन्दरगाहों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। हमारे बन्दरगाह आजकल निम्नलिखित है : (क) बड़े बन्दरगाह जो कि केवल ५ है, अर्थात् कलकत्ता, बम्बई, मद्रास; कोचीन और विशाखापटनम्, और जिनका शासन केन्द्रीय सरकार के हाथ में है; और (ख) छोटे बन्दरगाह जिनकी संख्या १५० है, पर जिनमें केवल १८ ही कुछ महत्व के है।

प्रथम योजना-काल में भारतीय बन्दरगाहों के विकास पर २१ करोड़ रुपये व्यय हुए। (१) कांडला में एक बड़ा बन्दरगाह निर्माण करने का कार्य आरम्भ किया गया। जो व्यापार पहले कराची द्वारा होता था, यह अब कांडला के द्वारा होने लगा है। कांडला बन्दर में जहाजों के आने जाने का काम सीमित पैमाने पर शुरू हो गया है। (२) बम्बई में तेल लाने-लेजाने के लिए एक पाइप लाइन भी बनायी गई है। (३) बड़े-बड़े बन्दरगाहों में आधुनिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए भी प्रयत्न किया गया है। (४) छोटे बन्दरगाहो पर प्राप्त सुविधाओं की जाँच की गई और चुने हुए बन्दरगाहों पर सुविधा बढ़ाई गई हैं।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रथम योजना में आरम्भ किये गये काम पूरे होंगे। बड़े-बड़े बन्दरगाहों को आधुनिक सुविधाएँ देने के लिए ५० करोड़ रुपये नियत किये गये हैं। छोटे बन्दरगाहों में से १८ विकास के लिए चुन लिये गये हैं जिन पर ३ करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके हैं और ५ करोड़ रुपये दूसरी योजना में किये जायेंगे। प्रकाश-गृहों के विकास के लिए भी ४ करोड़ रुपयों की व्यवस्था हुई है; तथा नये प्रकाश-गृह बनाने का आयोजन हुआ है और पुरानों का सुधार किया जायगा। यह अभीष्ट होगा कि समस्त प्रकाश गृह केन्द्रीय सरकार ले ले। इस दिशा में कुछ उन्नति भी हुई है। सन् १९५३ में लाइट हाउसेज एक्ट में सुधार किया गया और उसकी फीस दो आने प्रति टन से बढ़ाकर ४ आने प्रति टन कर दी गई।

§ ५. भारत में नदी यातायात

भारत में बहुत-सी नदियाँ हैं किन्तु फिर भी कई प्रतिकूल भौगोलिक कारणों के न होने से नदी यातायात का अधिक विकास नहीं हुआ है। उत्तरी भारत में लगभग २६ हजार मील तक नदियाँ यातायात के उपयुक्त कही जा सकती हैं। गंगा नदी कानपुर तक

इस योग्य हैं। दक्षिणी नदियां एक तो तेज बहती हैं और दूसरे उनकी जमीन पथरीली है, जिसके कारण वे यातायात के अधिक उपयुक्त नहीं हैं। कुछ भारतीय नदियां गर्मी में सूख जाती हैं जो उनके यातायात सम्बन्धी प्रयोग में बाधक होता है। भौगोलिक कारण के अतिरिक्त माल को नदियों के किनारे से दूकानों या स्टेशनों तक ले जाने में भी कठिनाई होती है क्योंकि नदी के पास की भूमि बहुधा रेतीली होती है और वहां गाड़ी या मोटर नहीं चल सकती। नदियां अपना बहाव बदलती रहती हैं जिसके कारण घाट (Harbours) भी नहीं बनाये जा सकते। रेलों की स्पर्धा ने भी नदी यातायात को हानि पहुँचाई है। औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) का यह मत था कि जहां पर रेल तथा नदी यातायात में पारस्परिक स्पर्धा हो, वहां सरकार को दोनों का प्रशासन अपने हाथ में ले लेना चाहिये।

नदी यातायात का हमारे देश में १९वीं शताब्दी के मध्य तक महत्वपूर्ण स्थान रहा। उसके पश्चात् रेलों के बनने से तथा बहुत-सा पानी सिंचाई के काम में निकल जाने के कारण नदी यातायात का महत्व कम होने लगा। देश के उत्तर-पश्चिमी भाग में इनका अब भी महत्व है। आजकल १,६०० मील लम्बी नदियां एंजिनवाले जहाजों के लायक हैं और ४ हजार मील लम्बी नदियों में बड़ी-बड़ी नावें चलती हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग ५,००० मील लम्बी नदियां आधुनिक ढंग से शक्ति परिचालित जहाजों के खेने योग्य बनायी जा सकती हैं।

जहां नदियां उथली हैं वहां उनको गहरा बनाकर या उनके लिए विशेष प्रकार के जहाज बनाकर इस समस्या का हल किया जा सकता है। नदियों को गहरा करने में खर्च काफी होता है और फिर उनको ठीक दशा में बनाये रखने में भी लगातार व्यय करना पड़ता है। अतः चेष्टा इस बात की हो रही है कि विशेष प्रकार के जहाज बनाये जायें। गंगा-ब्रह्मपुत्र बोर्ड इस दिशा में काम कर रहा है और इसने एक जहाज बनाकर तैयार भी किया है जो कदाचित् इस काम के लिए उपयुक्त प्रमाणित हो।

गंगा-ब्रह्मपुत्र भाग की उन्नति के लिए प्रयत्न आरम्भ हो गया है; और इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण नदियों को गहरी करने का काम चल रहा है तथा अच्छे भीतरी बन्दरगाह या घाट भी बनाये जा रहे हैं। मद्रास की बकिंघम नहर का भी सुधार किया जा रहा है और उसे मद्रास के बन्दरगाह से मिलाया जा रहा है। साथ ही साथ पश्चिमी तट की नहरों को भी सुधारा जा रहा है। इन आयोजनों पर ३ करोड़ रुपये व्यय होंगे—बकिंघम नहर पर ११५ लाख रुपये, पश्चिमी तट की नहरों पर ४३ लाख रुपये तथा गंगा-ब्रह्मपुत्र क्षेत्र में १४० लाख रुपये।

§ ६. भारत में वायु यातायात

गत १५ वर्षों में वायु यातायात ने काफी उन्नति की है। भारत सरकार ने सबसे पहले सन् १९२२ में यह निश्चय किया कि बम्बई, कलकत्ता और रंगून के बीच में वायु मार्गीय यातायात चालू किया जाय और हवाई अड्डे बनाये जायें। निर्माण-कार्य वास्तव में सन् १९२४-२५ में आरम्भ हुआ। सन् १९२९ में अंग्रेजी, फ्रांसीसी और डच हवाई जहाज भारत होकर गुजरने लगे। सबसे पहली भारतीय कम्पनी टाटा की थी जिसने सन् १९३२ में मद्रास और कराची में हवाई सेवा (Air Service) चलाई और उसके बाद अन्य कम्पनियां स्थापित हुईं; और वायु यातायात राष्ट्रीयकरण के समय लगभग १० यातायात की कम्पनियां हमारे देश में काम कर रही थीं। द्वितीय महायुद्ध

रेल-सड़क सामन्जस्य

मोटर यातायात बढ़ जाने के कारण रेल और सड़क यातायात में स्पर्धा बढ़ गई है। मोटर यातायात वर्तमान शताब्दी की देन है जिस प्रकार कि रेल यातायात पिछली शताब्दी की देन थी। इनमें स्पर्धा का प्रश्न, जिसको लार्ड वेलिंगटन ने "सभ्यता बढ़ती हुई पीड़ा में से एक" कहकर पुकारा था, प्रायः हर देश में पाया जाता है।

संघर्ष-क्षेत्र—वास्तव में रेलों और मोटरों के किफायत में काम करने का अपना अलग-अलग क्षेत्र है। रेलों को इंजिन, डिब्बे, स्टेशन, सिगनल आदि के लिए बहुत-सी पूंजी चाहिये; और उन्हें काफी कार्यशील पूंजी की भी आवश्यकता होती है। किन्तु सड़क यातायात में इतनी अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं होती। रेलों को आये खाली डिब्बे ले जाने और बेकार के रखे रहने की भी समस्या का सामना करना पड़ता है जो मोटर यातायात के सामने नहीं आती। इसके अतिरिक्त रेलों को रेल मार्ग एवं पटरियों को ठीक दशा में रखने का खर्च स्वयं ही वहन करना पड़ता है, किन्तु सड़कों को ठीक दशा में रखने का व्यय सरकार करती है। इन बातों से ऐसा मालूम होता है कि सड़क यातायात रेल यातायात से सस्ता होगा। यह बात थोड़ी दूर के तथा हल्के परिवहन के सम्बन्ध में ठीक है; किन्तु यदि माल लम्बी दूरी तक ले जाना हो, या भारी हो, तब सड़क यातायात रेल यातायात से सस्ता पड़ता है। रेलों पर बढ़ती हुई सीमांत उपज और घटती हुई सीमांत लागत का नियम लागू होता है; अर्थात् जितने बड़े पैमाने पर रेलें काम करती हैं, उतनी ही प्रति-इकाई लागत कम पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लम्बी दूरी और भारी परिवहन रेलों को देना देना चाहिये; तथा साधारण दूरी और हल्के परिवहन को मोटरों को। थोड़े से ऐसे क्षेत्र होते हैं जिसमें रेलों और मोटरों में स्पर्धा होना स्वाभाविक है। बड़े-बड़े शहरों के किनारे-किनारे या आस-पास के स्टेशनों तक मोटर और रेल साथ-साथ दौड़ता है और उनमें स्पर्धा होती है। इस स्पर्धा ने भारत में रेलों को बहुत हानि उठानी पड़ी है।

वर्तमान नीति—आजकल सामान्य नीति यह है कि सन् १९५० के सड़क यातायात कारपोरेशन अधिनियम के अन्तर्गत सरकार सड़क यातायात की कम्पनियों को स्थापित करे जिसमें रेलें सहयोग दें और उचित प्रकार का यातायात-सामंजस्य स्थापित करे। इस प्रकार से सड़कों और रेलों में उचित सामन्जस्य आ सकता है जिससे संयुक्त रूप से वे देश के हित में कार्यशील हो सकें।

रेल-नदी यातायात का सामन्जस्य

रेलों की नदी यातायात से भी स्पर्धा होती है और उसका भी निवारण करना आवश्यक है। देश के पश्चिमी भाग में यह समस्या खास महत्व की है क्योंकि वहाँ स्टीमर कम्पनियाँ परिवहन का काफी काम करती हैं।

रेल और तटीय जहाज के यातायात का सामन्जस्य

एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह माल ढोने का काम रेलें भी करती हैं और तटीय जहाज भी। आजकल रेलों पर बहुत काम होने तथा तटीय जहाजों की कमी के कारण उनकी पारस्परिक स्पर्धा ने गम्भीर रूप धारण नहीं किया है; किन्तु सामान्य अवस्था आने पर उनमें तीव्र स्पर्धा होने की सम्भावना है। सम्भव है कि निकट भविष्य में कुछ वस्तुओं का तटीय परिवहन तटीय जहाजों के लिए सुरक्षित करना पड़ेगा जिससे रेलों का और कामों के लिए पूरा-पूरा प्रयोग हो सके।

सारांश

१. भारत में यातायात के विस्तार के महान् प्रभाव हुए हैं। विशेषतय इसका वहुत प्रभाव हुआ है।

२. भारत में रेल यातायात १८५३ से प्रारम्भ हुआ। आजकल ३४,००० मील लम्बी रेलें हैं। रेलों से देश को वहुत-से लाभ हुए हैं। उनसे हानियाँ भी हुई हैं रेल विस्तार की बहुत आवश्यकता है। रेलवे लाइन, एंजिन तथा डिब्बों के प्रतिस्थापन का प्रश्न विशेष महत्व का है। एंजिन और डिब्बों के निर्माण का काम चालू हो गया है।

३. भारत में २,७४,००० मील सड़कें हैं। सड़कों की योजना के अनुसार उन्नति हो रही है। राष्ट्रीय महामार्ग तथा केंद्रीय सड़क कार्यक्रम वनाया गया है। प्रादेशिक सड़कों का कार्यक्रम अलग है। भारत में मोटर यातायात गति से उन्नति कर रहा है। इस दिशा में सरकारी क्षेत्र ने भी प्रवेश किया है।

४. देश में सामुद्रिक यातायात का महान् महत्व है। इस ओर सरकार ने एक स्पष्ट नीति अपनाई है जिससे वहुमुखी विकास हो रहा है।

५. भारत में नदी यातायात का अधिक विकास नहीं हुआ। किन्तु अव इस दिशा में प्रयत्न किये जा रहे हैं।

६. देश में वायु यातायात भी विकसित हो रहा है।

७. देश में यातायात के सामंजस्य की समस्या गंभीर है पर इस पर ध्यान दिया जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी

1. "Roads and Railways are the arteries of our economic organism ? Explain (1957)i

2. What do you understand by the problem of rail road co-ordination ? 1956).

3. Discuss the advantages of road as a means of communication and transport in our country Suggest measures for rapid development of road transport. (1954).

पंजाब, इन्टर

4. What are, in your opinion, the three most benificial results of Railway construction in the country ? How is the developmeut of motor ttansport affecting rural life ? (1954).

जम्मू एन्ड काशमीर, इन्टर आर्ट्स

5. What is the importance of good means of communication for the economic development of a country ? If you have a crore of rupees, how would you spend it for improving the means of

communication in Jammu and Kashmir State. Give reasons. (1954.)

6. Enumerate the means of transport and communication that exist in Jammu and Kashmir. How can the situation with regard to them be improved by having more roads or railways? (1953).

7. Name the various means of transportation and communication that obtain in India. How has their development affected the economy of the country, particularly in the rural sector? (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

8. What have been the economic effects of the construction of railways in India? Discuss them fully. (1958).

9. Describe briefly the various systems of transportation and communication in India with special reference to Rajasthan. Explain their effects both on large scale and cottage industries. (1956).

10. Trace the effect of railways upon rural economy of India. (1954).

पटना, इन्टर आर्ट्स

11. Write a note on Nationalised Bus Transport. (1955).

12. Discuss the importance of railways in Indian economic life. How should railways be co-ordinated with other forms of transport? (1954).

सारिणी २८

भारत के आयात १९५८-५९

आयात के मद	करोड़ रुपये	कुल आयात का प्रतिशत
१. मशीन ..	१७७	२०
२. अनाज आदि ..	१५९	१८
३. लोहा और स्पात ..	९२	१२
४. पैट्रोल तथा उसके पदार्थ	७१	८
५. धातुएँ ..	३२	४
६. रेल के अतिरिक्त अन्य यातायात की सामग्री	३१	४
७. रसायन ..	३१	४
८. रेल की गाड़ियाँ ..	३०	४
९. कपास ..	२८	३
१०. धातु-निर्मित पदार्थ ..	२१	२
११. ऊन ..	१०	१
१२. अन्य ..	१७४	२०
योग	८५६	१००

(१) मशीन (१७७ करोड़ या कुल आयात का २० का प्रतिशत)—भारत सदैव से अपने कारखानों आदि के लिए बाहर से मशीनें मँगाता रहा है और यह मद देश के आयातों में प्रमुख स्थान पाता रहा है। किन्तु हाल में औद्योगीकरण की गति बहुत बढ़ जाने के कारण मशीनों का आयात पहले से कहीं अधिक हो गया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि हमने सन् १९५८-५९ में १७७ करोड़ रुपयों की मशीनें विदेशों से मँगवाईं जो कुल आयात का २० प्रतिशत हुईं। आयातों में प्रथम स्थान मशीनों का ही आता है।

(२) अनाज (१५९ करोड़ रुपये या कुल आयात का १८ प्रतिशत)—द्वितीय महायुद्ध के पहले भारत अपने आयात का लगभग १० प्रतिशत अनाज के रूप में विदेशों से मँगाता था। किन्तु युद्ध के बाद अनाज इतना कम हो गया कि उसका आयात बढ़ाना पड़ा, यहाँ तक कि आयातों की सूची में उसका स्थान पहला हो गया। सरकार ने देश में अनाज की उपज बढ़ाने का बहुत प्रयास किया जिसके फलस्वरूप अनाज का आयात कम हो चला था जैसा कि सारणी २९ से विदित होगा। किन्तु अब सरकार ने अनाज का आयात सुव्यवस्थित रूप से करना शुरू किया है और उसके स्टाक करने की ओर प्रयास किया जा रहा है जिससे आयात फिर बढ़े हैं।

सारिणी २९

भारत में अनाज का आयात

साल	करोड़ रुपये
१९५०–५१	८१
१९५१–५२	२२८
१९५२–५३	१६१
१९५३–५४	७२
१९५४–५५	६८
१९५५–५६	१८

(३) लोहा और स्पात (९२ करोड़ रु० या कुल आयात का १२%)—जब से औद्योगिक विकास ने गति पकड़ी है, तब से हमें लोहे और स्पात की आवश्यकता अधिक

पड़ने लगी और हमने इसका विदेशों से आयात करना आरम्भ कर दिया। सन् १९५८–५९ में इसका अयानों में तीसरा स्थान था जो बहुत ऊँचा है।

(४) पैट्रोल तथा उसके पदार्थ (७१ करोड़ रु० या कुल आयात का ८%)—पैट्रोल का इस पैमाने पर आयात किया जाना हमारे देश के लिये एक नई बात है। पाकिस्तान बन जाने के कारण, पर इससे भी अधिक हमारे देश में मोटर यातायात की लोकप्रियता में महान् वृद्धि होने के कारण, इस मद का इतना अधिक आयात होने लगा है। इस मद में मिट्टी का तेल भी शामिल है। आयात अधिकतर बर्मा, फारस और अमेरिका से होता है।

(५) धातुएँ(३२ करोड़) रुपये या कुल आयात क ४ प्रतिशत)—आयातों की सूची में धातुओं का पाँचवा स्थान है। देश के औद्योगीकरण के लिए ये बहुत आवश्यक हैं। गत वर्षों में इनका महत्व आयातों में बहुत बढ़ गया है।

(६) रेल की गाड़ियाँ (३० करोड़ रु० या कुल आयात का ४%) हमारे देश में रेल यातायात पर बहुत-सा रुपया व्यय किया जा रहा है। देश की जितनी आर्थिक उन्नति होती है, उतनी ही अधिक मात्रा में माल का उत्पादन होता है; फतः यातायात प्रणाली का बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। अतः रेल के अतिरिक्त अन्य प्रकार के यातायातों के लिए हमें काफी सामग्री विदेशों से मँगानी पड़ती है।

रेल के अतिरिक्त अन्य यातायात की सामग्री (३१ करोड़ रुपये या कुल आयात का ४%)—हमारे देश मे यातायात का गति से विकास हो रहा है और उस पर काफी व्यय हो रहा है। देश की जितनी आर्थिक उन्नति होती है, उतनी ही अधिक मात्रा में माल का उत्पादन होता है; अतः यातयात प्रणाली का बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। अतः रेल के अतिरिक्त अन्य प्रकार के यातायातों के लिये हमें काफी सामग्री विदेशों से मँगानी पड़ती है।

(७) रसायन और दवा (३१ करोड़ रुपये या कुल आयात का ४ प्रतिशत)—औद्योगिक विकास के लिए तथा भूमि में खाद देने के लिए हमें रसायनों का आयात करना पड़ता है तथा देशवासियों के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए दवाओं को भी मँगवाना पड़ता है। कुछ वर्षों से रसायनों का आयात बहुत बढ़ गया है क्योंकि देश का औद्योगीकरण गति से हुआ है और देश में रसायनों की उत्पत्ति बढ़ जाने पर भी हमारी माँग पूरी नहीं हो पाती। सन् १९५८-५९ में इन आयातों का मूल्य ३१ करोड़ रुपये था जब कि सन् १९५० में हमने केवल १६ करोड़ रुपये की सीमा तक आयात किया।

(८) रेल की गाड़ियाँ (३० करोड़ रुपये या कुल आयात का ४देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ यातायात-प्रणाली क विकास का महत्व हम ऊपर बता चुके हैं। हमारे देश में रेल यातायात की काफी उन्नति हाल में हुई है और दिन प्रतिदिन हो रही है। एंजिन तथा डिब्बे के लिये देश में कारखाने खोले गये हैं, फिर भी हमें इनका विदेशों से अभी आयात करना पड़ता है।

(९) कपास (२८ करोड़ रुपया या कुल आयात का ३ प्रतिशत)—द्वितीय महायुद्ध के पहले हम कपास का बहुत थोड़ी मात्रा में आयात करते थे, किन्तु पाकिस्तान बन जाने के बाद बहुत से कपास उगाने वाले क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये,

जिसके कारण हमको पाकिस्तान तथा अन्य देशों से कपास का आयात करना पड़ता है। हाल में ही देश में उत्पन्न होने वाले कपास की मात्रा बढ़ाई गई है; किन्तु साथ में सूती कपड़े का उद्योग भी बहुत उन्नति कर गया है जिसके फलस्वरूप हमें कपास विदेशों से मँगाना पड़ता है। किन्तु आयात की मात्रा अब कम हो गई है। हमने सन् १९५८-५९ में २८ करोड़ रुपये का कपास विदेशों से खरीदा जब कि सन् १९५० में यह अंक ८७ करोड़ रुपये था।

(१०) धातु-निर्मित पदार्थ (२१ करोड़ रु० या कुल आयात का २%)—धातु तथा लोहे और स्पात के अतिरिक्त धातु के बने पदार्थों का आयात करना औद्योगीकरण के लिये बहुत आवश्यक हो चला है। अतः इनका आयात अब महत्वपूर्ण हो गया है।

(११) ऊन (१० करोड़ रु० या कुल आयात का १%) हमारे देश में ऊनी कपड़े का उद्योग काफी उन्नति कर रहा है; और इस कारण हमें कच्चे ऊन का आयात, विशेषतया अच्छे किस्म के ऊन का आयात, करना आवश्यक हो गया है।

आयातों पर विहंगम दृष्ट

(१) भारत विदेशों से बहुत-सी वस्तुएँ मँगाता है किन्तु १० करोड़ रुपये से अधिक मूल्य के आयात केवल ११ ही हैं जैसा कि सारिणी २८ से प्रतीत होता है।

(२) यह भी ज्ञात होगा कि आयात के प्रथम ५ पदार्थ कुल आयात के ६२ प्रतिशत होते हैं और उनमें से अनाज को छोड़कर प्रत्येक भारत के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है।

(३) यह भी स्पष्ट है कि हमारे आयातों में उपभोग्य माल का महत्व बहुत कम है। ऊपर की सारिणी में केवल अनाज ही उपभोग्य पदार्थ है।

नीचे के कोष्ठक में भारत का सन् १९५८-५९ का निर्यात और उनके मूल्यों का क्रम दिया जाता है।

सारिणी ३०

भारत के निर्यात, १९५८—५९

निर्यात के मद	करोड़ रुपये	कुल निर्यात का प्रतिशत
१. चाय	१३०	२२
२. जूट का सामान	१००	१७
३. सूती कपड़े	४५	८
४. कपास	२३	४
५. चमड़ा और उसका सामान	१९	३
६. काजू	१६	३
७. तम्बाकू	१५	२
८. मैनगेनीज	१४	२
९. अबरख	१०	२
१०. कच्चा लोहा	१०	२
११. अन्य	१९९	३५
योग	५८०	१००

(१) चाय (१२० करोड़ रुपये या कुल निर्यात का २२ प्रतिशत)—विदेशों को जानेवाला यह निर्यात पहले स्थान पर आता है। सन् १९५८-५९ में इस निर्यात का मूल्य १२० करोड़ रुपये था जब कि सन् १९५० में इसका मूल्य केवल ७० करोड़ रुपये था। भारत में उत्पन्न होने वाली चाय का ८० प्रतिशत भाग विदेशों का भेज दिया जाता है। हमारे सबसे महत्वपूर्ण खरीदार निम्न है: इंगलैण्ड (७४ करोड़ रुपये), अमेरिका (७ करोड़ रुपये), आयरलैंड (६ करोड़ रुपये), और कनाडा (५ करोड़ रुपये)।

(२) जूट का माल (१०० करो रुपये या कुल आयात का १७ प्रतिशत)—हमारे निर्यात में सबसे प्रथम स्थान जूट के माल का है। सन् १९५८-५९ में उनका निर्यात १०० करोड़ रुपये का हुआ; और सन् १०५० में भी इस निर्यात का मूल्य लगभग इतना ही हुआ (११७ करोड़ रुपये) था। यह निर्यात प्रधानतया अमेरिका (२९ करोड़ रुपये), आस्ट्रेलिया (१४ करोड़ रुपये), अर्जेंटाइन (१० करोड़ रुपये), इंगलैंड (८ करोड़ रुपये) और कनाडा (५ करोड़ रुपये) को होता है। इस निर्यात को बनाये रखना भारत के लिए कठिन समस्या हो रहा है। एक ओर ता विदेशों ने जूट के माल के स्थान पर अन्य वस्तुओंका उपभोग करना आरम्भ कर दिया है और दूसरी ओर पाकिस्तान हमें कच्चा माल उचित मात्रा में और उचित मूल्य पर नहा दे रहा है।

(३) सूती कपड़े (४५ करोड़ रुपये या कुल निर्यात का ८ प्रतिशत)—भारतीय सूती वस्त्र उद्योग हाल में अपने लिये लाभदायक विदेशी बाजार प्राप्त कर सका है। परिणाम यह हुआ है कि इन वस्त्रों का निर्यात काफी बढ़ गया है। सन् १९५०-५१ में सूती वस्त्रों का निर्यात ११८ करोड़ रुपये का सीमा तक हुआ था। किन्तु उसके पश्चात् सरकार ने इन निर्यात् को कम करने की नीति अपनायी जिसके कारण उसका मूल्य ५० और ६० करोड़ रुपये वार्षिक की सीमा तक रह गया। सन् १९५१-५२ में उसका मूल्य ५२ करोड़ रुपये था; और सन् १९५३-५४ में ५७ करोड़ रुपये। हमारे मत में इस निर्यात को रोकना असंगत है क्योंकि हमें द्वितीय पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिए बहुत सा विदेशी विनिमय चाहिये।

(४) कपास (३९ करोड़ रुपये या कुल निर्यात का ७ प्रतिशत)—भारत अधिकांश में छोटे रेशों का कपास विदेशों को भेजता है जो कि मोटे कपड़े बनाने के लिए प्रयुक्त होता है। सन् १९५५-५६ में इस निर्यात से भारत को ३९ करोड़ रुपये मिले जब कि सन् १९५० में इससे केवल १८ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे।

(५) चमड़ा और उसका सामान १९ करोड़ रुपये या कुल निर्यात का ३ प्रतिशत—भारत से बड़ी मात्रा में कच्चा चमड़ा और उसके बने माल जैसे जूते का निर्यात होता है। सन् १९५८-५९ में इस निर्यात् का मूल्य १९ करोड़ रुपये आया: सन् १९५० में भी इसका लगभग वही मूल्य (२२ करोड़ रुपये) था।

(६) काजू (१६ करोड़ रु० या कुल निर्यात का ३%)—हमारे देश से काजू का निर्यात पहले भी होता था पर हाल में ही इसका महत्व बहुत बढ़ गया है। तीसरा योजना के अंतर्गत इस आयाता को व्यवस्थित रूप से बढ़ाने का प्रयत्न किया जायगा। भारत सरकार ने इस आयात को प्रोत्साहन देने के लिए एक "निर्यात प्रोत्साहन काउंसिल" स्थापित की है।

(७) तम्बाकू (१५ करोड़ रुपये या कुल निर्यात का २%)—तम्बाकू (कच्चा)

आरम्भ से ही निर्यात का एक पदार्थ रहा है। सन् १९५५-५६ में इससे १२ करोड़ रु० प्राप्त हुए; और सन् १९५८-५९ में १५ करोड़ रुपये। यह राशि वैसे तो अधिक नहीं पर निर्यात के लिये प्राप्य माल के अभाव के कारण तम्बाकू का आयात भी अब महत्वपूर्ण हो गया है।

(८) **अन्य पदार्थ**—हमने सन्१९५८–५९ में मैनगेनोज के निर्यात से १४ करोड़ रु० प्राप्त किये ; और अबरख के निर्यात से १० करोड़ रु०। कच्चा लोहा भी निर्यात किया गया जिससे रु० १० करोड़ मिले। अन्य आयात इससे भी कम मात्रा मेंके हुए जिनका कुल योग रु० १९९ करोड़ था।

निर्यातों पर एक विहंगम दृष्टि

(१) यह स्पष्ट हुआ होगा कि १० करोड़ से अधिक मूल्य के निर्यात केवल १० हैं तथा अन्य निर्यात बहुत कम महत्व के हैं।

(२) यह भी ध्यान में आया होगा कि निर्यातों की सूची में प्रथम ३ स्थान ग्रहण करने वाले पदार्थ कुल निर्यात के ४७ प्रतिशत होते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारा अधिकांश निर्यात चाय, सन के सामान तथा सूती कपड़ों का स्वरूप ग्रहण करता है। इन ३ वस्तुओं पर निर्यात के लिए इतना निर्भर रहना एक चिन्ता का विषय है और हमारी अर्थ-व्यवस्था में कमजोरी तथा असन्तुलन उत्पन्न कर देता है।

(३) हमारा अधिकांश निर्यात उत्पादक माल का होता है यद्यपि उपभोग्य माल का निर्यात भी अभी किया जा रहा है।

§ ३· सीमा पार देशी व्यापार

भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग द्वारा होता है। किन्तु उसका कुछ विदेशी व्यापार थल-मार्ग द्वारा सीमा-पार विदेशों से भी होता है। जिन देशों से भारत का सीमा-पार व्यापार होता है, वे पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान और वर्मा है। किन्तु इस प्रकार के व्यापार की मात्रा बहुत थोड़ी है।

भारत-पाक व्यापार

हमारे सीमा-पार विदेशी व्यापार में भाग लेने वाले समस्त देशों में पाकिस्तान का स्थान प्रथम आता है। सन् १९५५–५६ में हमने पाकिस्तान से २० करोड़ रुपये का माल खरीदा और उसे ८ करोड़ रुपये का माल वेचा; और इस प्रकार व्यापार का अन्तर १२ करोड़ रुपये से हमारे प्रतिकूल रहा। हम पाकिस्तान को प्रधानतया कोयला, सूती कपड़े और मसाले भेजते हैं और हम उससे अधिकांस में कच्चा जूट मँगाते हैं। सन् १९५५– ५६ में हमने पाकिस्तान से १९ करोड़ रुपये का कच्चा जूट खरीदा। पाकिस्तान से खरीदे और उसे बेचे जाने वाले माल का ब्यौरा नीचे दिया जाता है :—

सारिणी ३१

भारत पाकिस्तान व्यापार, १९५२–५३

आयात		निर्यात	
वस्तुएँ	मूल्य (करोड़ रु०)	वस्तुएँ	मूल्य (करोड़ रु०)
१ कच्चा जूट	१४.३	१ कोयला	२.७
२. फल आदि	०.६	२. सूती सामान	०.७
३. खाल	०.६	३. मसाले	०.१
४. अन्य	३.८	४. अन्य	४.५
योग	१९.३		८.०

हम पाकिस्तान से प्रधानतया कच्चा जूट, मछली, फल, सुपाड़ी आदि का आयात करते हैं; और उस देश को कोयला, कपड़ा, मसाले, तेल (मीठा और तिल्ली का), बीड़ी, तम्बाकू, फल, दवा आदि, बेचते हैं।

कच्चा जूट—हमने सन् १९५३–५४ में पाकिस्तान से १४.३ करोड़ रुपये का कच्चा जूट खरीदा, जो उस देश से आने वाले कुल आयात का ७८%था। जैसा कि बताया जा चुका है, जूट उत्पन्न करने वाले प्रदेश अधिकतर पाकिस्तान में चले गये हैं, अतः अपने जूट उद्योग के लिए हमें कच्चा जूट पाकिस्तान से माँगना पड़ता है। पाकिस्तानी जूट का मूल्य बहुत ऊँचा है, जो कि जूट उद्योग क सामने बड़ी समस्या है। यदि पाकिस्तान कच्चे जूट का विश्वस्त और सस्ता स्रोत हो जाय, तो दोनों को देशों बहुत लाभ हो सकता है।

§ ४. भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार दो देशों के साथ होता है—युनाइटेड किंगडम और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ। इन दो देशों का भाग हमारे कुल विदेशी व्यापार जा चुका है जूट उत्पन्न करने वाले प्रदेश अधिकतर पाकिस्तान में चले गये है, अतः अपने का ४० प्रतिशत भाग इन २ देशों के साथ होता है। दूसरे वर्ग में जर्मनी और ब्रह्मा आते जिसका कि हमारे विदेशी व्यापार में भाग क्रमशः ७ प्रतिशत और ६ प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त तीसरा वर्ग इन १० देशो का है जिनका भाग १ प्रतिशत और ३ प्रतिशत के बीच में आता है और जो कुल मिलाकर हमारे विदेशी व्यापारी के१९ प्रतिशत भाग के लिए जिम्मेदार है। चौही और अन्तिम श्रेणी में और सब देश आते हैं जिनमें से प्रत्येक का हमारे विदेशी व्यापार में १ प्रतिशत से कम का भाग रहता है। ऐसे देशों का सामूहिक भाग हमारे विदेशी व्यापार का २९ प्रतिशत होता है।

सारिणी २३

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा, १९५५-५६

देश	आयात (करोड़ रुपये)	निर्यात (करोड़ रुपये)	आयात निर्यात का योग (करोड़ रुपये)	कुल विदेशी व्यापार का प्रतिशत
I				
१. यूनाइटेड किंगडम	१७३	१६६	३३९	२६
२. संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	८२	८९	१७१	१३
II				
३. जर्मनी	६१	२५	८६	७
४. बर्मा	५७	१६	७३	६
III				
५. आस्ट्रेलिया	२०	२५	४५	३
६. पूर्वी अफ्रीका	२७	११	३८	३
७. जापान	२१	१६	३७	३
८. मिस्र	२३	१०	३३	३
९. मलाया	२१	१०	३१	२
१०. लंका	९	२०	२९	२
११. इटली	१७	१०	२७	२
१२. कनाडा	१०	१७	२७	२
१३. ईरान	१४	५	१९	१
१४. अर्जेंटाइना	१	१३	१४	१
१५. पाकिस्तान	१	९	१०	१
IV				
१६. अन्य देश				२१

दिशा-सम्बन्धी प्रमुख लक्षण

ऊपर की सारिणी से विदित होगा कि भारत के विदेशी व्यापार की दिशा के कुछ प्रमुख लक्षण हैं।

(१) हमारे व्यापार का ४० प्रतिशत भाग यूनाइटेड किंगडम और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, इन दो देशों के साथ होता है। कोई और देश इन दोनों के महत्व को चुनौती नहीं दे सकता।

(२) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का हमारे विदेशी व्यापार में इतना ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेना द्वितीय महायुद्ध का परिणाम है। सन् १९३८–३९ में अमेरिका का भाग हमारे विदेशी व्यापार में लगभग ७ प्रतिशत था। किन्तु द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी और जापान के साथ हमारा विदेशी व्यापार बन्द हो गया और उस रिक्त स्थान को अमेरिका ने पूरा किया। युद्ध के बाद हमें अन्न की कमी हुई और देश के औद्योगिक विकास के लिए बहुत से उत्पादक-माल की आवश्यकता पड़ी; और इसी कारण अमेरिका से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। वास्तव में सन् १९५१ और १९५२ में अमेरिका का स्थान इंगलैण्ड से भी ऊँचा हो गया, किन्तु बाद को उसने फिर दूसरा स्थान ग्रहण किया।

(३) इंगलैण्ड का स्थान कुल विदेशी व्यापार में सर्वप्रथम हुआ किन्तु हाल में ही इसका महत्व कम हो गया। सन् १९०० में इसके साथ हमारा विदेशी व्यापार ७० प्रतिशत की मात्रा तक हुआ था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह कम हो गया और जर्मनी तथा जापान के साथ हमारा सम्बन्ध बढ़ा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड का भाग और कम हुआ। इस समय इस कमी को अमेरिका ने पूरा किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अमेरिका ने हमारे विदेशी व्यापार में सन् १९५१–५२ और १९५२–५३ में पहला स्थान लिया, यद्यपि अगले साल यह फिर दूसरे स्थान पर वापस चला गया।

(४) यद्यपि भारत का विदेशी व्यापार इन दो देशों के साथ केन्द्रित है किन्तु यह अन्य देशों में बहुत छोटी मात्रा में बिखरा हुआ है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। केवल दो देशों का भाग हमारे विदेशी व्यापार में १० प्रतिशत से अधिक है; १२ देशों का व्यापार १ प्रतिशत और १० प्रतिशत के बीच में आता है; और शेष देशों का व्यापार १ प्रतिशत से कम है।

(५) भारत का व्यापार एशिया और मध्य-पूर्व के देशों से बढ़ रहा है। ब्रह्मा, जापान, मलाया, लंका, पूर्वी अफ्रीका और मिश्र अब अधिक महत्व ग्रहण करते जा रहे हैं।

§ ५. भुगतान का लेखा (Balance of Payments)

व्यापार का अन्तर (Balance of Trade)

हम ऊपर बता चुके हैं कि एक देश दूसरे को मुख्यतया वस्तुएँ (merchandise) भेजता है और दूसरी वस्तुएँ मँगाता है। साल के आखीर में वस्तुओं के आयात और निर्यात का अन्तर निकाला जाता है जिसे "व्यापार का अन्तर" कहते हैं। उदाहरण के लिए भारत की सन् १९५७–५८ की अवस्था ले लीजिये।

	करोड़ रुपये
कुल आयात (वस्तुओं का)	१,१७५
कुल निर्यात (वस्तुओं का)	६६९
व्यापार का अन्तर	—५०६

व्यापार का अन्तर सन् १९५७–५८ में भारत के प्रतिकूल (५०६ करोड़ रुपये से) था।

अदृश्यों का अन्तर (Balance of Invisibles)

एक देश दूसरे देश को वस्तुएँ तो भेजता ही है; साथ में वह कुछ सेवाओं (Services) का भी निर्यात करता है। इसी प्रकार वह सेवाओं का आयात करता रहता है। उदाहरण के लिए, माल लाने-ले जाने की सेवा जो जहाजी कम्पनी करती है, या रुपया भेजने की सेवायें जो बैंक करते हैं। इन सेवाओं को हम देख नहीं सकते। इसलिये सेवाओं के आयात को "अदृश्य आयात" और सेवाओं के निर्यात को "अदृश्य निर्यात" कहा जाता है।* इसके विपरीत के आयात और निर्यात को "दृश्यगत" (Visible) कहा जाता है।

---

*हम नीचे अदृश्य आयातों को देते हैं : (१) हम जो ऋण विदेशों से लेते हैं, उन पर हमें ब्याज देनी होती है। अतः हम ऋण के उपयोग का आयात करते हैं।

जिस प्रकार वर्ष के अन्त में वस्तुओं के आयात और निर्यात का अंतर (व्यापार का अंतर) निकाला जाता है, उसी प्रकार वर्ष के आखिर में अदृश्य आयात और निर्यात का अंतर निकाला जाता है। इसे "अदृश्य का अन्तर" (Balance of Invisibles) कहते हैं। सन् १९५७–५८ में भारत की अवस्था इस प्रकार थी—

	करोड़ रुपये
अदृश्य निर्यात	+२३९
अदृश्य आयात	—११०
अदृश्यों का अन्तर	+१२९

अदृश्यों का अन्तर सन् १९५७–५८ में १२९ करोड़ रुपये से भारत के अनुकूल हुआ।

चालू खातों का अन्तर (Current Account Balance)

हमें देश की पूरी ऋण-सम्बन्धी अवस्था जानने के लिए "व्यापार के अन्तर" तथा "अदृश्यों के अन्तर" दोनों को जोड़ देना चाहिये। जो योग इस प्रकार प्राप्त होता है, उसे "चालू खाते का अन्तर" (Balance on Current Account) कहते हैं। सन् १९५७–५८ में भारत का चालू खाते का अन्तर इस प्रकार था।

	करोड़ रुपये
व्यापार का अन्तर	—५०६
अदृश्यों का अन्तर	+१२९
चालू खाते का अन्तर ..	—३७७

सन् १९५७–५८ में भारत का 'चालू खाते का अन्तर' ३७७ करोड़ रुपये से हमारे प्रतिकूल था। दूसरे शब्दों में, हमने विदेशों को ३७७ करोड़ रुपये उधार दिये। इसे "ऋणता का अन्तर" (Balance of Indebtedness) भी कहा जा सकता है। ऊपर के अनुमान लगाने में कुछ गलती या भूलें हो सकती हैं; और अनुमान लगाया गया है कि ऋणता का अन्तर लगभग ११ करोड़ रुपये से हमारे अनुकूल होगा।

चालू खाते के अन्तर का निपटारा

यदि चालू खाते का अन्तर किसी देश के अनुकूल होता है, तो वह या तो सोना मँगा कर या ऋण देकर उसका निपटारा या भुगतान कर लेता है। इसके विपरीत यदि चालू खाते का अन्तर प्रतिकूल हुआ, तो सोने का निर्यात करके या विदेशों से ऋण लेकर उसका

विदेशों में अध्ययन करने वाले भारतीय विद्यार्थियों को हमें रुपया भेजना पड़ता है। यह उस शिक्षा तथा उन वस्तुओं के लिए भुगतान है जो भारत विद्यार्थियों के माध्यम द्वारा विदेशों से खरीदता है। (३) भारतीय यात्री जब विदेशों को जाते हैं तब सेवाओं तथा सुविधाओं के लिए विदेशियों को रुपये अदा करते हैं। (४) विदेशी बीमा, जहाजी और बैंकिंग कम्पनियों से जो सेवाएँ खरीदी जाती हैं, उनका भुगतान किया जाता है। ५) भारत में व्यापार करने वाले विदेशी जो लाभ कमाते हैं वे विदेश को भेज देते हैं। भारत इन विदेशियों के माध्यम द्वारा जिस व्यापारिक साहस का आयात करता है, ये लाभ उसी के पुरस्कार हैं। हमारे अदृश्य निर्यात निम्नलिखित हैं : (१) भारत के स्कूलों, मिशन, आदि की सहायता के लिए विदेशी बहुधा रुपया भेजते हैं। (२) विदेशी यात्री जब भारत में आते हैं तो वे सामान और सेवाओं को खरीदते हैं और उनके लिए रुपया अदा करते हैं।

निपटारा या भुगतान कर दिया जाता है। आजकल सोने का आयात-निर्यात नहीं होता, वरन् पूंजी उधार ले-देकर निपटारा कर लिया जाता है। अतः चालू खाते के अन्तर का निपटारा करने के लिए जो हिसाब बनाया जाता है, उसे "पूंजी खाता" (Capital Account) कहते हैं। उदाहरण के लिये, सन् १९५७–५८ में चालू खाते का अन्तर ३७७ करोड़ रुपये से भारत के प्रतिकूल था। इसका निपटारा भारत ने पूंजी उधार लेकर किया। पूंजी खाता इस प्रकार था :

भुगतान का लेखा (Balance of Payments)

एक देश वर्ष भर के अन्दर विदेशों को जितना द्रव्य अदा करता है और उनसे जितना द्रव्य पाता है, उसके लेखे (Statement) को "भुगतान का लेखा" कहा जाता है। भुगतान के लेखे के दो पक्ष होते हैं : द्रव्य की प्राप्ति और द्रव्य की अदायगी। इन दोनों पक्षों का योग बराबर होता है.—उनमें कोई अन्तर नहीं हो सकता।

भुगतान के लेखे के दो भाग होते हैं : (१) चालू खाता जिसमें व्यापार का अन्तर तथा अदृश्यों का अन्तर दिखाया जाता है, और (२) पूंजी खाता जिसमें पूंजी लेन्दे कर (Capital Movements) चालू खाते के अन्तर का निपटारा होना दिखाया जाता है। इसके दो पक्ष (sides) होते हैं : बांयी ओर हमने जितना रुपया पाया उसका लेखा रहता है और दाहिनी ओर हम जो रुपया देते हैं उसका लेखा रहता है। हम भारत का सन् १९५४ का भुगतान नीचे देते हैं :

सारिणी ३५

भारत का भुगतान का लेखा १९५४

अदायगी	करोड़ रु०	प्राप्ति	करोड़ रु०
(अ) चालू खाता (Current Account)			
अदृश्यों का अन्तर (अनुकूल)	८०	व्यापार का अन्तर (प्रतिकूल)	७६
		चालू खाते का अन्तर अनुकूल	४
रु०	८०	रु०	८०
(आ) पूंजी खाता (Capital Account)			
करोड़ रु०			
चालू खाते का अन्तर ४ + भूल-चूक ७	११	अन्तर्राष्ट्रीय फंड व बैंक से उधार लिया	२२
सरकार या बैंकों ने विदेशियों को उधार दिया	८	अन्य संस्थाओं से उधार लिया	५
सरकार या बैंकों का विदेशों में जमा	१६	विदेशी पूंजी उधार ली	८
रु०	३५	रु०	३५

§ ६. भारत का भीतरी या देशी व्यापार

किसी भी देश का भीतरी या देशी व्यापार दो भागों में बाँटा जा सकता है : तटीय व्यापार और देशान्तर्गत व्यापार।

तटीय व्यापार (Coastal Trade)

जो व्यापार देश के विभिन्न भागों में बन्दरगाहों के द्वारा होता है, वह तटीय व्यापार कहलाता है। इसका कारण यह है कि माल तट के किनारे लाया-लेजाया जाता है। हमारा तटीय व्यापार काफी महत्वपूर्ण है और इसकी कुल वार्षिक रकम २०० करोड़ रुपये के लगभग होती है। हमारा तट बहुत विस्तृत है और यद्यपि यह ब्रिटेन के तट की भाँति तो कटा-छँटा नहीं है, किन्तु उस पर बहुत से बन्दरगाह हैं। अभाग्यवश बहुत से पुराने बन्दरगाहों में अब मिट्टी भर गई है और वे बेकार हो गये हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास भारतीय जहाजों का कोई अच्छा बेड़ा नहीं है। हमारे तटीय व्यापार की उन्नति के लिए पूर्ण चेष्टा होनी चाहिये। इसके लिए बन्दरगाहों की उन्नति करनी चाहिये, यातायात का उचित समन्वय (Co-ordination) होना चाहिये और व्यापारिक बेड़ा बनाना चाहिये।

देशान्तर्गत (Inland) व्यापार

देशान्तर्गत व्यापार से उस अन्तर-प्रान्तीय व्यापार का आशय है जो स्थल-मार्ग द्वारा किया जाता है। हमारा देश बहुत लम्बा-चोड़ा है। इसकी जनसंख्या बहुत बड़ी है। यहाँ पर पैदा होने वाली फसलों तथा वस्तुओं की किस्में भी बहुत प्रकार की हैं। इसलिए स्वाभाविक रूप से हमारे भीतरी व्यापार का बाहरी व्यापार से अधिक महत्वपूर्ण होना अनिवार्य है। किसी देश के भीतरी व्यापार का ठीक-ठीक अनुमान लगाना साधारणतया आसान काम नहीं होता। हमारे देश में पर्याप्त आँकड़े न होने के कारण यह काम और भी कठिन है। प्रोफेसर के० टी० शाह का कथन है कि हमारा देशी व्यापार विदेशी व्यापार से तीन गुना है। इंगलैंड का देशी व्यापार उसके विदेशी व्यापार का बीस गुना है; और अमेरिका में दस गुना। इससे पता चलता है कि हमारे देशी व्यापार की बहुत उन्नति हो सकती है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी

1. Describe the composition and direction of Indias Foreign Trade. (1958).

2. What are our chief exports and imports ? Why should we attend to the promotion of our exports ? 1957).

3. Describe the main components of Indias exports. Mention the chief export markets of India. (1955).

4. What are the principal imports and exports of India ? What changes have taken place in the composition and direction of our import trade during the last few years ? (1954).

5. Write a note on commercial crops in India. (1954.)

पंजाब, इन्टर

6. State the composition and direction of India's foreign trade in recent years. (1957).

7. What have been the effects of Second World War on India's Foreign trade ? (1956).

8. (a) What are our three most important imports from (i) Pakistan and (ii) United Kingdom ?

(b) Name three minerals that we import and three that we export.

(c) Give the value of one hundred Indian rupees in terms of the currencies of the United Kingdom and the United States of America. (1954).

जम्मू एन्ड काशमीर, इन्टर आर्ट्स

9. Briefly mention the main defects in the system of agricultural marketing in India. How can these be removed ? (1955).

10. Give the value of India's Foreign trade in any recent year. (1955).

11. Give the main features of India's Foreign trade in recent years. (1955).

12. What are the main items of export and import trade of the Jammu and Kashmir State ? Which of the two is greatd-value ? How can the State's external trade be made more are vantages for the people of the State ? (1954).

13. Give the situation with regard to Foreign Trade of India and comment on it. (1953).

14. Point out the defects of agricultural marketing in your state. What would you suggest in order to improve it ? (1951).

15. Give the Indian imports from and the exports to the United Kingdom and U. S. A. How will they be affected by the devaluation of our rupee ? (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

16. Indicate the principal articles of (a) the import and (b) the export trade of India. Review the changes in the direction of India's foreign trade between 1939 and 1954. (1955).

पटना, इन्टर आर्ट्स

17. Mention the Chief articles of export and import in India's foreign trade. Point out the changes that have taken place in India's foreign trade since the partition of the country. (1957).

18. Enumerate, the principal exports and imports of India to-day. What changes have taken place in their composition since the war ? (1952).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

19. Write a note on main imports and exports of India. (1952).

20. Point out the chief characteristics of India's foreign trade n recent years. (1950).

अध्याय १७
भारत में सहकारिता

§ १. भारत में सहकारिता आन्दोलन का इतिहास

हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन गत ५० साल से चल रहा है। हम इसका संक्षिप्त इतिहास नीचे देते हैं।

१. प्रारम्भिक चेष्टाएँ

सहकारिता समितियाँ स्थापित करने का काम सरकार ने सन् १९०४ में शुरू किया। इसके पहले भी ऐसी समितियाँ चलाने की चेष्टा की गई किन्तु कोई खास सफलता नहीं मिली। आरम्भ से ही हमारे देश में इस आन्दोलन का उद्देश्य किसानों को ऋण देने का रहा है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव रक्खे गये :

(१) सबसे पहले सर विलियम वेडरबर्न तथा जस्टिस रानाडे ने कृषि बैंक चलाने की एक योजना बनाई। लार्ड रिपन ने, जो उस समय भारत के वाइसराय थे, इस योजना को मान लिया; किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे अस्वीकृत कर दिया। अतः इसके अनुसार काम न हो सका।

(२) सन् १८९२ में सर फ्रेडरिक निकलसन ने मद्रास की सरकार को एक रिपोर्ट (Report on Land and Agricultural Banks) समर्पित की। इसका संक्षेप उन्होंने दो शब्दों में किया—"Find Raiffeison" अर्थात् 'रेफिजन चलाओ"। इसमें उन्होंने ग्रामीण ऋण के लिए रेफिजन की तरह की सहकारी समितियाँ बनाने की सिफारिशें की। किन्तु मद्रास सरकार के मत में वहाँ ग्रामीण ऋण की समस्या महत्वपूर्ण नहीं थी। इसलिए इस रिपोर्ट पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

(३) उत्तर प्रदेश के सिविल सर्विस के सदस्य डुपरनेक्स ने भी सहकारी बैंक (People's Bank) स्थापित करने पर जोर दिया और इस विषय पर एक सुन्दर पुस्तक (People's Banks for Northern India) भी लिखी।

(४) इस आन्दोलन का नतीजा यह हुआ कि उत्तर प्रदेश, बंगाल और पंजाब में कुछ समितियाँ चलाई गई। किन्तु सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण वे कुछ समय बाद ही बन्द हो गई।

(५) सन् १९०१ में भारत सरकार ने इस विषय के महत्व को समझा। कृषि बैंक स्थापित करने की समस्या पर विचार करने के लिए उन्होंने एक कमिटी बनाई। इसकी रिपोर्ट के आधार पर उन्होंने सन् १९०४ में सहकारी साख समिति अधिनियम बनाया।

२. साख समिति अधिनियम, १९०४

सन् १९०४ में सहकारी समिति अधिनियम (Co-operative Societies Act) पास हुआ। इसके अन्तर्गत केवल साख समितियाँ बनाने की व्यवस्था की गई। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि उस समय साख या ऋण की समस्या बहुत कठिन थी। दूसरे, यह सोचा गया कि जब साख देने में सहकारिता सफल हो जायगी, तब उसे और क्षेत्रों में भी इस्तेमाल किया जा सकेगा। परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमिटी के

मत में इस अधिनियम के क्षेत्र का इतना सीमित होना केवल असावधानी का परिणाम था। इस समय शहरी ऋण की अपेक्षा ग्रामीण ऋण पर बहुत जोर डाला गया।

इस विधान के अनुसार किसी गाँव या शहर या जाति के दस व्यक्ति एक सहकारी समिति बनाने की आज्ञा माँग सकते थे। यदि समिति के ४/५ सदस्य किसान हुए, तो उसे "ग्रामीण सहकारी साख समिति" कहा जाता था, और उसे रेफिजन के आधार पर बनाया जाता था। इसके सदस्यों का दायित्व अपरिमित (Unlimited Liability) होता था; और उसका समस्त लाभ एक स्थायी रक्षित कोष (Reserve Fund) में जमा होता रहता था।

अन्य सब समितियों को शहरी सहकारी साख समिति कहा जाता था और वे शुल्ज-डेलिज के आधार पर बनाई जाती थी। शहरी समिति सीमित उत्तरदायित्व के आधार पर काम कर सकती थी, और सदस्यों में लाभ का ३/४ भाग बाँट सकती थी। यदि पूँजी शेयरों में बँटी हो, तो उसकी मात्रा मर्यादित कर दी जाती थी। समितियों को प्रवेश फीस, सदस्यों द्वारा जमा किये गये रुपये, शेयरों तथा बाहरी ऋणों के द्वारा चालू पूँजी (Working capital) उगाहनी पड़ती थी। ऋण केवल सदस्यों को ही दिये जा सकते थे। अनिवार्य जाँच, हिसाब-परीक्षा (audit) तथा भंग करने के अधिकार सरकार के लिए सुरक्षित थे।

३. सहकारी समिति अधिनियम, १९१२

सन् १९०४ के अधिनियम बन जाने के बाद इस आन्दोलन की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। शीघ्र ही आन्दोलन इस अधिनियम के क्षेत्र के बाहर चला गया क्योंकि ऋण देने के अलावा और भी उद्देश्यों के लिए समितियाँ स्थापित की गईं। इसलिए सरकार ने सन् १९१२ में एक नया अधिनियम बनाया। इस अधिनियम के अन्तर्गत साख समितियों और गैर-साख समितियों, दोनों की रजिस्ट्री का आयोजन किया गया। साथ में इस अधिनियम ने केन्द्रीय समितियों को भी मान्यता दी। इनका काम प्रारम्भिक समितियों की सहायता करना था। केन्द्रीय समितियाँ निम्नलिखित किस्मों की हो सकती थीं: (१) **निरीक्षक यूनियन** जिनका काम समितियों की देख-भाल करना तथा उनके हिसाब की जाँच करना था; (२) **जिला केन्द्रीय बैंक** जिनका काम जिले की समितियों को ऋण देना था; और (३) **राज्य बैंक** जिनका काम राज्य के जिला केन्द्रीय बैंकों को ऋण देना था। ये केन्द्रीय संस्थाएँ अब भी चली आती हैं। यह बात ध्यान देने की है कि कई प्रकार की गैर-साख वाली समितियों को मान्यता देने पर भी, अधिकांश समितियाँ साख समितियाँ ही हैं।

४. मैकलागन कमिटी (१९१५) और उसके पश्चात्

नये अधिनियम ने आन्दोलन को काफी प्रोत्साहन दिया। अतः इस आन्दोलन के विकास और भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए एक कमिटी बैठाई गई जिसे "मैकलागन कमिटी" कहते हैं। यह सन् १९१४ में बैठाई गई और इसकी रिपोर्ट सन् १९१५ में प्रकाशित हुई। इसके फलस्वरूप आन्दोलन को और भी उन्नति हुई। आन्दोलन ने अब उन्नति के तीसरे पर्व में प्रवेश किया। अब सहकारी समितियों का पुनर्संगठन किया गया। जो भी समितियाँ सहकारिता के आदर्श को नहीं पहुँच सकी थीं, उनको भंग कर दिया गया। भुगतान ठीक समय पर होने की बात पर जोर दिया जाने लगा। आन्दोलन में गैर-सरकारी व्यक्तियों और संस्थाओं का हिस्सा बढ़ने लगा।

५. भारत सरकार अधिनियम, १९१९

सन् १९१९ में भारत सरकार अधिनियम पास हुआ। इसके अनुसार सहकारिता अब राज्य का विषय बन गई; अर्थात् अब सहकारिता का काम राज्य सरकार के अधिकार में आ गया। अब राज्य सरकारों का एक मंत्री इस आन्दोलन की देख-भाल करने लगा। इस प्रकार इस आन्दोलन ने उन्नति के चौथे पर्व में प्रवेश किया। अब आन्दोलन में आदमियों की दिलचस्पी बढ़ने लगी, और देश भर में समितियों की संख्या बहुत बढ़ गई।

६. राज्यों में सहकारी जाँच कमिटियाँ

विभिन्न राज्यों ने सहकारी आन्दोलन की उन्नति करने के लिए कमिटियाँ भी नियुक्त कीं। मध्य प्रदेश ने सन् १९२२ में और बिहार ने सन् १९२३ में ऐसी कमिटियाँ बैठाई। कुछ साल बाद उत्तर प्रदेश में ओकडेन कमिटी (Oakden Committee) और मद्रास में टाउनशेंड (Townsend) कमिटी बनी। इन कमिटियों की रिपोर्ट के अनुसार सहकारी समितियों में बहुत से सुधार हुए और उनकी अवस्था सुदृढ़ होने लगी। कई राज्यों ने सहकारी कानून भी बनाये। गैर-साख सहकारिता पर काफी जोर दिया जाने लगा।

७. कृषि कमीशन और बैंकिंग कमिटी

सन् १९२६ में कृषि कमीशन ने और सन् १९३१ में भारतीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने बहुमूल्य रिपोर्ट उपस्थित कीं। उन्होंने सहकारिता का अधिकारी विवेचन किया। उनकी सिफारिशों के अनुसार समितियों की कड़ी जाँच-पड़ताल होने लगी, और पुराने ऋण की बढ़ती को रोकने के प्रयास होने लगे।

८. सहकारी सम्मेलन, १९३४

किन्तु सन् १९३० के लगभग भारत में आर्थिक संकट आया और किसानों की दशा बहुत खराब हो गई। तब भारत सरकार ने सन् १९३४ में सहकारी कानफरेंस या सम्मेलन बुलाया। यह तय किया गया कि सहकारिता आन्दोलन को शीघ्रता से फैलाने का प्रयास नहीं करना चाहिये वरन् उसे अपनी स्थिति को ठोस बनाना और अपने आधार को सुदृढ़ करना चाहिये।

९. द्वितीय महायुद्ध में सहकारिता आन्दोलन

दूसरे महायुद्ध का एक महान् प्रभाव यह हुआ कि गैर-साख सहकारिता की अद्वितीय उन्नति हुई। युद्ध-काल में खेती की उपज के मूल्य बहुत बढ़ गये और किसानों के पास पैसे इकट्ठे होने लगे। अतः उन्हें साख की पहले जैसी आवश्यकता नहीं रही। किन्तु देश में वस्तुएं दुर्लभ हो गई और "उत्पत्ति बढ़ाओ" का नारा चारों ओर सुनाई देने लगा। साथ ही साथ, चोर बाजारी आदि रोकने के लिए वस्तुओं की बिक्री में सुधार करना आवश्यक हो गया। अतः सहकारिता आन्दोलन ने अब गैर-साख क्षेत्र में—उत्पादन और वितरण के क्षेत्रों में—अपूर्व उन्नति की। इस काल में साख-समितियों ने भी उन्नति की; पर गैर-साख पक्ष की अपूर्व उन्नति करके आन्दोलन ने एक नया चरण उठाया।

१०. महायुद्ध के पश्चात्

महायुद्ध के पश्चात् भारतीय अर्थ-व्यवस्था की योजनात्मक उन्नति करने की चेष्टा की गई; बहुत-सी योजनाएँ बनीं, जिनमें सहकारिता को ऊँचा स्थान मिला। सन् १९४६

में सहकारी योजना कमिटी (Co-operative planning Committee) ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसने आन्दोलन के भावी विकास का मार्ग-प्रदर्शन किया। विभिन्न राज्यों ने वस्तुओं की दुर्लभता, चोरबाजारी आदि समस्याओं को सुलझाने के लिए सहकारिता का सहारा लिया और कुछ नये प्रयोग किये। पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता को उच्च स्थान प्राप्त हुआ है। इन सब विकासों ने हाल में ही भारतीय सहकारिता आन्दोलन को बहुत बल दिया है।

§ २. भारत में सहकारी समितियों का संगठन

सहकारी ढांचा

भारत में सहकारी समितियाँ या तो प्रारम्भिक होती है या केन्द्रीय। प्रारम्भिक समितियाँ गांवों में काम करती हैं या शहरों में। ग्रामीण समितियाँ या तो साख समितियाँ होती हैं या गैर-साख समितियाँ। शहरी समितियों का भी इस प्रकार उप-विभाजन किया जा सकता है। केन्द्रीय समितियों का काम प्रारम्भिक समितियों की सहायता करना है, और इनका उप-विभाजन इस प्रकार है : (१) निरीक्षण यूनियन, (२) जिला केन्द्रीय बैंक, (३) राज्य बैंक, तथा (४) अन्य केन्द्रीय समितियाँ। यह वर्गीकरण नीचे दिखाया जाता है।
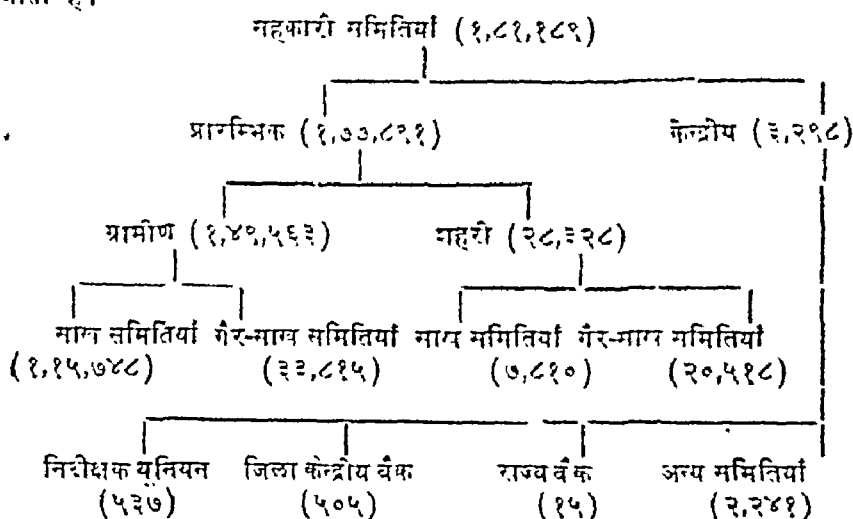
चित्र १९१—भारत में सहकारी समितियों का ढांचा

प्रारम्भिक तथा केन्द्रीय सहकारी समितियाँ—हमारे देश में जितनी भी सहकारी समितियाँ हैं, वे दो भागों में बांटी जा सकती हैं : प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ और केन्द्रीय सहकारी समितियां। जो सहकारी समितियाँ सदस्यों के सम्पर्क में आती हैं और उनके भले के लिए काम करती हैं, वे प्रारम्भिक समितियाँ कहलाती हैं। इन्हें सहकारिता आन्दोलन की नींव कहा जा सकता है। ये शहरों, गांवों तथा कस्बों में स्थापित होती हैं और वहीं काम करती हैं। इनकी संख्या आजकल १,८०,००० के लगभग है।

जो सहकारी समितियाँ प्रारम्भिक सहायक समितियों की सहायता करने के लिए स्थापित की जाती हैं, ये केन्द्रीय सहकारी समितियाँ कहलाती हैं। इनकी संख्या

हमारे देश में ३,३०० के लगभग है। वास्तव में, प्रारम्भिक समितियों को सहायता के लिए हर जिले में एक "जिला या केन्द्रीय समिति" खोली जाती है जो जिले भर की प्रारम्भिक समितियों की मदद करती है। केन्द्राय वैंकों की सहायता के लिए "राज्य वैंक" खोले जाते हैं जो राज्य (State) भर में स्थापित जिला केन्द्रीय वैंकों की सहायता करत हैं।

ग्रामीण तथा शहरी प्रारम्भिक समितियाँ—अव हम प्रारम्भिक समितियों का अध्ययन करेंगे। प्रारम्भिक समिति अगर किसी गाँव में स्थापित हो, तो उसे ग्रामीण समिति कहते हैं; और यदि वह किसी शहर में स्थापित हो, तो उसे शहरी समिति कहते हैं। हमारे देश में सहकारी आन्दोलन ग्रामवासियों के भले के लिए चलाया गया था। इसलिए हमारे देश में प्रारम्भिक ग्रामीण समितियाँ वहुत हैं, और शहरी प्रारम्भिक समितियाँ वहुत कम हैं।

साख और गैर-साख समितियाँ—ग्रामीण समितियाँ का और भी उपविभाग किया जा सकता है : ग्रामीण साख समितियाँ और ग्रामीण गैर-साख समितियाँ। ग्रामीण साख समितिया का उद्देश्य सदस्यों के लिए सस्ते व्याज पर ऋण का प्रवन्ध करना होता है, और गैर-साख समितियों का उद्देश्य सदस्यों की अन्य आवश्यकताओं को सुविधापूर्वक पूरा करना है। इसी प्रकार शहरी समितियों का भी उपविभाजन किया जाता है।

सहकारी समितियों का वर्गीकरण—ऊपर के विवेचन के आधार पर हम सहकारी समितियों का इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं :

(१) ग्रामाण साख समितियाँ
(२) ग्रामीण गैर-साख समितियाँ
(३) शहरी साख समितियाँ
(४) शहरी गैर-साख समितियाँ
(५) केन्द्रीय समितियाँ

अव हम इनमें से प्रत्येक का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

१ ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ

हम सवसे पहले ग्रामीण साख समितियों को लेते हैं जिनकी संख्या सवसे अधिक है। पूरे सहकारी आन्दोलन का आधार प्रारम्भिक समितियाँ हैं। अतः इस समिति के विपय में कुछ मुख्य-मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं :

(१) **समिति की साइज**—ग्रामीण ऋण या साख समिति स्थापित करने के लिए कम से कम दस व्यक्ति होने चाहिये। सदस्यों की संख्या वहुत अधिक नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इससे कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है।

(२) **क्षेत्र**—समिति का क्षेत्र वहुत विस्तृत नहीं होना चाहिये। यह एक नियम-सा हो गया है कि हर गाँव में एक समिति होनी चाहिये जिससे कि सदस्य एक दूसरे से भली भाँति परिचित हों और पारस्परिक नियंत्रण रख सकें। ऐसा होना वहुत आवश्यक है, क्योंकि सदस्यों का उत्तरदायित्व साधारणतया असीमित होता है।

(३) **उत्तरदायित्व**—सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है; यदि सरकार इसके विपरीत आज्ञा दे दे, उसी हालत में यह सीमित हो सकती है, अन्यथा नहीं। हर सदस्य का संयुक्त रूप में और अकेले रूप में असीमित उत्तरदायित्व होता है। असीमित दायित्व समिति की साख को वढ़ाता है। इसके कारण सदस्य ऋण देने में सावधानी से काम लेने लगते हैं। वे जानते हैं कि यदि किसी ऋणी ने ऋण न चुकाया, तो होने वाला

नुकसान उन्हीं को भुगतना पड़ेगा। इसलिये वे पूरी जाँच-पड़ताल करते हैं और तभी ऋण देते हैं जब कि उन्हें आश्वासन हो जाता है कि ऋण उत्पादक कार्य के लिए लिया जा रहा है। व निश्चित समय पर रुपया वसूल करने पर भी जोर देने लगते हैं। अतः ऋण की वसूली ठीक-ठीक होती है। अतः यह सिद्धान्त अंत में सदस्यों के लिए ही लाभकारी सिद्ध होता है।

(४) **प्रबन्ध**—कृषि सम्बन्धी सहकारी प्रारम्भिक समिति का प्रबन्ध अवैतनिक होता है। समस्त सदस्यों की एक जनरल कमिटी होती है और उनमें से थोड़े से सदस्य प्रति दिन के काम के लिए चुन लिये जाते हैं और वे सामूहिक रूप से प्रबन्ध कमिटी के नाम से पुकारे जाते हैं।

(५) **कार्यशील (Working) पूंजी**—समिति प्रवेश-फीस, सदस्यों द्वारा जमा किये हुए रुपये, शेयर, रिजर्व फण्ड आदि के द्वारा कार्यशील पूंजी प्राप्त करती है। ऋण और अन्य समितियों, सरकार तथा केन्द्रीय एवं राज्य सहकारी बैंकों का जमा किया हुआ रुपया, पूंजी के बाहरी स्रोत होते हैं।

(६) **ऋण के उद्देश्य**—ऋण उत्पादक कार्यों के लिए और कर्ज से छुटकारा पाने के लिए दिये जाते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से उपभोग के लिए ऋण नहीं देना चाहिये; किन्तु व्यवहार में ऐसा ऋण देना ही पड़ता है, अन्यथा गाँववाला फिर से साहूकार के चंगुल में फँस सकता है।

(७) **ब्याज की दर**—ऋण कम ब्याज पर दिये जाते हैं। वास्तव में, ऐसी समितियों का यह मुख्य उद्देश्य होता है। किन्तु ब्याज बहुत कम नहीं होना चाहिये जिससे कि गाँववाले आवश्यकता से अधिक ऋण लेने के लिए प्रेरित न हों।

(८) **अदायगी**—ऋण का भुगतान आसान किश्तों के रूप में करना होता है और समय पर अदायगी होने पर जोर डाला जाता है। भुगतान ऐसे समय पर माँगा जाता है जब किसान के पास रुपया हो।

(९) **सुरक्षा**—सैद्धान्तिक दृष्टि से ऋणी से कोई जमानत नहीं लेनी चाहिये और उनकी ईमानदारी पर विश्वास करना चाहिये। किन्तु व्यवहार में ऋण लेने वालों से व्यक्तिगत जमानत तथा अन्य चीजों की जमानत माँगी जाती है।

(१०) **लाभ**—पूंजी शेयरों रूप में न होने के कारण सारा का सारा लाभ रिजर्व फंड में इकट्ठा होता रहता है। किन्तु यदि शेयर बेचे गये हों, तो लाभ का एक भाग शेयर-होल्डरों में बाँट दिया जाता है। कभी-कभी लाभ का एक भाग आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों पर भी व्यय करने की आज्ञा दे दी जाती है।

(११) **निरीक्षण**—समितियों के काम का निरीक्षण और उनके हिसाब-किताब की जाँच सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार करते हैं। इस काम के लिए वे निरीक्षक और हिसाब-परीक्षक नियुक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में निरीक्षक यूनियन भी अच्छा काम करती है।

ग्रामीण सहकारी साख समितियों की असफलता—यह असन्तोष का विषय है कि सहकारी साख आन्दोलन हमारे गाँवों में असफल रहा है। इसके कई द्योतक हैं: (१) इन समितियों की कुल वास्तविक पूंजी केवल ३० करोड़ रुपये के लगभग है, जिससे हमारे सब किसानों का काम नहीं चल सकता। (२) इनके दिये हुए ऋण उत्पादक काम में सदैव नहीं लगाये जाते हैं। बहुधा किसान रुपये को ब्याह-शादी आदि मदों पर खर्च

कर देते हैं। अतः वे ऋण चुका नहीं पाते। (३) उनका दिया हुआ ऋण बहुत बड़ी मात्रा में बिना अदा किये रह जाता है। अनुमान लगाया गया है कि इन समितियों का लगभग तिहाई ऋण उधार रहता है। (४) फिर आजकल गांव में साहूकार की अब भी आवश्यकता है और उसका प्रभुत्व विशेष कम नहीं हुआ।

२. ग्रामीण सहकारी गैर-साख समितियाँ

हमारे गांवों में अब सस्ते व्याज पर ऋण देने के अलावा और कामों के लिये भी सहकारी समितियां बनने लगी हैं। पर अभी तक ये अधिक लोकप्रिय नहीं हुई हैं। इनकी निम्नलिखित किस्में मुख्य हैं:

(अ) क्रय-समितियां (Purchase Societies)—जिस समिति का प्रधान उद्देश्य आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद कर सदस्यों को सस्ते दाम पर देना होता है, उसे क्रय-समिति कहते हैं। हमारे गांवों में ११,००० के लगभग क्रय-समितियां काम कर रही हैं। ये सदस्यों से यह पूछ लेती हैं कि उन्हें क्या-क्या चीजें चाहिये। वे उन वस्तुओं को थोक मूल्य पर बड़े दूकानदारों से खरीद लेती हैं। फिर वे वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर सदस्यों को बेच दी जाती हैं। साल में जो लाभ होता है, वह सदस्यों में बांट दिया जाता है। इन समितियों के न होने से गांव वाले महाजन से वस्तुएँ खरीदते हैं जिनका मूल्य भी अधिक होता है और किस्म भी खराब होती है। क्रय-समितियां गांववालों की महाजन से रक्षा करती हैं।

(आ) बिक्री (Sale) या विपणन (Marketing) समितियां—इन समितियों का प्रधान उद्देश्य सदस्यों की फसलों की एक साथ बिक्री करना होता है। गांव वाले खेती की उपज को अच्छे दामों पर नहीं बेच पाते। यदि वे उसे गांव में बेचते हैं, तो महाजन कम दाम देता है। यदि वे मण्डी में जाते हैं, तो वहां तोलाई, धर्म खाते, व्याज खाते आदि में उनसे रुपया वसूल किया जाता है और इस प्रकार उनको लूटा जाता है। इस मुसीबत से छुटकारा पाने के लिये बिक्री समितियां स्थापित की जा सकती हैं। ये अपने सदस्यों की सब उपज इकट्ठी कर लेती हैं, और फिर उसे ऊँचे मूल्य पर होशियारी के साथ बेचती हैं। हमारे गांवों में ऐसी ६,००० के लगभग समितियां काम कर रही हैं। बहुत से गांवों में "दूध समितियां", "घी समितियां", "अनाज बिक्री समितियां", "गन्ना विपणन समितियां" स्थापित हो गई हैं, जो वस्तुओं की बिक्री का उचित प्रबन्ध करती हैं। साथ में वे बिक्री की वस्तुओं की किस्म सुधारने का भी प्रयत्न करती हैं।

(इ) उत्पादन समितियां—इन समितियों का प्रमुख उद्देश्य खेती में (अर्थात् अनाज आदि पैदा करने में)) मदद करना है। इस प्रकार की १२,००० के लगभग समितियां हमारे गांवों में काम कर रही हैं।

(ई) चकबन्दी समितियां—इन समितियों का खास उद्देश्य खेतों की चकबन्दी करना (Consolidation of holdings) होता है। ये समितियां गांव वालों को चकबन्दी के लाभ बताती हैं और उन्हें चकबन्दी करने पर राजी करती हैं। किसान एक सभा चुन लेते हैं, जो सब सदस्यों के खेतों को मिला देती है और फिर प्रत्येक को एक मुश्त में जमीन दे देती है: बटवारा सब के राजी हो जाने पर ही किया जाता है। पंजाब में ऐसी समितियों ने बहुत सफलता प्राप्त की है।

(उ) सिंचाई समितियां—इन समितियों का काम सिंचाई के साधन बनवाना है। समितियां ऋण लेकर कुएँ आदि बनवाती हैं। सदस्यों को पानी देने से जो रुपया मिलता

है, उससे धीरे-धीरे ऋण का भुगतान कर दिया जाता है। खेती के लिए सिंचाई बहुत आवश्यक है। अतः किसानों के लिए इस प्रकार की समितियाँ बहुत लाभदायक हैं। बंगाल में इस प्रकार की समितियों ने विशेष उन्नति की है।

(ऊ) कृषि सुधार (Better Farming) समितियाँ—इन समितियों का उद्देश्य खेती में सुधार करना होता है। इनके सदस्य खेती के तरीकों में निश्चित सुधार करने के लिये राजी हो जाते हैं। समिति इन सुधारों के लिये सुविधाएँ प्रदान करती है और इस बात की भी जाँच करती है कि सब सदस्य इन सुधारों को अपनावें। बम्बई तथा बंगाल में ऐसी समितियों ने अच्छे बीज और मशीनें बाँट कर तथा अच्छे उपायों का प्रचार करके सदस्यों का बहुत भला किया है। उन्होंने जानवरों की नस्ल अच्छी करने में भी सहयोग दिया है।

(ए) रहन-सहन सुधार (Better Living) समितियाँ—इन समितियों का प्रधान उद्देश्य रहन-सहन में उन्नति करना है। समिति सामाजिक सुधार का एक कार्यक्रम निश्चित कर लेती है। फिर हर सदस्य को इसके अनुसार काम करना पड़ता है; अन्यथा उन्हें जुर्माना देना पड़ता है। ऐसी समितियों ने पंजाब में विशेष उन्नति की है। ये त्योहार पर व शादी-ब्याह में फिजूलखर्ची रोकती हैं। पंजाब की एक समिति ने लड़कों की शादी का व्यय ५०० रुपये से घटा कर ७० रु० कर दिया है, और लड़कियों की शादी का खर्च ८०० रु० से घटाकर ३०० रु० कर दिया है। गाँव की सफाई कराना, सड़क ठीक हालत में रखना घरों को हवादार बनवाना, कुओं को साफ रखना—ये सब काम भी ये समितियाँ करती हैं। इन्हें "समाज सेवा समितियाँ" भी कहते हैं। इस प्रकार की लगभग ५,००० समितियाँ हमारे गाँवों में कार्यशील हैं।

(२) शहरी साख समितियाँ

सहकारी आन्दोलन ने शहरों में भी उन्नति की है, यद्यपि गाँवों की अपेक्षा यह उन्नति बहुत कम है। ग्रामीण क्षेत्रों में साख समितियाँ अधिक हैं और गैर-साख समितियाँ कम। पर शहरों में गैर-साख समितियाँ अधिक हैं (इनकी संख्या २०,५१८ है) और साख-समितियाँ कम (इनकी संख्या केवल ७,८१० है)। शहरों में स्थापित हर चार समितियों में से एक साख समिति है और तीन गैर-साख समितियाँ हैं।

शहरी साख समितियों का मुख्य काम सस्ते ब्याज पर ऋण का प्रबन्ध करना होता है। ये शुल्ज-डेलिज के आधार पर खोली जाती हैं। शहरों में तीन वर्गों को ऋण की अक्सर आवश्यकता पड़ जाती है, और उन्हें ऊँचे ब्याज पर और कठिनाई से रुपया उधार मिल पाता है। ये हैं (अ) कारीगर, (आ) छोटे-छोटे व्यापारी और दूकानदार, तथा (इ) वेतन पानेवाले। प्रत्येक वर्ग अलग-अलग साख-समितियाँ खोल कर सुविधा से और कम ब्याज पर ऋण प्राप्त करता है। उत्तर प्रदेश में वेतनभोक्ताओं की साख समितियों ने विशेष सफलता प्राप्त की है। ये समितियाँ ऋण का प्रबन्ध करने के साथ-साथ सदस्यों में रुपया बचाने की भावना जागृत करती हैं और उनकी फिजूलखर्ची रोकती हैं। कारीगर इनके द्वारा माल बनाने के लिए, छोटे-मोटे दूकानदार व्यापार के लिये, तथा सब वर्ग शिक्षा, बीमारी में इलाज, विवाह आदि के लिए ऋण प्राप्त करते हैं। शहरों में पीपुल्स बैंक (People's Banks) भी पाये जाते हैं जो कारखानेवालों, व्यापारियों तथा कारीगरों को ऋण देते हैं।

सारिणी ३६
(४) शहरी गैर-साख समितियाँ

उपभोक्ता भंडार...	८,४१७
विपणन समितियाँ...	६,४२३
सामाजि सेवा समितियाँ...	३,२०६
गृह-निर्माण समितियाँ...	१,६१३
उत्पादन समितियाँ...	८३५
बीमा समितियाँ...	२४
	१०,५१८

शहरों में गैर-साख समितियों की संख्या २०,५१८ है; और ये जिन वर्गो में बाँटी जा सकती हैं, वे बगल की तालिका में दिखाये गये हैं। अब इनका संक्षिप्त विवरण देंगे।

(अ) उपभोक्ता भण्डार—हमारे शहरोंमें उपभोक्ता भंडार(Consumers' Co-operative Stores) काफी लोकप्रिय हो रहे हैं। ये क्रय समितियों की तरह होते हैं, जिनका वर्णन हम ग्रामीण गैरसाख समितियों के अन्तर्गत कर चुके हैं। इनका उद्देश्य यह होता है कि अच्छी किस्म की चीजें थोक दाम पर खरीदें, और उन्हें सदस्यों को सस्ते दाम पर बेचें। इसके दो लाभ होते हैं : एक तो चीजें सस्ती मिलती हैं; दूसरे चीजों की किस्म अच्छी होती है। साल के आखीर में उपभोक्ता भंडार को जो लाभ होता है, वह खरीदार में (उनकी खरीद के अनुपात में) बाँट दिया जाता है। ऐसे भण्डार संसार भर में लोकप्रिय हो रहे हैं पर विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन में उन्होंने बहुत उन्नति की है।

हमारे देश में उपभोक्ता भण्डारों की संख्या लगभग ८½ हजचेर के हैं। ये उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास आदि में लोकप्रिय हो रहे हैं, और महाविद्यालयों तथा होस्टलों में बहुधा खोले जाते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसे भण्डार अधिकांश में मजदूरों ने खोले हैं, पर हमारे देश में मजदूरों ने इस ओर अभी तक कोई खास दिलचस्पी नहो दिखाई है। देश का सबसे बड़ा भण्डार "मद्रास ट्रिप्लीकेन स्टोर" है। दूसरे महायुद्ध के बाद सरकार ने इन भण्डारों को प्रोत्साहन देने की नीति को अपनाया है। हमने इसका विस्तृत वर्णन आगे §६ में किया है।

(आ) विपण समितियाँ (Marketing Societies)—हमारे शहरों में लगभग ६½ हजार जिपणन समितियाँ काम कर रही हैं। ये कारीगरों के बनाये हुए सामान को एकत्रित कर लेती हैं; और फिर उनको उचित मूल्य पर, उसी शहर में या किसी दूसरे शहर में, बिक्री कर देती हैं। इससे कारीगरों को माल बेचने की परेशानी से छुट्टी मिल जाती है और वे माल बनाने का काम लगन से कर सकते हैं। ये समितियाँ उन्हें अच्छे-अच्छे माल बनाने तथा अच्छा कच्चा माल देने में भी सहायता पहुँचाती हैं।

(इ) सामाजिक सेवा समितियाँ—इनका जिक्र हम ग्रामीण गैर-साख समितियों के अन्तर्गत कर चुके हैं। इनका उद्देश्य सामाजिक रीति-रिवाज में सुधार करना होता है जिससे कि सदस्य फिजूलखर्ची से बचें। साथ ही वे सफाईकरने, सड़कें ठीक करने, कुएँ का जल शुद्ध करने आदि का काम भी करती हैं। यदि ये समितियाँ लगन से काम करें, तो नगरनिवासियों का बहुत कल्याण हो सकता है।

(ई) गृह-निर्माण समितियाँ—शहरों में घरों की बहुत कमी होती है। मामूली दशा के व्यक्ति के पास अपना घर बनवाने के लिए रुपये नहीं होते, और वह उचित व्याज पर कर्जा भी नहीं पा सकता। इस दशा में मदद करने के लिए गृह-निर्माण समितियाँ बनाई जाती हैं। इनका काम घर बनवाने में सहायता करना है ये समितियाँ सदस्यों

से यह सूचना प्राप्त करती है कि वह घर बनवाने में कितना रुपया खर्च करना चाहता है। फिर वे उन्हें कुल लागत के चौथाई भाग (या अन्य किसी भाग) की रकम तक रुपया कम ब्याज पर उधार दे देती हैं, पर वह सदस्य मकान को समिति के पास गिरवी (mortgage) रखेगा। मकान बन जाने के बाद सदस्य धीरे-धीरे रुपया अदा कर देता है, और तब गिरवी छूट जाता है। इससे मकान बनवाने में बहुत प्रोत्साहन मिलता है।

(उ) उत्पादन समितियाँ—ये समितियाँ केवल वस्तुओं की उत्पत्ति में सहायता करती हैं। ये वस्तुओं की बिक्री नहीं करतीं। ये भी कारीगरों को बहुत लाभ पहुँचाती हैं। इनकी संख्या हमारे शहरों में १,००० से कम है।

(ऊ) बीमा समितियाँ—बीमा समिति का प्रधान उद्देश्य बीमा व्यवसाय करना होता है। ऐसी २८ समितियाँ हमारे देश में स्थापित हो चुकी हैं।

५. केन्द्रीय समितियाँ

केन्द्रीय समितियों की किस्मों का हवाला हम पहले ही दे चुके हैं। अब हम उनका ब्योरा नीचे देते हैं।

(अ) निरीक्षक यूनियन—ये प्रारम्भिक समितियों के काम का निरीक्षण करती हैं। ये उनके काम की देख-भाल करती हैं, उनके दोषों को दूर करने के लिए सुझाव देती हैं, तथा उनकी उन्नति में आवश्यक मदद भी करती हैं। इनकी संख्या ५२७ है।

(आ) जिला केन्द्रीय बैंक—हर जिले में एक सहकारी बैंक होता है जो उस जिले की प्रारम्भिक समितियों को ऋण देता है। इनकी कुल संख्या ५०५ है।

(इ) राज्य बैंक—यह हर राज्य में एक होता है, और अपने राज्य के जिला सहकारी बैंकों को ऋण देता है। ऐसे १५ बैंक हमारे देश में स्थापित हैं। सब राज्य ने मिल कर एक अखिल भारतीय सहकारी बैंक समिति (Indian Co-operative Bank Association) बनाई है जिसके द्वारा सब राज्य बैंकों का नियंत्रण होता है और समिति राज्य बैंक एक दूसरे की सहायता करते हैं।

(ई) अन्य समितियाँ—अन्य केंद्रीय समितियाँ भी काम करती हैं और इनकी कुल संख्या २,२४१ है। इनका भी काम प्रारम्भिक समितियों की सहायता करना है। (१) कारीगरों की प्रारम्भिक समितियों की सहायता के लिये "औद्योगिक समितियाँ" हैं जिनकी संख्या १०० है। (२) उपभोक्ता भण्डारों की मदद के लिए "थोक भण्डार" खोले गये हैं जिनकी कुल संख्या ७८ है। (३) अन्य प्रकार की केन्द्रीय समितियों की संख्या १४१ हैं।

§ ३. सहकारिता का परिणाम

भारत में सहकारिता के लाभ

अभी हमारे देश में सहकारी आन्दोलन की पूरी उन्नति नहीं हुई है; और जो उन्नति हुई भी है, उसमें कई दोष हैं। फिर भी इस आन्दोलन से हमारे देश को बहुत से लाभ हुए हैं जिनका वर्णन हम संक्षेप में नीचे देते हैं :

(१) आर्थिक लाभ—हम कृषि-सम्बन्धी सहकारिता की साखवाली समितियों के आर्थिक लाभों की विवेचना पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस आन्दोलन की अन्य शाखाओं से भी बहुत-से फायदे हुए हैं। कृषि-सम्बन्ध गैर-साखवाली समितियों ने अच्छे

बीज, अच्छे पशु, सस्ती खाद और उपयुक्त औजारों के लोकप्रिय होने में बहुत सहायता की है। सफाई और दवा-दारू के मामले में भी इन्होंने अच्छा काम किया है। कृषि समितियों के अतिरिक्त जो समितियाँ हैं वे थोड़ी तो अवश्य हैं; किन्तु कारखाने के मजदूरों, हरिजनों और गरीब नौकरी पेशेवालों की अवस्था सुधारने में इन्होंने अच्छा काम किया है।

(२) **नैतिक लाभ**—इन सब आर्थिक लाभों के अतिरिक्त, आंदोलन ने अपने सदस्यों के नैतिक स्तर को भी ऊँचा किया है। इसने किफायतसारी और बचत की आदत प्रोत्साहित की है। मुकदमेबाजी, जो अब तक किसान का समय, उसकी शक्ति तथा उसके द्रव्य की बरबादी करती रही है, अब इसके प्रयत्न से कम हो चली है। अब झगड़े पंचायत और समझौते द्वारा निपटाये जाने लगे हैं। खराब चाल-चलन वाला और नैतिक दृष्टि से नीचा व्यक्ति समिति का सदस्य नहीं बनाया जाता और इसलिए ऐसे व्यक्तियों का कुछ सुधार निश्चय ही हुआ है। जैसा डार्लिंग महोदय ने लिखा है कि एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी और अपव्यय, शराबखोरी और जुएबाजी खराब समझी जाती है, और उनका स्थान परिश्रम, आत्मविश्वास, न्यायपूर्ण व्यवहार, शिक्षा, पंचायत, किफायत और पारस्परिक सहायता ले लेती हैं।

(३) **शिक्षा और शासन-सम्बन्धी लाभ**—सहकारी आन्दोलन कई प्रकार से मनुष्यों को शिक्षित बनाता है। सहकारी समिति का सदस्य उसकी मीटिंग में उपस्थित होता है, और उसके नियम तथा उपनियमों को उसे समझना पड़ता है। यदि वह किसी जिम्मेदार पद पर चुन लिया गया तो उसे समिति के कामों का सावधानी से अध्ययन भी करना पड़ता है। इस प्रकार उसकी बुद्धि का प्रयोग होता है और उसकी समझने और बहस करने की शक्ति तेज होती है। यह देखा गया है कि कभी-कभी पास-बुक में प्रविष्टियाँ (entries) पढ़ने और हस्ताक्षर करने की आवश्यकता ने मनुष्यों को शिक्षित बना दिया है। साथ में शासन तथा लोकतन्त्र के मामलों में शिक्षा प्राप्त करने का यह आन्दोलन बहुमूल्य साधन सिद्ध हुआ है।

(४) **सामाजिक लाभ**—इस आन्दोलन ने समाज को भी काफी लाभ पहुँचाया है। असीमित उत्तरदायित्व का सिद्धान्त सदस्यों को सावधान बना देता है और धीरे-धीरे फिजूलखर्ची के विरुद्ध जनसाधारण की भावना जागृत हो जाती है। अतः विवाह तथा त्यौहार पर फिजूलखर्ची में कमी होने लगती है। सहकारी समितियों ने नालों (drains) के सुधार, कुएँ बनाने, दवा देने आदि में अच्छा काम किया है और इससे समाज को लाभ भी हुआ है।

भारत में सहकारिता के दोष

(१) **गैर-साख सहकारी समितियों की उपेक्षा**—हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन पर्याप्त उन्नति नहीं कर सका है। केवल एक समस्या जिसकी ओर इस आन्दोलन ने ध्यान दिया है वह गाँव की साख समस्या है; और इस दिशा में जो कुछ काम हुआ है वह सन्तोषप्रद नहीं है। यह इस आन्दोलन की सबसे बड़ी कमी है। इसके कार्यक्षेत्र की ओर बहुत-सी दिशाएँ हैं जिनमें सहकारिता के प्रयोग से लाभ उठाया जा सकता है। उदाहरण के लिए सफाई, मकान बनवाना, क्रय-विक्रय इत्यादि।

(२) **सहकारिता के वास्तविक सिद्धान्तों की अनभिज्ञता**—सहकारिता के सच्चे सिद्धान्तों को मनुष्यों को बहुत कम जानकारी है। इसकी सच्ची भावना को अभी नहीं समझा गया है और इसे केवल एक ऋण देने वाले साधन के रूप में ही देखा गया है।

ब्रिटिश काल में तो यह भावना थी कि यह एक सरकारी आन्दोलन है और इसमें विदेशी सरकार का कुछ मतलब है। इसलिए जनता इससे दूर रहती थी।

(३) **प्रबन्ध की खराबी**—सहकारी समितियों का प्रबन्ध भी अच्छा नहीं। जैसा कि कृषि के रायल कमीशन ने बतलाया था, समिति के सदस्य जब रुपया समय पर अदा कर भी सकते हैं तब भी वे भुगतान देर से करते हैं; और पटवारी उनके विरुद्ध कारवाई करने में हिचकते हैं तथा स्वावलम्बन की भावना प्रमुख नहीं। जब किसी समिति में दोष स्पष्ट होते हैं और उनको स्वीकार भी कर लिया जाता है, फिर भी उसकी दशा में कोई सुधार हो सकने की सम्भावना न होने पर भी उसे सदस्य भंग नहीं करना चाहते, जो जितनी शोचनीय बात है उतनी ही भयानक भी। खासकर ऋण के आर्थिक उद्देश्य की जाँच नहीं की जाती और ऋण के भुगतान न होने का दोष काफी प्रमुख है।

(४) **हिसाब की परीक्षा का ठीक न होना**—प्रबन्ध की खराबी और गबन को रोकने के लिये तथा जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि समिति के हिसाब की ठीक-ठीक पूरी-पूरी परीक्षा (audit) हो। वर्तमान परीक्षा का प्रबन्ध हर एक प्रान्त में अलग-अलग है और वह अधिकतर संतोषजनक नहीं। हिसाब-परीक्षा, और समिति के निरीक्षण के काम एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ हैं, किन्तु आजकल ये काम दो या कभी-कभी तीन एजेन्सियों को सौंप दिये जाते हैं, जिससे दोहरा काम करना पड़ता है और श्रम तथा द्रव्य का अपव्यय होता है।

(५) **दिखावट (Window-dressing)**—अभाग्यवश यह देखा गया है कि समिति के सदस्यों में दिखावट की प्रवृत्ति अधिक है और वे ठोस काम करने से उदासीन रहते हैं। कुछ राज्यों को छोड़ कर शेष सब जगह यह दोष दीख पड़ता है।

(६) **व्याज की ऊँची दर**—कई राज्यों में व्याज की दरें अब भी ऊँची हैं। कुछ सीमा तक तो ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि रुपया जमा करने वाले तथा उधार लेने वाले के बीच में दो-तीन मध्यस्थ आ जाते हैं। प्रारंभिक समिति, केन्द्रीय बैंक और राज्य बैंक—इनमें से प्रत्येक रुपया जमा करनेवाले को दी जाने वाली व्याज की दर में कुछ-न-कुछ अंश अपने लाभ के लिए जोड़ देता है। यदि आदर्श अवस्था प्राप्त हो, तो अपने सदस्यों की आवश्यकता के लिए समितियों को स्थानीय स्थानों से ही पर्याप्त पूँजी मिल जानी चाहिये।

(७) **लोचहीनता, विलम्ब और अपर्याप्तता**—आन्दोलन के बहुत भयानक दोषों में लोचहीनता (Inelasticity), विलम्ब और अपर्याप्तता की गिनती होती है। जितना रुपया सदस्यों को चाहिए उतना उन्हें नहीं मिलता, और जिस समय उनको आवश्यकता होती है उस समय भी नहीं मिलता। रुपया देने में कभी-कभी अनावश्यक विलम्ब होता है। इसका परिणाम यह होता है कि सदस्यों को समय-समय पर महाजन की शरण लेनी पड़ती है। वास्तव में समितियों की यह आदत पड़ गई है कि वे केन्द्रीय बैंकों से साल में एक बार जितना भी रुपया उधार ले सकते हैं, ले लेते हैं; और अपने सदस्यों में एक मुश्त में बाँट देते हैं। सदस्यों को जब एक मुश्त में बहुत रुपया मिल जाता है, तो वे शीघ्र ही उसे खर्च कर डालते हैं; और फिर बाद को जब उन्हें द्रव्य की आवश्यकता होती है, तो उन्हें महाजन से ऊँची व्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है।

(८) **सुदृढ़ता (Consolidation) का अभाव**—वर्तमान समितियों के सुधार करने और उन्हें सुदृढ़ बनाने के लिए जितने भी प्रयत्न अब तक किये गए हैं, वे सब निष्फल सिद्ध हुए हैं।

(९) सरकारी नियंत्रण (Control) का आधिक्य—यह आन्दोलन आरम्भ से ही शुरुआत, प्रोत्साहन और नियंत्रण के लिए सरकार के उपर निर्भर रहा है। गैर-सरकारी व्यक्तियों का इसमें बहुत कम हाथ है। इसे सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि यह आन्दोलन जनता का हो, जनता के लिए हो और जनता के द्वारा हो।

(१०) फिजूलखर्ची और निरक्षरता—सहकारिता अभी सदस्यों को मितव्ययिता का पाठ नहीं पढ़ा पाई। इसका परिणाम यह होता है कि ऋण बहुत कठिनाई से और बहुत धीरे-धीरे लौटाया जाता है और बहुत शीघ्र ही दोबारा ऋण लेने की आवश्यकता पड़ जाती है।

§ ४. सहकारिता और खेती

हमारी ऐसी खेती-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में सहकारिता का विशेष महत्व है, और यह कई प्रकार से किसानों का हित-वर्द्धन कर सकता है। यह बताया जा चुका है कि सहकारी ऋण और गैर-ऋण समितियों ने किसानों को कितना लाभ पहुँचाया है। अब हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि सहकारिता से अच्छी खेती तथा विपणन एवं जमानत-वित्तप्रबंध के क्षेत्रों में किस प्रकार सहायता मिल सकती है।

सहकारी खेती (Co-operative Farming)

हाल में भारतीय राष्ट्रीय महासमिति ने अपने नागपुर (१९५९) अधिवेशन में सहकारी खेती के पक्ष में प्रस्ताव पास करके इसके महत्व को काफी बढ़ा दिया है। पं० नेहरू सहकारी खेती का जोरों से समर्थन कर रहे हैं; और शीघ्र ही इसको देश में रचनात्मक रूप दिया जायगा।

सहकारी खेती का आशय यह है कि समिति के सदस्य अपने-अपने खेत समिति को सौंप देते हैं जिससे कि उनको संयुक्त बुवाई, कटाई, आदि हो सके। यह स्मरण रखना चाहिये कि सदस्य अपने-अपने खेतों के स्वामी बने रहते हैं : केवल खेती के लिये ये खेत समिति को सौंपे जाते हैं। इन खेतों पर सदस्य मिल-जुल कर काम करते हैं। फसल या आय बाँटने के दो तरीके हैं : (अ) सदस्यों को काम के अनुसार मजदूरी दी जाय, और फिर कुल संयुक्त आय को भूमि के अनुपात में बांट दिया जाय; (आ) कुल आय संयुक्त को भूमि और श्रम के अनुपात में बांट दिया जाय।

सहकारी खेती के निम्न लाभ हैं : (१) यह खेतों के छोटेपन और छिटकेपन के दोष का निवारण करता है। छोटी-छोटी टुकड़ियां संयुक्त होकर बड़ा खेत बन जाती हैं और फिर बड़े पैमाने की खेती के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। (२) कभी-कभी बड़े खेतों पर मजदूरों के अभाव के कारण पर्याप्त या कुशल काम नहीं हो पाता; किन्तु सहकारी खेती में यह कठिनाई दूर हो जाती है। (३) सहकारी समिति में श्रम-विभाजन हो सकता है जिससे कि उत्पादकता बढ़ जाती है। (४) सहकारी खेती की सफलता होने पर किसानों को अन्य प्रकार की सहकारिता व्यवहार में लाने का प्रोत्साहन मिलता है जिसमें सहकारी विपणन सबसे प्रमुख है।

सहकारी विपणन

जब कुछ किसान अपनी फसल को मिलकर सहकारी आधार पर बेचने के लिये समिति बनाते हैं, तब उसे सहकारी विपणन समिति कहते हैं। किसानों को बहुधा अपनी उपज को अच्छे दाम पर बेचने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; यह समिति उनका निवारण करती है। इन कठिनाइयों को एक पिछले अध्याय में बताया जा चुका

है। यदि किसान अपनी कुल उपज समिति को दे दें और यह समिति कुल उपज के बेचने का प्रबंध करे, तो दाम अच्छे मिल सकते हैं। इसके कई कारण हैं। (१) एक किसान की अपेक्षा बहुत-से किसानों की संयुक्त मोलभाव करने की शक्ति अधिक होती है। (२) एक किसान को धोखा देना या उसका शोषण करना आसान है पर समिति को धोखा देना या उसका शोषण करना कठिन होता है। (३) समिति को कुशल यातायात तथा विपणन रीतियों की सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं। विशेषतया इसे समस्त उपज को तुरंत ही बेच डालने की जल्दी नहीं होगी; और यह बाजार में मूल्यों का रुख अनुकूल होने तक रुक सकती है।

गांवों में सबसे कठिन समस्या उपज का लाभ पर विपणन करना है। सहकारी विपणन समिति इस समस्या का सुन्दर हल करती है; अतः यह कहा जा सकता है कि किसानों की आर्थिक उन्नति के लिये उनका मूल महत्व है।

सहकारी भूमि-बंधक बैंक

हमने ऊपर ग्रामीण साख समितियों का वर्णन करते समय "भूमिबंधक बैंकों" (Land Mortgage Banks) का जिक्र नहीं किया है। भूमिबंधक बैंक अधिकांश में प्रारम्भिक सहकारी समितियां ही होती हैं, पर ये भूमि को गिरवी रखकर लम्बी अवधि के लिए ऋण देते हैं। यही इनकी विशेषता होती है। साधारणतया सहकारी समितियां अपने सदस्यों को थोड़े समय के लिए या अल्पकालीन ऋण (Short-term loans) ही देती हैं। ऐसा ऋण न तो किसानों को स्थायी सुधार करने देता है (जैसे कुआं खुदवाना, ट्रैक्टर खरीदना, बैल खरीदना, आदि) और न उन्हें पुराने ऋण के भुगतान करने योग्य ही बनाता है। इन कामों के लिए लम्बे समय का या दीर्घकालीन (long-term) ऋण चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भूमि-बंधक बैंक स्थापित किये जाते हैं। ये बैंक किसान की भूमि को गिरवी या बंधक रखकर उसे लम्बी अवधि के लिए रुपया उधार देते हैं, इसलिए उन्हें "भूमि-बंधक बैंक" कहते हैं। हमारे देश में अधिकतर सहकारी भूमि-बंधक बैंक प्रारम्भिक (Primary Societies) हैं और इनकी संख्या २८६ है।

मद्रास	१२९
मैसूर	७९
मध्यप्रदेश	२५
बम्बई	१९
अन्य राज्य	३४
योग	२८६

भूमि-बंधक बैंक सबसे अधिक मद्रास में हैं, जिसके बाद मैसूर, मध्य प्रदेश और बम्बई का नाम आता है। प्रारम्भिक भूमि-बंधक बैंकों का विभाजन बगल में दिखाया गया है।

प्रारम्भिक तथा केन्द्रीय सहकारी भूमि-बंधक बैंक—प्रारम्भिक भूमि-बंधक बैंकों की सहायता के लिए केन्द्रीय भूमि-बंधक भी खोले गये हैं। इनकी संख्या केवल ५ है, और ये मद्रास, बम्बई, उड़ीसा और ट्रावनकोर-कोचीन में स्थित हैं।

गैर-सहकारी भूमि-बंधक बैंक—उपरोक्त विवरण से यह न समझना चाहिये कि हमारे देश में जितने भी भूमि-बंधक बैंक हैं, वे सब सहकारी हैं। उपरोक्त २८६ बैंकों को छोड़ कर अन्य भूमि-बंधक बैंक गैर-सहकारी हैं। ये दो वर्ग में विभाजित किये जा सकते हैं: (अ) अर्द्ध-सहकारी (quasi-co-operative) भूमि-बंधक बैंक जिनके सदस्य ऋण लेने वाले और न लेनेवाले दोनों ही होते हैं, जिनकी पूंजी होती है, जिनके सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है और जिनका लाभ वितरित किया जाता है; और (ब) व्यापारिक भूमि-बंधक बैंक जो लाभ के लिए व्यापारी अन्य व्यापारिक संस्थाओं की भांति स्थापित करते हैं। उनकी संख्या भी बहुत कम है।

§ ५. उपभोग सहकारिता

हम यह तो बता ही चुके हैं कि सहकारी समितियाँ कई प्रकार की होती हैं और वे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं। उपभोक्ताओं की सहकारी समितियाँ (Consumers' Co-operative Societies) इनमें से बहुत महत्व की हैं।

उपभोग सहकारिता के उद्देश्य

हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ दूकानदार से खरीदता है, सीधा उत्पादकों से नहीं। अधिकांश में होता यह है कि उत्पादक माल को थोक व्यापारियों को बेच देता है, जो फुटकर व्यापारियों को बेचता है, और इन फुटकर व्यापारियों से ही उपभोक्ता माल खरीदते हैं। थोक और फुटकर व्यापारी मध्य-पुरुष होते हैं और वे माल के मूल्य को बढ़ा देते हैं। यदि एक पेंसिल उत्पादक थोक विक्रेता को दो आने की बेचे, तो यह विक्रेता फुटकर व्यापारी को उसे शायद २ आने ३ पाई की बेचेगा; और वह स्वयं उपभोक्ता को २ आने ६ पाई की बेच सकता है। यदि उपभोक्ता पेंसिल स्वयं उत्पादक से खरीद सकता या खरीदता, तो उसे केवल २ आने देने पड़ते और उसे २ पैसे की बचत हो जाती। मध्यपुरुषों का लोप करना और उनकी जेब में जाने वाला लाभ बचाना, उपभोक्ताओं की सहकारी समितियों का यही उद्देश्य होता है। ये समितियाँ इसलिए और खोली जाती हैं कि वे अच्छी किस्म का माल रखती और बेचती हैं। आप दूकानदार को चाहे पूरा मूल्य ही क्यों न अदा करें, फिर भी वह आप को कभी-कभी खराब किस्म का माल दे देता है। किन्तु यदि आप सहकारी स्टोर से माल खरीदें, तो आप इस बात से बेखटके हो जायेंगे कि माल की किस्म अच्छी होगी।

अतः उपभोक्ताओं की सहकारी समिति के दो उद्देश्य होते हैं: (१) मध्यस्थों का लोप करना; और (२) माल की किस्म अच्छी होने का आश्वासन देना।

उपभोग सहकारिता के सिद्धान्त

उपभोक्ताओं का सहकारी स्टोर या विभाजन-समिति, उपभोक्ताओं की एक समिति को कहते हैं जिसका उद्देश्य सस्ते दामों पर अच्छी किस्म की वस्तुएँ बेचना है। किसी एक स्थान के उपभोक्ता मिलकर एक सहकारी स्टोर स्थापित करते हैं, उसके शेयर खरीदते हैं और जो लाभ होता है उसे आपस में खरीदारी के अनुपात में बाँट लेते हैं। उदाहरण के लिए यदि खुरशीदलाल एक साल में १०,००० रुपये का माल खरीदे और राकेश उसी साल में केवल ५०० रुपये का ही माल खरीदे, तो खुरशीदलाल को राकेश की अपेक्षा लाभ का दुगुना भाग मिलेगा। साधारणतया माल बाजार मूल्य पर ही बेचा जाता है; किन्तु सदस्यों को जो लाभ का भाग मिलता है, यदि उसको हिसाब में लें तो खरीदा हुआ माल बाजार मूल्य से सस्ता पड़ता है। कभी-कभी माल बाजार मूल्य से कम मूल्य पर भी बेचा जाता है।

जिन सिद्धान्तों पर उपभोक्ताओं के सहकारी स्टोर स्थापित किये जाते हैं, उनका वर्णन नीचे किया जाता है। सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है। एक सदस्य जितने भी चाहे शेयर खरीद सकता है, किन्तु उसका वोट केवल एक ही रहता है। प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य होता है कि वह स्टोर से ही सब माल खरीदे। स्टोर अच्छी किस्म का माल अधिकतर बाजार मूल्य पर बेचता है, और माल उधार नहीं बेचा जाता। साल भर के लाभ का चौथाई हिस्सा रिजर्व फंड में डाल दिया जाता है; और शेष भाग सदस्यों में उनकी खरीदारी के अनुपात में बाँट दिया जाता है। स्टोर की जनरल कमिटी होती है जिसके

सब सदस्य मेम्बर होते हैं और वे स्टोर की नीति बनाते हैं। एक और प्रबन्ध कमिटी होती है जिसके सदस्य थोड़े से होते हैं और सदस्यों में से ही चुने जाते हैं। वह ही स्टोर का प्रबन्ध करती है।

विदेशों में उपभोग सहकारिता

संसार में उपभोग सहकारिता ने काफी सफलता प्राप्त की है। विशेषतया ग्रेट ब्रिटेन में उपभोक्ताओं के स्टोर बहुत सफल हुए हैं और वहाँ यह लाखों की तादाद में खुल गये हैं। जर्मनी में भी उनकी काफी उन्नति हुई है। हाँ, अमेरिका में उनकी उन्नति अधिक नहीं हुई, शायद इसलिए कि वहाँ के फुटकर स्टोर स्वयं बहुत कार्यकुशल हैं और वहाँ के निवासियों की आय अधिक होने के कारण वे छोटी-मोटी बचत के प्रति उदासीन होते हैं। हमारे देश में ऐसे स्टोरों की उन्नति बहुत कम हुई है।

सन् १८४४ में जब राशडेल (इंगलैंड) के २८ जुलाहों ने २४ पौंड की पूंजी से सुविख्यात Rochdal Equitable Pioneers' Society स्थापित की, तब उपभोक्ताओं के सहकारी स्टोरों का आरम्भ हुआ। शुरू-शुरू में यह स्टोर केवल मक्खन, चीनी, गेहूँ और मोमबत्ती बेचता था; किन्तु धीरे-धीरे इसने अपना क्षेत्र बढ़ाया और फिर यह अपने सदस्यों की आवश्यकता की वस्तुतः प्रत्येक चीज बेचने लगा। अन्य स्थानों के उपभोक्ताओं ने इस उदाहरण की नकल की। दूसरे स्थानों पर भी स्टोर खुल गये। इससे फुटकर विक्रेताओं को हानि होने लगी और उन्होंने उत्पादकों पर यह दबाव डालना आरंभ कर दिया कि वे स्टोरों को ऊँचे मूल्य पर माल बेचें। किन्तु इससे स्टोरों को धक्का नहीं लगा; क्योंकि इसके उत्तर में उन्होंने थोक समितियाँ खोल लीं। थोक समिति के सदस्य स्टोर होते थे; और समिति का लाभ सदस्य-स्टोरों में उनकी खरीदारी के अनुपात में बाँट दिया जाता था। इसके बाद स्टोरों ने जूते, कपड़े, कागज, फर्नीचर और तेल आदि बनाने के लिए कारखाने भी खोल लिये। इस प्रकार उन्होंने थोक-विक्रेता और फुटकर-विक्रेता दोनों का ही लोप कर दिया; और उनको जाने वाला लाभ बचा लिया।

भारत में उपभोग सहकारिता

उपभोग सहकारिता ने इंगलैण्ड में तो बहुत उन्नति की है; किन्तु भारत में उसकी उन्नति अधिक नहीं हुई। उत्तर प्रदेश, बम्बई और मद्रास आदि में थोड़े से सहकारी स्टोर अवश्य खुले हैं। कालेज और होस्टल के सहकारी स्टोर उत्तर प्रदेश और बम्बई में काफी सफल हुए हैं और रेलवे स्टोरों का भी इतिहास उत्साहजनक रहा है। किन्तु इस आन्दोलन ने अभी बहुत कम उन्नति की है। प्रथम महायुद्ध के समय में जब वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ गये, तो ऐसे ही स्टोर खोले गये, किन्तु युद्ध के बाद जब मूल्य कम हो गये, तो बहुत से स्टोर बन्द हो गये। द्वितीय महायुद्ध के समय में सहकारी स्टोरों की संख्या कोई अधिक नहीं बढ़ी। किन्तु स्वतंत्रता मिल जाने के बाद कुछ राज्य सरकारों ने सहकारी स्टोर खोलने की नीति को बहुत प्रधानता दी है, जैसे उत्तर प्रदेश में; और अब ऐसे स्टोरों की संख्या बढ़ रही है। हमारे देश में ऐसे स्टोरों की संख्या ८,५०० है।

भारत में इन स्टोरों का वितरण (सन् १९४७–४८) में इस प्रकार था:—

मद्रास	..	..	१,७००
आसाम	..	..	१,०००
बम्बई	..	..	६००
मध्य प्रदेश	..	..	५००

ट्रावनकोर	..	..	४००
प० बंगाल	..	..	३००
उत्तर प्रदेश	..	..	२००
उड़ीसा	..	..	२००
मैसूर	..	..	२००
			५१,००

हमारे देश में स्टोरों की संख्या इतनी कम होने के कई कारण हैं: (१) जहाँ तक धनी व्यक्तियों का सम्बन्ध है, वे इन स्टोरों में दिलचस्पी नहीं लेते, क्योंकि उनके द्वारा जो छोटी-मोटी बचत होती है वे उसके प्रति उदासीन होते हैं। (२) मध्यवर्ग के सदस्य भी इनकी तरफ आकर्षित नहीं होते, क्योंकि शहरों के फुटकर स्टोर माल उधार देते हैं; खरीदार के घर पर माल भेज देते हैं और अन्य सुविधाएँ भी देते हैं जो सहकारी स्टोर नहीं देता; साथ ही दूकानदारों में इतनी स्पर्द्धा होती है कि थोक और फुटकर मूल्यों में अन्तर बहुत कम होता है। (३) इंगलैण्ड, में इस आन्दोलन ने निर्धन व्यक्तियों में, खासकर मजदूरों में, विशेष उन्नति की है। किन्तु हमारे देश में निर्धन व्यक्ति असंगठित हैं और वे दूकानदारों के ऋणी भी होते हैं जिसके कारण वे स्टोर नहीं चला पाते। यह भी सर्वविदित है कि भारतीय मजदूर शहरों में जमकर नहीं रहते हैं—वे खेती के अवसर पर गाँव वापस चले आते हैं—इसलिये मोटर की स्थायी स्कीम में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं होती। (४) इसके अतिरिक्त उपभोक्ता पर्याप्त पूँजी न होने के कारण भी स्टोर नहीं चला पाते। ऐसे स्टोर साधारणतया केन्द्रीय बैंकों से पूँजी प्राप्त करते हैं। किन्तु हमारे देश में केन्द्रीय बैंक बहुत थोड़े हैं। (५) हमारे यहाँ थोक समितियों का अभाव है जिसके कारण यदि उत्पादकों पर यह दबाव डाला जाता है कि वे स्टोरों से ऊँचा मूल्य वसूल करें, तो वे ऐसा करने पर राजी हो जाते हैं।

भारत में सबसे बड़ा सरकारी स्टोर मद्रास में है; इसका नाम मद्रास ट्रिप्लिकेन स्टोर (Madras Triplicane Store) है और यह सन् १९०४ में स्थापित हुआ था। कड़े निरीक्षण, सावधान प्रबन्ध और निर्दय किफायतशारी का ही परिणाम है कि यह स्टोर आज इतना सफल है। आजकल इसकी ५० शाखाएँ हैं और लगभग १२ लाख रुपये माल का लाभ इसे होता है। इसकी प्रदत्त पूँजी (Paid up Capital) १ लाख रुपये है और इसका संरक्षण शेष १½ लाख रुपये।

§ ६. बहु-प्रयोजनीय (Multi-purpose) सहकारी समितियाँ

सहकारिता-साहित्य में यह बात तर्क तथा अनुभव से सिद्ध कर दी गई है कि सहकारी समितियों द्वारा किसानों तथा शहरवालों दोनों का ही भला हो सकता है। पर इसमें इस बात पर मतभेद है कि हर प्रयोजन के लिए एक अलग समिति बनाई जाय या बहुत से प्रयोजनों के लिए एक समिति स्थापित की जाय। एक प्रयोजन के लिए स्थापित की गई समिति "एक-प्रयोजन समिति" (Single-purpose Society) कहलाती है और बहुत-से प्रयोजनों के लिए स्थापित की गई समिति "बहु-प्रयोजनीय समिति" (Multi- purpose Society) कहलाती है।

बहु-प्रयोजनीय समितियाँ क्यों ?

हाल में हमारे देश में बहु-प्रयोजनीय समितियों का बहुत समर्थन हुआ है और उनको

स्थापना भी हुई है। उत्तर प्रदेश में विशेषतया उनकी उन्नति हुई है। इस प्रकार की समिति का लाभदायक होना स्वाभाविक है :

(१) हमारे देश में सहकारिता ने मुख्यतया किसानों को ऋण देने का प्रयास किया है। लेकिन केवल ऋण की समस्या सुलझ जाने से ही किसान के सवाल हल नहीं हो जाते; चकबन्दी करना, उपज बेचना, हल आदि खरीदना इत्यादि प्रश्न भी उसके सामने आते हैं। यदि सहकारी समिति इन समस्याओं को भी हल करने लगे, तब किसान सहकारिता में अधिक दिलचस्पी लेगा।

(२) किसान के पास इतना समय और धन नहीं कि वह कई समितियों का सदस्य बन सके, उनके परिचालन में भाग ले सके और असीमित उत्तरदायित्व को झेल सके।

(३) गाँवों में इतने कुशल कार्यकर्ता नहीं मिलते कि कई समितियों को चलाया जा सके। ऐसी दशा में एक ही समिति चलाना ठीक होगा जो कई उद्देश्य पूरा करे।

क्या ऐसी समितियाँ सफल होंगी ?

ऐसी समितियों की सफलता में भी शंका की जाती है। यह कहा जाता है कि एक ही समिति में बहुत से कार्यों का हिसाब-किताब रखना शायद कठिन हो। फिर, यह पता चलना कठिन होगा कि किस दिशा में सफलता मिल रही है और किस दिशा में असफलता। तीसरे, सम्भवतः कुछ होशियार व्यक्ति ही समिति को अधिकार में कर लें और इस प्रकार सहकारिता का उद्देश्य ही न प्राप्त हो सके।

इन दोषों को दूर रखने के लिए सहकारी समिति के क्षेत्र को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए; और जब कुशलता में कमी आने लगे, तब उसका विस्तार रोक देना चाहिए। पर बहु-प्रयोजनीय सहकारिता का सिद्धान्त हमारे लिए कल्याणकारी प्रतीत होता है।

§ ७. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता : ग्रामीण साख के पुनर्सङ्गठन की संयुक्त योजना

यह समझाया जा चुका है कि ग्रामीण साख के पुनर्संगठन द्वारा खेती के उत्पादन में महान् वृद्धि की जा सकती है। दूसरी योजना में सहकारिता को पहली योजना की अपेक्षा अधिक महत्व का स्थान दिया गया है। पहली योजना में सहकारी विकास के लिए ७ करोड़ रुपये रक्खे गये थे, किन्तु अब यह राशि दूसरी योजना में ४७ करोड़ रुपये रक्खी गई है। पहली योजना में सहकारिता के लिए रक्खा गया धन कुल विनियोग का ३ प्रतिशत था किन्तु दूसरी योजना में यह १४ प्रतिशत हो गया है। नीति में परिवर्तन बहुत-कुछ "अखिल भारतीय ऋण अन्वेषण कमिटी" (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के अनुकूल हुआ है जो कि भारत सरकार ने मान ली है। इस कमिटी को रिजर्व बैंक ने नियुक्त किया था और इसकी रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में ग्रामीण साख की दुर्गम समस्या का तीक्ष्ण और व्यापक विश्लेपण किया गया है और इसने एक ऐसी स्कीम दी है जो कि इस समस्या को सफल कर सकेगी। दूसरी पंचवर्षीय योजना ने इस संयुक्त स्कीम को रचनात्मक स्वरूप दिया है और इस दिशा में स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित किया है। सहकारी ढाँचे एवं संगठन के विकास में इसने रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार का सक्रिय सहयोग स्थापित कराया है।

ग्रामीण साख के पुनर्संगठन के आधार-सिद्धांत : संयुक्त योजना

ग्रामीण साख के अन्वेषण ने यह बात सिद्ध कर दी कि सहकारी आन्दोलन की इतनी

उन्नति होने पर भी सहकारी समितियाँ किसानों को उनके ऋण का केवल ३ प्रतिशत भाग ही दे पाती हैं। सरकार भी उनको उतनी ही मात्रा का ऋण देती है। अतः आजकल व्यक्तिगत स्रोतों से सहकारों, व्यापारियों, आदि से ही किसानों को अपनी अधिकांश साख सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं। साहूकारों और व्यापारियों से मिलने वाले ऋण न तो सस्ते होते हैं और न उत्पादक ही। उत्पादन बढ़ाने के लिए और छोटे किसानों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए सहकारी संस्थाओं का कार्यक्षेत्र बढ़ानेके अतिरिक्त कोई उचित उपाय प्रतीत नहीं होता है।

इस दृष्टिकोण से कमिटी ने ग्रामीण साख की एक संयुक्त योजना सामने रक्खी जिसका केन्द्रीय आधार था ग्रामीण ऋण तथा विपणन (Marketing) एवं निर्माण (process) में सामन्जस्य स्थापित करना; क्योंकि ये दोनों काम गाँवों में बहुत महत्व रखते हैं। इसने इस बात का भी व्यवधान किया है कि विभिन्न स्तरों पर सहकारी आन्दोलन में सरकार का साझा हो तथा सहकारी समितियों को चलाने के लिए अफसरों को शिक्षा दी जाय और कुशल कर्मचारी तैयार किये जायें।

मोटे तौर पर ग्रामीण साख पुनर्संगठन की संयुक्त योजना में निम्नलिखित कार्यक्रम है: (क) सहकारी साख, (ख) सहकारी विपणन, (ग) सहकारी निर्माण, (घ) कृषि की पैदावार के लिए गोदामों का निर्माण और संग्रह (Storage), (ङ) सहकारी शिक्षण।

(क) ग्रामीण सहकारी साख का पुनर्संगठन

वर्तमान अवस्था—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हर राज्य में सहकारी साख के ढाँचे के तीन स्तर हैं—ऊँचा, मध्यम तथा प्रारम्भिक। सबसे ऊपर राज्य के सहकारी बैंक होते हैं जो कि राज्य के समस्त सहकारी वित्त-सम्बन्धी यंत्र संतुलन के केन्द्र होते हैं। मध्यम स्तर पर केन्द्र या जिला सहकारी बैंक काम करते हैं। वे रुपये जमा करते हैं तथा राज्य सहकारी बैंक (और उसके द्वारा रिजर्व बैंक) से ऋण लेते हैं, और प्रारम्भिक साख समितियों को रुपये उधार देते हैं। प्रारम्भिक साख समितियाँ गाँवों में कार्य करती हैं, और किसान इन्हीं समितियों से अल्पकालीन तथा मध्यम साख प्राप्त करते हैं। जहाँ तक दीर्घकालीन साख का सम्बन्ध है, किसान उसे भूमि-बन्धक बैंकों से, यदि वे उसके क्षेत्र में स्थापित हों तब, प्राप्त करते हैं। वास्तव में होना यह चाहिये कि हर राज्य में "राज्य सहकारी भूमि-बन्धक बैंक "होना चाहिये और उसे "प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंकों" की सहायता करनी चाहिये जिससे कि वे किसानों को आवश्यकतानुसार साख दे सकें।

सहकारी साख में सरकारी भाग—इन क्षेत्रों में सरकार ने सुडौल, कुशल और सबल साख संगठन स्थापित करने का आयोजन किया है। (अ) इस दृष्टिकोण से राज्य सहकारी बैंक, राज्य भूमि-बन्धक बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंक एवंसाख समितियों को धन की सहायता दी जायगा और इसी प्रकार सरकार इस आयोजन के कार्यान्वित होने में भाग लेगा। इससे सहकारी आन्दोलन और वित्त की मात्रा में वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए, केंद्रीय सहकारी बैंकों के पास सन् १९५३–५४ में १० करोड़ रुपये का वित्त था जो सन् १९६०–६१ में बढ़कर ३० करोड़ रुपये हो जायगा। राज्य सहकारी बैंकों का वित्त भी ५ करोड़ रुपये से बढ़कर १३ करोड़ रुपये हो जायगा। इस प्रकार सहकारी संगठन की साख सम्बन्धी शक्ति में वृद्धि हो जायगी। (अ) राज्य के इस प्रकार की साझेदारी से सहकारी आन्दोलन का न केवल वित्त-सम्बन्धी बल बढ़ेगा प्रत्युत इससे मध्यम और छोटे किसानों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो सकेगा, जिस दिशा में अब तक कोई ध्यान

नहीं दिया जा सका था; और यह भी आश्वासन हो सकेगा कि दिया हुआ ऋण उत्पादक दिशाओं में लगाया गया है। सरकार सहकारी संस्थाओं के प्रबन्ध-बोर्डों पर अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेगी जिससे कि उपेक्षित किसानों की आवश्यकता पूर्ति पर अधिक ध्यान दिया जा सके और उत्पत्ति की वृद्धि हो सके। इसके अतिरिक्त सरकार इन समितियों की सहायता नियन्त्रण आदि में भी आवश्यकतानुसार सहयोग दे सकेगी।

बड़े पैमाने की प्रारम्भिक समितियाँ—ग्रामीण सहकारी संगठन की सबसे कमजोर कड़ी प्रारम्भिक समिति है जो साधारणतया अकुशल और निरर्थक होती है "ग्रामीण साख अन्वेषक कमिटी" ने बताया कि भविष्य में प्रारम्भिक साख समितियाँ बड़े पैमाने पर और सीमित उत्तरदायित्व के आधार पर स्थापित की जानी चाहिये जिससे कि उनके पास काफी काम हो और वे वेतन देकर पूरे समय के लिए एक मन्त्री रख सकें। यह सुझाव स्वीकृत किया जा चुका है और अब हर समिति की प्रदत्त पूंजी १५ हजार रुपये से लेकर २० हजार रुपये तक होगी जिसमें से १० हजार रुपये सरकार देगी। इससे आशा है कि समिति अधिक ऋण दे सकेगी और यह अपने सदस्यों को खेती तथा गृहस्थी के सामान जैसे बीज, खाद, और मिट्टी का तेल दे सकेगी। आरम्भ में पूरे समय के मन्त्री के वेतन का एक भाग सरकार से मिलेगा।

गोदामों का निर्माण—बड़ी प्रारम्भिक समितियों को अपने गोदाम बनवाने के लिए भी प्रोत्साहन दिया जायगा और इसके लिये सहायता प्रदान की जायगी। द्वितीय योजना में इस प्रकार की १०,४०० समितियाँ बनाने की व्यवस्था की गई है जिनमें से ४,००० समितियाँ स्वयं अपने गोदाम बनवायेंगी। इन गोदामों में सदस्यों को बेचने के लिये खरीदा जानेवाला सामान सुरक्षित रह सकेगा, तथा बिक्री के लिए एकत्रित की गई उनकी उपज भी उचित प्रकार से रक्खी जा सकेगी। सरकार ऐसे गोदामों को बनवाने के लिए १०,००० रुपये प्रति समिति देगी जिनमें से ७५ प्रतिशत ऋण होगा और शेष २५ प्रतिशत सहायता के रूप में दिया जायगा।

छोटी प्रारम्भिक समितियाँ—ये बड़ी समितियाँ ग्रामीण बैंकों की भाँति काम करेंगी। छोटी समितियों को मिलाकर बड़ी समितियाँ स्थापित करने का प्रयास किया जायगा; और कुछ अन्य छोटी समितियों में नया जीवन फूंकने का प्रयत्न होगा। वास्तव में उन क्षेत्रों में जहाँ आबादी छितरी है और जहाँ यातायात के साधन नहीं पहुँच पाते, कदाचित् छोटी समितियाँ बनाने का ही आयोजन करना पड़े।

प्रारम्भिक समितियों की साख-सम्बन्धी नीति—छोटी और बड़ी समस्त प्रारम्भिक समितियों की ऋण-सम्बन्धी नीति में कल्याणकारी परिवर्तन होगा। अल्पकालीन ऋण उत्पादन के लिए दिये जायेंगे और उनका आधार खड़ी हुई फसलें होंगी नकि ऋणी की भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति, जैसा कि अभी तक होता आया है। ऋणी को यह भी वचन देना होगा कि वह अपनी उपज का निकटतम मन्डी में स्थित उसी सहकारी विपणन समिति के द्वारा विपणन करेगा जिसके साथ उसकी प्रारम्भिक समिति सम्बद्ध (Affiliated) है; और ऋण बिक्री के रुपये में से वसूल किया जा सकता है। यह बताया जा चुका है कि प्रारम्भिक समितियों को दिये जाने वाले मध्य-कालीन ऋण और भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा दिये जानेवाले दीर्घ-कालीन ऋण के साथ भी यह शर्त होगी कि उसका उपयोग उत्पादन और खेती की उन्नति के लिए किया जायगा।

(ख) सहकारी विपणन (Co-operative Marketing)

आयोजन का सबसे केन्द्रीय और महत्वपूर्ण लक्ष्य यह है कि यह साख और विपणन

में गठबन्धन कर देता है। इस आयोजन के अनुसार देश की महत्वपूर्ण मन्दियों में १ ,८०० प्रारम्भिक सहकारी विपणन समितियाँ स्थापित होंगी। हर विपणन समिति के पास पर्याप्त प्रदत्त पूँजी होगी जिसमें से २५ हजार रुपये की पूंजी सरकार देगी। प्रत्येक के पास अपने गोदाम भी होंगे। किसान अपनी फसल इस गोदाम में सुरक्षित प्रकार से रख सकेगा और आवश्यक होने पर उसके आधार (Security) पर ऋण भी ले सकेगा। वह इस फसल को या तो स्वयं ही या समिति के द्वारा उस समय बेच सकेगा जब कि उसको सर्वोत्तम मूल्य प्राप्त हो। समिति किसानों को बीज, खाद और औजार आदि देने के लिए माल एकत्रित करने तथा उसका वितरण करने का भी काम करेगी।

प्रारम्भिक विपणन समितियों के कामों में सामन्जस्य स्थापित करने के लिए, उनका विकास करने के लिये और अन्तर्राज्य व्यापार प्रोत्साहित करने के लिए हर राज्य में एक ऊँची विपणन समिति होगी जिसकी साझीदार सरकार होगी।

(ग) सहकारी निर्माण (Processing)

संयुक्त आयोजन का सहकारी निर्माण एक आवश्यक भाग होगा। आजकल खेती के उत्पादन का निर्माण (Processing) लगभग पूर्णतया व्यापारियों के साथ में है। चीनी बनाने, रुई धुनने, तिलहन से तेल निकालने का काम इस प्रकार के निर्माणके उदहरण हैं। खेती की उपज के इस प्रकार के निर्माण का अधिकाधिक संगठन अब सहकारी आधार पर किया जायगा। इस काम के लिए अलग सहकारी निर्माणशालाएँ स्थापित की जायेंगी; और जहाँ उनकी स्थापना नहीं हो सकेगी वहाँ विपणन समितियों को यह काम सौंप दिया जायगा। इस दिशा में जो काम हुआ है उनका एक उदाहरण यह है कि ईख उत्पन्न करनेवालों ने सरकार तथा औद्योगिक वित्त मण्डल (Industrial Finance Corporation) की धन सम्बन्धी सहायता से सहकारी चीनी की मिलें स्थापित की हैं। द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष तक इस प्रकार की ३५ सहकारी मिलें स्थापित हो चुकेंगी। सहकारी आधार पर रुई धुनने की मिलें आदि भी बड़ी संख्या में स्थापित हो रहीं हैं।

(घ) संग्रह तथा मालगोदाम (Storage & Warehousing)

साख, विपणन एवं निर्माण की उन्नति के कार्यक्रम से सम्बन्धित माल गोदाम तथा संग्रह सुविधाएँ प्रदान करने का कार्यक्रम भी सम्बन्धित है। "ग्रामीण साख अन्वेषण रिपोर्ट" ने सिफारिश की थी कि देश में "राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा मालगोदाम बोर्ड" (National Co-operative Development & Warehousing Board स्थापित होने चाहिये जो कि देश में मालगोदाम स्थापित करने में सहायक हों। सरकार ने (Agricultural Produce Development & Warehousing Corporation Act) बनाकर द्वितीय योजना में यह व्यवधान किया है कि केन्द्रीय मालगोदाम कार्पोरेशन १०० मालगोदाम बनायेगी और राज्य मालगोदाम कार्पोरेशन २५० मालगोदाम बनायेगी। ये मालगोदाम तथा सहकारी प्रारम्भिक समितियों के बने गोदाम जो सारे देश में फैले होंगे, मालगोदाम से रसीद के आधार पर व्यापारिक साख देने की प्रथा के विकास में सहायक होंगे।

(ङ) सहकारी शिक्षण

साख, विपणन, निर्माण तथा संग्रह के पुनर्संगठन के ऐसे संयुक्त तथा महान कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए उपयुक्त शिक्षण-प्राप्त विशिष्ट व्यक्तियों की आवश्यकता होगी।

उसको पूरा करने के लिए द्वितीय योजना के अन्तर्गत देश भर में कई शिक्षण-केन्द्र खोले जायेंगे जो कि उच्चतर, मध्यम, तथा निम्न स्तरों के कर्मचारी तैयार करेंगे। स्मरण रहे कि सहकारी विकास में सबसे बड़ी बाधा धन की नहीं है प्रत्युत योग्य एवं विशिष्ट व्यक्तियों की है। शिक्षण का अधिकांश व्यय रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार अपने ऊपर लेगी।

दूसरी योजना में सहकारी विकास और सामन्जस्य

लक्ष्य—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि ग्रामीण सहकारिता ने दूसरी योजना के अन्तर्गत एक अन्य दिशा ग्रहण की है। इस योजना के अन्तर्गत सहकारी विकास की सीमा में ऊँचा लक्ष्य स्थिर किया गया है। सदस्यता ५० लाख से बढ़ाकर १५० लाख रुपये कर दी जायगी; अल्पकाल के वित्त की मात्रा ३० करोड़ से बढ़ाकर १५० करोड़ रुपये होगी और मध्यकालीन ऋण ३ करोड़ रुपये से बढ़ाकर २५ करोड़ रुपये हो जायगा। यह लक्ष्य बहुत ऊँचा है और उत्साहपूर्ण तथा लगन के साथ प्रयास करने पर ही पूरा किया जा सकता है।

रिजर्व बैंक का काम—ग्रामीण साख के पुनर्संगठन में रिजर्व बैंक साख से सहायता कर रहा है और व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करने में भी सहायक हो रहा है। रिजर्व बैंक ने "राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यशीलता) कोष" स्थापित किया है। इसमें से राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण दिये जायेंगे जिससे कि वे सहकारी साख संस्थाओं को पूंजी प्रदान कर सकें और इसके लिए २५ करोड़ रुपये रक्खे गये हैं। रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को भी उदारता के साथ ऋण देगा जिससे कि ये ग्रामीण साख सम्बन्धी कामों को आगे बढ़ा सकें। केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित डिबैंचर(Debenture) भी यह खरीदेगा। रिजर्व बैंक की सहायता का उद्देश्य यह होगा कि एक सुदृढ़ और आत्म-विश्वासी सहकारी साख का ढांचा खड़ा हो जाय जो कि व्यक्तिगत ऋण संस्थाओं की स्पर्धा कर सके और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के उदय में सहायक हो सके।

केन्द्रीय सरकार का काम—विपणन, निर्माण तथा गोदाम सम्बन्धी उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार के खाद्य एवं कृषि मन्त्रित्व को सौंप दिया गया है। इसने एक "राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा गोदाम बोर्ड" स्थापित किया है। ऐसे गोदामों ने दो कोष कायम किये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं: "राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष" और "राष्ट्रीय गोदाम विकास कोष"। इनके निर्माण से राज्य सरकारों को सहकारी विपणन, निर्माण गोदाम के सम्बन्ध में सहायक होने के लिए धन दिया जायगा। दूसरी योजना में सहकारी विकास के लिए ४७ करोड़ रुपये का आयोजन किया गया है जिनमें से २५ करोड़ रुपये राज्य सरकारों को ऋण की सहायता के रूप में केन्द्रीय सरकार से मिलेंगे।

सारांश

भारत में सहकारिता आन्दोलन सन् १९०४ से आरम्भ हुआ। सहकारी समितियां प्रारम्भिक या केंद्रीय, ग्रामीण या शहरी, साख या गैर-साख होती हैं। इनका विस्तृत अध्ययन वांछनीय है। भारत में सहकारिता आन्दोलन से बहुत लाभ हुए हैं। सहकारिता खेती को सहकारी खेती, सहकारी विपणन तथा भूमिबंधक बैंक द्वारा बहुत लाभ पहुँच सकती है। भारत में उपभोग सहकारिता की अधिक उन्नति नहीं हुई है। बहुप्रयोजनीय समितियों ने, जिनके बहुत लाभ हैं, भी उन्नति की है। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ग्रामीण साख के पुनर्संगठन की संयुक्त योजना बनाई गई है जो कार्यान्वित हो रही है

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकन्डरी

1. How has the co-operative movement helped the Indian Former ? What are the shortcomings of the movement ? (1958).

2. Attempt a brief essay on the co-operative credit societies of India. (1958).

3. What are the different types of co-operative societies in the country ? In what direction is it desirable to develop the co-operative movement in order to achieve rapid development of agriculture ? (1254).

पंजाब, इन्टर

4. Write a short note on multipurpose co-operative Societies (1957).

5. "Co-operation has failed, but co-operation must succeed", with reference to India, State why it has failed and how it can succeed ? (1956).

6. Write a note on co-operative farming. (1955).

7. Write a note on multipurpose co-operative societies. (1954).

जम्मू–काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

8. What do you understand by co-operative farming ? How would you proceed to introduce it in the State of Jammu and Kashmir ? (1953).

9. The organisation of co-operative marketing is fundamental to the economic prosperity of our peasantry. Comment. (1952).

10. Describe the work of the co-operative agencies that exist in your area. Give your estimate of their usefulness. (1951)

11. Write a note on co-operative stores. (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

12. Analyse the causes of the slow growth of the co-operative credit movement in this country. Offer suggestions for improvement. (1958).

13. Describe the working of a village co-operative Credit Society. (1957).

14. Describe the progress and achievements of consumer's co-operation in India. Discuss the advantages and indicate its future prospects in the country. (1956).

15. Describe the objects of the co-operative credit societies in India. How far these objects have been realised ? (1955).

पटना, इन्टर आर्ट्स

16. Explain the factors responsible for the slow progress of the co-operative movement in India. How would the multipurpose co-operative societies help our agriculturists ? (1958).

17. Write a note on Multipurpose co-operation. (1956).

18. Discuss the importance of the co-operative movement for building our agricultural life. What various types of co-operative institutions would you recommend for the purpose. (1954).

बिहार इन्टर आर्ट्स

19. Discuss the merits and defects of co-operative movement in India. (1958).

20. Write a note on Multi-purpos-co-operative Society. (1958).

21. What is meant by a multipurpose co-operative Society? Would you prefer this type of Society to an ordinary Credit Society ?

22. Describe the organisation and functions of a primary agricultural co-operative Credit Society. (1956, supple,.

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

23. Examine the weak points of the Co-operative Movement in India. What reforms do you consider necessary ? (1952).

24. Indicate the different ways in which the co-operative movement has benefitted agriculturists, artisans and persons of limited means ? (1951).

अध्याय १८

भारतीय चलन-प्रणाली

§ १ भारतीय चलन-प्रणाली में रुपये का स्थान

भारत का सबसे प्रधान द्रव्य रुपया है। सब वस्तुओं का मूल्य रुपयों में आँका जाता और व्यक्त किया जाता है। अतः रुपया हमारे देश में विनियम का प्रधान माध्यम है। इसके सहायक सिक्के आने और पाई हैं। यह प्रामाणिक (standard) द्रव्य का कार्य सम्पन्न करता है।

रुपया, सांकेतिक प्रमाण

रुपये में प्रामाणिक सिक्कों के कुछ गुण विद्यमान हैं। पहले, यह देश का प्रधान द्रव्य है। दूसरे, यह असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) है। किन्तु इसमें सांकेतिक द्रव्य के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं : (अ) इसका नियत अर्घ (face value) इसके वास्तविक अर्घ (intrinsic value) से अधिक है; (आ) इसकी स्वतंत्र ढलाई नहीं होती, अर्थात् जनता को यह अधिकार नहीं कि वह चाँदी लेकर टकसाल में सिक्के ढलवाये। इसमें प्रामाणिक सिक्के तथा सांकेतिक सिक्के, दोनों लक्षण विद्यमान होने के कारण इसे "सांकेतिक प्रमाण" (Token Standard) कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि ढलाई और बनावट में तो यह सांकेतिक सिक्के की भाँति है, पर यह काम प्रामाणिक सिक्के का करता है।

रुपये के सिक्के और नोट

रुपया चाँदी का बना सिक्का होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय में रुपये की आवश्यकता बहुत बढ़ गई; और चाँदी की कमी होने के कारण सरकार इतने सिक्के न बना सकी। इसलिए सरकार को १) के कागज के नोट चालू करने पड़े। ये नोट भारत सरकार चालू करती है; और उनका वही स्थान और दर्जा है जो सिक्कों का है। अतः आजकल रुपया धातु का बना सिक्का है और कागज पर बना नोट भी है। पहले महायुद्ध में भी ऐसा ही करना पड़ा था, पर युद्ध के बाद रुपये के नोट चलन से हटा दिये गये थ। द्वितीय महायुद्ध सन् १९४५ में समाप्त हो चुका है; पर अभी तक एक रुपये के नोट चलन से हटाये नहीं गये हैं।

क्या रुपये का सिक्का चलन से पूर्णतया हटाया जा सकता है?—हमारे देश में रुपये के नोट काफी चालू हैं। नोट का छापना सिक्के ढालने से सस्ता पड़ता है। अतः यदि सरकार रुपये के सिक्के चलन से हटा ले और केवल नोट ही चालू रक्खे, तो इसमें क्या हानि है? इसमें एक ही बात का भय है। सिक्के हटा लेने से सम्भव है जनता का विश्वास चलन-प्रणाली से उठ जाय। जनता के अधिकांश व्यक्ति पढ़े-लिखे और समझदार नहीं होते; और वे चाँदी के सिक्के पर विश्वास करते हैं, कागज के नोट पर नहीं। यदि जनता का विश्वास चलन-प्रणाली से हट गया, और उसने रुपये के नोट स्वीकार करना बन्द कर दिया, तो सारी चलन-प्रणाली निश्चेष्ट हो जायगी। चलन-प्रणाली जनता के विश्वास पर चलती है; और इस विश्वास को बनाये रखने के लिए चाँदी के रुपयों को चालू रखना आवश्यक है।

रुपये का अर्घ

रुपये का अर्घ आभ्यंतरिक या भीतरी (internal of inland) होता है, तथा वाह्य या बाहरी (external of foreign) भी होता है। रुपये का आभ्यंतरिक अर्घ इस बात से जाना जाता है कि उसके बदले में कितनी वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। सन् १९३९ के मुकाबले रुपये का आभ्यंतरिक अर्घ लगभग ¼ रह गया है (क्योंकि वस्तुओं के मूल्य चौगुने हो गये हैं)। आभ्यंतरिक अर्घ द्रव्य की मात्रा तथा वस्तुओं की मात्रा पर निर्भर होता है। रुपये का वाह्य अर्घ (external value) भारत सरकार (अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष या I.M.F. की स्वीकृति के अनुसार) निर्धारित करती है, और इस वाह्य अर्घ को बनाये रखने का भार रिजर्व बैंक आव इंडिया पर होता है। भारत सरकार ने एक रुपये का बाहरी अर्घ १ शि० ६ पें० के बराबर रक्खा है; और रिजर्व बैंक इस विनिमय दर को बनाये रखता है।

§ २ भारतीय चलन-प्रणाली के अंग

चलन अधिनायक (Currency Authority)

भारत में चलन-प्रणाली के दो अधिनायक हैं: (१) भारत सरकार, तथा (२) रिजर्व बैंक आव इंडिया। भारत सरकार धातु का द्रव्य या चलन (metallic currency) बनाती है, और रिजर्व बैंक कागजी द्रव्य या चलन (paper currency) निर्गमित करता है। रिजर्व बैंक के अतिरिक्त और कोई संस्था कागजी द्रव्य नहीं बना सकती। अतः चलन अधिनायकों के अनुसार, भारत की आभ्यंतरिक चलन या द्रव्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (अ) धातु का चलन या धात्विक द्रव्य और (आ) कागजी चलन या द्रव्य।

(अ) धातु का चलन (Metallic Currency)

देश में धातु का चलन प्रामाणिक तथा सांकेतिक सिक्कों का होता है। हमारे देश में रुपया द्रव्य का प्रधान स्वरूप है। यह बनावट और ढलाई में सांकेतिक सिक्के की तरह है, पर काम प्रामाणिक सिक्के का करता है, इसलिए इसे "प्रामाणिक संकेत" कहा जाता है। सांकेतिक सिक्कों में छोटे सिक्के आते हैं। इनमें चाँदी की अठन्नियाँ असीमित कानूनी ग्राह्य हैं, किन्तु वे प्रामाणिक द्रव्य में शामिल नहीं होतीं। चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी चाँदी या काँसे की बनी होती हैं और ये सीमित कानूनी ग्राह्य हैं। अधन्ना, पैसा और पाई अन्य सांकेतिक सिक्के हैं।

एक रुपये का नोट—जैसा ऊपर बताया जा चुका है, भारत सरकार ने द्वितीय महायुद्ध के समय में चाँदी की कमी होने के कारण एक रुपये के नोट बनाये। ये एक रुपये के नोट चाँदी के रुपये के सिक्कों की ही भाँति हैं। इन्हें भारत सरकार निर्गमित करती है, इनके पीछे कोई रिजर्व नहीं रक्खा जाता और न सरकार इनके बदले में चाँदी के रुपये देने की ही प्रतिज्ञा करती है।

दशमलव प्रथा का प्रारम्भ—भारत सरकार ने अब मुद्रा की दशमलव प्रथा (Decimal System) को अपना लिया है। ७ मई, १९५५, को लोकसभा में एक बिल (Indian Coinage Amendment Bill) उपस्थित किया गया जिसके अनुसार रुपये का विभाजन १६ आनों में न होकर १०० नये पैसों में किया गया है। अठन्नी ५० नये पैसों का सिक्का मानी जाने लगी है; और चवन्नी २५ नये पैसों का सिक्का हो गई है।

कुछ काल तक आजकल के सिक्के भी जारी रहेंगे पर बाद में वे समाप्त कर दिये जायँगे। इस प्रथा के अपनाने के दो कारण हैं : (१) हिसाब लगाने में आसानी और शीघ्रता हो जायगी, तथा (२) संसार के अधिकांश देशों में यही प्रथा लागू है।

(आ) कागजी चलन या द्रव्य

आजकल हमारे देश में रिजर्व बैंक निम्न राशियों के नोट निर्गमित करता है : २), ५), १०), १००), १,०००), ५,०००) और १०,०००) के। कुछ नोटों पर विशेष विवेचना आवश्यक है :

(अ) दो रुपये के नोट—इनका निर्गम (issue) युद्ध काल में आरम्भ हुआ और अब भी जारी है।

(आ) बड़े नोट—१,००० रु०, ५,००० रु० तथा १०,००० रु० के नोट आजकल जारी हैं। १ जनवरी, १९४६, से ५०० रु०, १००० रु० तथा १०,००० रु० के नोटों को अद्रव्यीकरण (demonetisation) कर दिया गया था अर्थात् वे कानूनी ग्राह्य नहीं रहे। किन्तु सन् १९५४ में १,००० रु० ५,००० रु० और १०,००० रु० के नोटों का निर्गम आरम्भ कर दिया गया। नये नोट पुरानों से बिल्कुल भिन्न हैं। अन्तर इतना है कि पहले ५०० रु० के नोट चालू थे, पर अब इनके स्थान पर ५,००० रु० के नोट चले हैं।

(इ) एक रुपये के नोट—जैसा कि बताया जा चुका है, इन नोटों को भारत सरकार निर्गम करती है और इन्हें एक रुपये के सिक्कों की भाँति माना जाता है। कानून की दृष्टि से ये "कागज पर छपे सिक्के" हैं, नोट नहीं हैं।

स्वर्णमान रिजर्व और कागजी-द्रव्य रिजर्व

सन् १९३५ के पहले कागजी द्रव्य भी भारत सरकार ही निर्गमित किया करती थी। उस समय कागजी नोटों के पीछे एक रिजर्व (सोने, चाँदी, सिक्के और सिक्योरिटियों का) रक्खा जाता था जिसे "कागजी द्रव्य रिजर्व" (Paper Currency Reserve) कहते थे। इसी प्रकार धातु के सिक्के बनाने में लाभ होता था, क्योंकि हमारे समस्त धातु के सिक्के सांकेतिक हैं; यह लाभ "स्वर्णमान रिजर्व" (Gold Standard Reserve) के रूप में एकत्रित होता रहता था। कागजी चलन का रिजर्व और स्वर्णमान का रिजर्व सोने और चाँदी के भागों में विभाजित थे। सोनेवाला भाग लंदन में सेक्रेटरी आव स्टेट के पास रहता था; और चाँदी वाला भाग भारत सरकार के पास। इस रिजर्व को रुपये का विनिमय-अनुपात (exchange ratio) १ शि० ६ पें०, के बराबर रखने के काम में लाया जाता है। किन्तु रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने के पश्चात् ये दोनों रिजर्व मिला दिये गये और सारा सोना रिजर्व बैंक को दे दिया गया।

§ ३. भारतीय कागजी चलन

अब हम भारत में कागजी चलन की प्रणाली का संक्षिप्त ब्योरा देते हैं। कागजी नोट छापना आसान है, पर कागजी नोट के बदले में कोई भी व्यक्ति रुपया माँगने का अधिकारी होता है। इसलिये नोट निर्गम करनेवाली संस्था नोटों के नियत अर्घ (face-value) का एक भाग सोने, सिक्कों आदि के रूप में रिजर्व बनाकर रखती है जिससे कि यह ज़िम्मेदारी पूरी की जा सके। अतः यह जानना आवश्यक है कि आजकल नोटों के निर्गम की क्या प्रणाली है। पर इसके पहले रिजर्व बैंक के बनाने के पूर्व की प्रणालियों को जान लेना चाहिये।

नोट निर्गम करने की पुरानी प्रणालियाँ

सन् १८६१ के पूर्व—सन् १८६१ के पहले करेंसी नोट मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी बैंक निर्गमित (issue) किया करते थे। निर्गम किये जा सकने वाले नोटों की अधिकतम सीमा निश्चित थी, और ३३% का एक धातु का रिजर्व (metellic reserve) रक्खा जाता था।

सन् १८६१–१९३५ : सरकार द्वारा निर्गम—किन्तु सन् १८६१ में सरकार ने कागजी चलन के निर्गम का अधिकार स्वयं ले लिया। ४ करोड़ तक के नोट सिक्योरिटी रखकर निर्गमित किये जा सकते थे; किन्तु उसके बाद १०% का धातु का रिजर्व रखना पड़ता था। सन् १८९३ में सिक्योरिटी रखकर निर्गमित किये जा सकने वाले नोटों की अधिकतम मात्रा बढ़ कर १४ करोड़ रुपये कर दी गई और सन् १९१४ में यह सीमा २० करोड़ रुपये तक बढ़ा दी गई। प्रथम महायुद्ध के समय में एक रुपये और ढाई रुपये के नोट बिना किसी धातु का रिजर्व रखे निर्गमित किये गये और उपरोक्त सीमा बढ़ाकर १२० करोड़ रुपये कर दी गई।

बेबिंगटन-स्मिथ कमिटी (Babington Smith Committee) ने यह सिफारिश की कि सब नोटों के पीछे ४०% का रिजर्व होना चाहिये, और सिक्योरिटी रखकर निर्गमित होने वाले नोटों की मात्रा १३० करोड़ रुपये से अधिक नहीं होनी चाहिये। उन्होंने यह भी सुझाव रक्खा कि जिस समय व्यापार बहुत बढ़ जाय, उस समय निर्यात-सम्बन्धी बिल आव एक्सचेंज रखकर नोट निर्गमित कर देने चाहिए। भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया; उन्होंने केवल इतना ही सुधार किया कि धातु का रिजर्व बजाय ४०% के ५०% कर दिया।

निर्गम की दूसरी रीति (१९३५ के आगे) : रिजर्व बैंक द्वारा निर्गम

रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर भारतीय कागजी चलन के इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार नोट निर्गमित करने के कार्य को रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग (Issue Department) को सौंप दिया गया। निर्गम-विभाग बैंकिंग विभाग से बिल्कुल अलग है और इसका उत्तरदायित्व केवल निर्गमित होने वाले नोटों तक सीमित है। निर्गम विभाग की सम्पत्ति और लेनदारी (Assets) निर्गमित नोटों की कुल मात्रा के बराबर होनी चाहिए।

आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System), १९३५-१९५५—निर्गमित नोटों के पीछे जो संपत्ति और लेनदारी सन् १९५५ तक रक्खी जाती थी उसका विवरण नीचे दिया जाता है :[1]

(१) संपत्ति (Assets) की कुल रकम का कम से कम ४०% सोने के सिक्के, सोने की धातु या स्टर्लिंग सिक्योरिटी के रूप में होना आवश्यक था (किन्तु प्रतिबन्ध यह था कि सोने के सिक्के और सोने की धातु का मूल्य किसी भी समय ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होगा)।

(२) शेष संपत्ति रुपये के सिक्के, भारत सरकार की रुपये वाली सिक्योरिटी और कुछ नियमित प्रकार के बिलों और प्रामिसरी नोटों के रूप में होती थी।

व्यवहार में रिजर्व बैंक ४०% से अधिक का सोने (और स्टर्लिंग) का रिजर्व रखता था। यह रिजर्व सन् १९३९ में ५४% और सन् १९४५ में ९४% था।

---

१. Reserve Bank of India Act 1934, Sec. 33

नोट निर्गम की यह रीति सुरक्षित और लोचदार थी। इसका सबसे प्रधान लक्षण आनुपातिक रिजर्व प्रणाली (Proportional Reserve System) था—समस्त नोटों के पीछे ४०% का सोने का रिज़र्व रक्खा जाता था। यह ४०% का रिजर्व ऐसा नहीं था कि यह कम किया ही न जा सके। यदि रिजर्व बैंक को अधिक चलन निर्गमित करना आवश्यक प्रतीत होता किन्तु इसके पास ४०% रिजर्व रखने के साधन न होते, तो यह कर देकर घटाया भी जा सकता था।[1]

स्थिर कोष प्रणाली (Fixed Reserve system), १९५६ के आगे—लोक सभा ने १९ जुलाई सन् १९५६ को एक सुधारक कानून पास किया जिसके अनुसार नोटों के पीछे सोने, धातु तथा स्टर्लिंग सीक्योरिटियों का ४० प्रतिशत रिजर्व रखना आवश्यक नहीं रहा। अब यह व्यवधान किया गया है कि रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग में २५० करोड़ रुपये की विदेशी सीक्योरिटियाँ तथा ११५ करोड़ रुपये का सोना कम-से-कम रहना आवश्यक हो गया है। यह नयी प्रणाली भारत की वर्तमान आर्थिक अवस्था के अनुकूल है। पुराना व्यवधान, जिसके अनुसार नोटों का निर्गम विदेशी विनिमय के रिजर्व के साथ-साथ बंधा हुआ था; (रिजर्व बैंक) के देश की चलन सम्बन्धी बढ़ती हुई आवश्यकता के अनुसार नोट निर्गमित करने में बाधक होता था। देश में सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्रों में विकास के ऊँचे लक्ष्य प्राप्त करने के लिये जो व्यय हो रहा है, उसके कारण देश की चलन सम्बन्धी आवश्यकता गति से बढ़ रही है; और हीनार्थ धन (Deficit financing) का भी परिणाम इसी प्रकार का है। इसके कारण नये नोटों की आवश्यकता बढ़ जाती है और विदेशी विनिमय की मात्रा घट जाती है। इन दिशाओं में पुराना व्यवधान रिजर्व बैंक को दूसरी योजना की आवश्यकता के अनुसार नोट निर्गमित करने में असमर्थ कर देता है। इसके अतिरिक्त, विदेशी विनिमय के रिजर्व का निर्गमित नोटों की मात्रा के साथ सम्बन्ध जोड़ देना, विदेशी परिपाटी का शेष मात्र थी; और गत २० वर्षों में बहुत से देशों ने इस सिद्धान्त में काफी सुधार किया है। इसके अलावा यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अभी भी रिजर्व बैंक को विदेशी विनिमय और सोने की एक न्यूनतम मात्रा रखना अनिवार्य है। इसलिए यदि कोई आकस्मिक घटना आ उपस्थित हो, तो उसका प्रतिकार किया जा सकता है।

निर्गम की नई और पुरानी रीतियों की तुलना

यह तो हम बता चुके हैं कि रिजर्व बैंक के पहले कागजी चलन भारत सरकार निर्गमित करती थी। भारत सरकार कागजी चलन की मात्रा अपनी आवश्यकता के अनुसार घटाती और बढ़ाती थी। इसमें उद्योग और व्यापार का हित ध्यान में नहीं रक्खा जाता था। केवल इम्पीरियल बैंक आवश्यकता के समय उल्लिखित किस्म की हुन्डी तथा अन्य सिक्योरिटी जमा करके सरकार से १२ करोड़ रुपये तक के नोट और निर्गमित करा सकता था। रिजर्व बैंक द्वारा निर्गम की नई रीति पुरानी रीति से निम्नलिखित बातों में श्रेष्ठ है: (१) यह एक मानी हुई बात है कि नोट निर्गमित करने के लिए सरकार अनुपयुक्त साधन है। बैंक द्वारा नोटों का निर्गमित होना सरकार द्वारा

---

१. यह कर उस समय प्रचलित बैंक रेट धन १% वार्षिक के बराबर होता था जब कि सोने का रिजर्व कुल सम्पत्ति के ३२% से अधिक हो, और रिजर्व में प्रति २% या उसके भाग की कमी के पीछे २% प्रति वर्ष कर और लगता था।

निर्गम से निम्निलिखित दशाओं में अच्छा है : (क) चलन की आवश्यकता समय-समय पर और विभिन्न अनुपात में बदलती रहती है। सरकार का द्रव्य सम्बन्धी, व्यापारिक और औद्योगिक मामलों से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहता; इसलिए चलन की माँग में होने वाले परिवर्तनों का यह अनुभव नहीं कर पाती। अतः यह चलन की पूर्ति को चलन की माँग के बराबर रखने में असफल होती है। इसके विपरीत, रिजर्वबैंक व्यापारिक जगत का एक महत्वपूर्ण भाग होता है और उसमें होने वाला प्रत्येक परिवर्तन इसके ध्यान में रहता है; अतः नोट निर्गमित करने का काम इससे अच्छी तरह और कोई संस्था सम्पन्न नहीं कर सकती है। (ख) सरकार द्वारा नोट निर्गमित होने में मुख्य भय यह होता है कि "अच्छी द्राव्यिक प्रणाली की आवश्यकताओं के स्थान पर राजनीतिक बातें और सरकार की द्रव्य सम्बन्धी जरूरतें निश्चयात्मक बन जाती हैं। अतः अत्यधिक ह्रास (Depreciation) का भय बना रहता है।"[1] इन दो बातों से—जिनमें एक आर्थिक और दूसरी राजनीतिक है—यह स्पष्ट हो जाता है कि नई निर्गम-प्रणाली पुरानी प्रणाली से श्रेष्ठ है। (२) हमारी कागजी चलन-प्रणाली सन् १९३५ से लोचदार (Elastic) हो गई है।[2] पुरानी प्रणाली के अन्तर्गत कागजी चलन केवल १२० करोड़ रुपये तक ही बढ़ाया जा सकता था किन्तु नई प्रणाली में कागजी चलन की वृद्धि की कोई सीमा ही नहीं है। सन् १९५५ तक बैंक जब भी चाहे प्रत्येक ४० रुपये के सोने के रिजर्व के पीछे १०० रुपये के नोट निर्गमित कर सकता था। इससे चलन काफी लोचदार हो गया। किन्तु यदि चलन की आवश्यकता इससे भी अधिक होती। और ४०% रिजर्व न होता, तो कुछ देकर रिजर्व की मात्रा कम भी की जा सकती थी। सन् १९५६ से इस दिशा में और भी सुधार हुआ है।[3]

§ ४ भारत में द्राव्यिक मान की समस्या

रुपये का विदेशी मूल्य किस प्रकार स्थिर किया जाय, इस बात पर गत ५६ वर्षों में काफी बहस होती रही है। ब्रिटिश काल में सरकार ने रुपये का मूल्य स्टर्लिंग में स्थिर रक्खा, जिसके लिए उसकी बराबर कड़ी आलोचना होती रही। फिर, जिस दर पर यह मूल्य स्थिर किया गया, वह भी भारत के लिए हितकर नहीं था। यह अवस्था सन् १९४७ तक जारी रही। सन् १९४७ में रुपये का मूल्य सोने में स्थिर किया गया और अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया, अतः रुपये का अकेले स्टर्लिंग से सम्बन्ध टूट गया और उसका प्रत्येक चलन से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय मान स्थापित हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मान (International Stanbard)

द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार के विभिन्न देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मिलकर और सहयोग से काम करने का निश्चय किया। चलन के (monetary) मामलों में सहयोग स्थापित करने के लिए उन्होंने "अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष" (International

१ देखिए Kisch and Elkin, *Central Banks*.

२ चलन की लोच से अधिक अभिप्राय माँग के बढ़ने पर चलन के बढ़ जाने और माँग के घटने पर चलन के घट जाने से, तथा बढ़ने और घटने की मात्रा से है।

३ देखिये अध्याय ३९ का परिशिष्ट १।

Monetaro Fund) कायम किया जिसका प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है। अन्त-
्ट्रीय द्राव्यिक कोष ने प्रत्येक देश से अपने चलन का बाहरी (external) मूल्य सोने
स्थिर करने को कहा। अतः सन् १९४७ में भारत ने, अन्तर्राष्ट्रीय कोष के सदस्य
हैसियत से, रुपये का विदेशी मूल्य सोने में स्थिर किया। अन्य सब देशों ने भी ऐसा
किया। इस नई व्यवस्था के अनुसार भी १ रु० का मूल्य १ शि० ६ पें० के बराबर
जो दर सन् १९२४ से चली आ रही है। किन्तु अब रुपया सोने के द्वारा, हर अन्य देश
चलन से, सम्बद्ध है। अतः इस मान को अन्तर्राष्ट्रीय मान कहा जा सकता है। स्मरण
: कि सन् १९४७ के पूर्व (जब हमारे देश में स्टर्लिंग-विनिमय-मान था) रुपये का मूल्य
वल स्टर्लिंग में स्थिर किया जाता था। इसका और चलन (currencies) में मूल्य
र्लिंग के द्वारा आँका जाता था; ऐसी विनिमय दरों (exchange rates) को "क्रास
" (cross rates) कहते थे। किन्तु आजकल ऐसा नही है। अब रुपये का विनि-
 मूल्य अन्य चलन के साथ सीधे-सीधे (विभिन्न चलन की स्वर्ण-मात्राओं के अनुपात में)
थर कर दिया गया है।

र्लिंग-विनिमय मान : सन् १९४७ के पूर्व

सन् १९४७ के पूर्व रुपये का मूल्य स्टर्लिंग में स्थिर किया जाता था। जब तक
लिंग सोने से बदला जा सकता था (अर्थात् सन् १९३१ तक), तब तक हमारे देश में
र्ण-विनिमय मान था। किन्तु जब स्टर्लिग के बदले में सोना मिलना बन्द हो गया, तब
मारे देश में स्टर्लिग-विनिमय-मान स्थापित हो गया। सन् १९२४ से १९४७ तक
ये की दर १ शि० ६ पें० रक्खी गई। इस दर या अनुपात को बनाये रखने के लिए
ई रीतियाँ काम में लाई गई जिनका वर्णन आगे किया गया है:

(१) सबसे पहले कौन्सिल बिल और रिवर्स कौंसिल बिल, जो कि कागजी चलन के
जर्व और स्वर्ण मान के रिजर्व में से भुगताये जाते थे, की बिक्री द्वारा यह काम सम्पन्न
या जाता था। हम इस रीति का विवरण नीचे § ५ में दे रहे हैं। यह प्रथा बहुत दिन
 त्याग दी गई।

(२) ऊपर की प्रथा को त्यागने के बाद, सरकार ने स्टर्लिग बिलों को खरीदने और
ने की रीति को अपनाया। किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के समय से यह नीति भी
ड़ दी गई।

(३) रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने के पश्चात् अनुपात बनाये रखने का भार
ी के ऊपर आ गया। रिजर्व बैंक ऐक्ट की धारा ४० के अनुसार, रिजर्व बैंक को अपने
येक दफ्तर में स्टर्लिग प्रत्येक खरीदार को बेचना पड़ता था और बिक्री की दर १ शि०
$\frac{4}{9}$ पें से कम नहीं हो सकती थी; किन्तु प्रतिबन्ध यह था कि कोई भी व्यक्ति १०,०००
ड की मात्रा से कम स्टर्लिग खरीदने का अधिकारी नहीं था। इस प्रकार धारा ४१ के
ुसार रिजर्व बैंक को हर व्यक्ति से, जो स्टर्लिग उसके किसी दफ्तर में उसे बेचना चाहे,
ीदना पड़ता था, और खरीदने की दर १ शि० ३, $\frac{3}{8}$ पें० से अधिक नहीं हो सकती थी,
न्तु प्रतिबंध यह था कि कोई भी व्यक्ति १०,००० पौंड से कम बेचने का अधिकारी नहीं
। रिजर्व बैंक इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच में विनिमय की दर रखता था।

न और अनुपात की समस्याएँ

सन् १९४७ के पूर्व रुपये के सम्बन्ध में दो प्रमुख समस्याएँ थीं: (१) भारत कौन-
मान (Monetary Standard) स्थापित करे; और (२) यदि स्टर्लिग से ही
बन्ध रखना हो, तो किस दर या अनुपात को माना जाय। किन्तु अब स्टर्लिग से सम्बन्ध

तोड़कर सोने के द्वारा प्रत्येक देश के चलन से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। विनिमय की दर का निर्णय करना भी अब हमारे हाथ में है। अतः ये समस्याएँ अब केवल इतिहास की वस्तुएँ रह गई हैं।

§ ५. भारतीय चलन का इतिहास

(१) १८३५–१८९३ : रजत-मान

सन् १८३५ के पहले हमारे देश में हिन्दू और मुस्लिम शासकों द्वारा चलाये हुए कई किस्म के और अलग-अलग तौल के लगभग १,००० सिक्के चालू थे। इससे व्यापारमें बहुत कठिनाई होती थी। अतः १८३५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाँदी का १८० ग्रेन और ११/१२ शुद्धिवाला रुपया देश का प्रामाणिक सिक्का बना दिया। ढलाई (mintage) देकर चाँदी के सिक्के ढलवाने का अधिकार जनता को दे दिया गया। अतः इस प्रकार रजत-मान स्थापित कर दिया गया।

किन्तु सन् १८७३ के बाद अमेरिका में चाँदी की बहुत-सी खानें खुल जाने के कारण चाँदी का मूल्य गिरना आरम्भ हो गया। रुपये का स्वर्ण-मूल्य जो पहले-पहल २ शि० था, घटते-घटते १ शिलिंग रह गया। इससे व्यापार का आधार ही उलट-पुलट गया खासकर विदेशों से आनेवाले माल के आयात को बहुत धक्का लगा। जो अंग्रेज अफसर भारत में नौकर थे, उनको भी बहुत नुकसान होने लगा; क्योंकि जिस रुपये के बदले में उन्हें पहले २ शिलिंग मिलते थे, उसी के बदले में अब उन्हें केवल १ शिलिंग मिलने लगा। भारत सरकार के "घरेलू व्यय" (Home Charges) ब्रिटिश सरकार को स्टर्लिंग में देने पड़ते थे; उनकी देनदारी अब दुगुनी हो गई। अतः यह प्रश्न हरशैल कमिटी (Herschel Committee) के सामने रक्खा गया जिसकी रिपोर्ट सन् १८९३ में प्रकाशित हुई।

(२) १८९३–१८९८ : रजत-मान का पतन

हरशैल कमेटी की सिफारिशों के अनुसार टकसालें सन् १८९३ में जनता के लिए बन्द कर दी गई और सरकार ने नये रुपये के सिक्के बनाना स्थापित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैसे ही चलन की माँग बढ़ी, वैसे ही रुपये का अर्घ भी ऊँचा हो गया। सन् १८९८ में रुपये का अर्घ १ शि० ४ पें० हो गया, जिसे हरशैल कमेटी ने आदर्श बताया था। सरकार ने १८९८ में फाउलर कमिटी (Fowler Committee) यह राय देने के लिए बैठाई कि अब आगे क्या किया जाय।

(३) १८९८–१९१४ : स्वर्ण-विनिमय-मान

फाउलर कमिटी ने यह सुझाव रक्खा कि रुपये का विनिमय-अर्घ १ शि० ४ पें० स्थिर करना चाहिए; ब्रिटेन का सोने का सिक्का सावरेन (Soveriegn) भारतवर्ष में चालू करना चाहिए और उसको कानूनी ग्राह्य बना देना चाहिये; और भारतीय टकसालें सोने के सिक्के की ढलाई के लिए खोल देनी चाहिये। कमिटी ने स्वर्ण-चलन-मान स्थापित करने की सिफारिश की। सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु उन्हें क्रियात्मक रूप नहीं दिया। सोने के सिक्के बनाने के लिए टकसाल स्थापित नहीं की गई। धीरे-धीरे सरकारी नीति ने एक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया जिसे न तो फाउलर कमिटी ने सोचा था और न हरशैल कमिटी ने। वह था स्वर्ण-विनिमय-मान रूप।[1]

---

१ इस प्रथा को कुछ लेखकों ने स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया है। अन्य लेखक,

रुपये का अर्घ १ शि० ४ पें० के बराबर कर दिया गया; और काउन्सिल बिल तथा रिवर्स काउन्सिल बिल की खरीद और बिक्री के द्वारा इस मूल्य को बनाये रक्खा गया। (क) काउन्सिल बिल (Council Bills)—जब व्यापार का अन्तर (balance of trade) भारत के अनुकूल होता था और लन्दन में रुपये के बिलों की बहुत माँग होती थी, तब यह डर होता था कि रुपये का मूल्य १ शि० ४ पें० से अधिक न हो जाय। ऐसी वृद्धि रोकने के लिए, सेक्रेटरी आव स्टेट फार इण्डिया, लंदन, में काउन्सिल बिल १ शि० ४ पें०, धन इंगलैंड से भारत को सोना भेजने की लागत, की दर पर बेचते थे। ऐसे काउन्सिल बिल ब्रिटिश ऋणी या देनदार भारतीय ऋणदाता या लेनदारों को भेज देते थे, जो उन्हें सरकारी खजानों में भुना लेते थे। इस प्रकार विनिमय की दर को १ शि० ४ पें० से आगे बढ़ने नहीं दिया जाता था। (ख) रिवर्स काउन्सिल बिल (Reverse Council Bills)—जब व्यापार का अन्तर (balance of trade) भारत के प्रतिकूल होता था, और भारत में स्टर्लिंग बिलों की बहुत माँग होती थी, तब यह भय होता था कि विनिमय की दर १ शि० ४ पें० से नीचे न चली जाय। ऐसी कमी को रोकने के लिए भारत सरकार सेक्रेटरी आव स्टेट फार इंडिया पर रिवर्स काउन्सिल बिल लिखती थी और उन्हें भारतवर्ष में १ शि० ४ पें०, ऋण सोने के भारत से इंगलैण्ड भेजने की लागत; की दर पर बेचती थी। इस प्रकार रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ४ पें० से कम नहीं होने दिया जाता था। काउन्सिल बिल और रिवर्स काउन्सिल बिल के द्वारा रुपये का विनिमय-मूल्य १ शि० ४ पें० के आस-पास स्थिर रक्खा जाता था।

भारत सरकार की चलन-नीति की देशवासियों ने कड़ी आलोचना की। खासकर स्वर्ण-चलन-मान के पोषकों ने इसकी बहुत निन्दा की। अतः सरकार ने सन् १९१३ में चैम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commission) बैठाया जिसने स्वर्ण-विनिमय-मान की प्रशंसा की और उसे भारत में स्थापित करने की शिफारिश की।

(४) १९१४–१९१८ : युद्ध का समय

चैम्बरलेन कमीशन की रिपोर्ट सरकार के हाथ में प्रथम महायुद्ध के छिड़ने के कुछ ही पहले आयी। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में, भारतवासियों का सरकार में विश्वास न रहा। डाकखानों के सेविंग बैंकों में जमा करनेवालों ने रुपया निकाल लिया और करेन्सी नोटों के बदले में सोना सरकार से माँगा जाने लगा। अवस्था यहाँ तक बिगड़ी कि सरकार ने सोना देना बंद कर दिया। भाग्यवश कुछ ही समय बाद अवस्था हाथ में आ गई और विश्वास फिर से जमने लगा। सन् १९१५ के पश्चात् अवस्था एक बार फिर बहुत चिन्ताजनक हो गई। भारत से मित्र-देशों को बहुत-सा सामान जाता था, किन्तु उनसे आयात बहुत कम होता था; इससे व्यापार का अंतर बड़ी सीमा तक भारत के अनुकूल हो गया। इसके

जिनमें डा० एल० सी० जैन प्रमुख हैं, इसे स्वर्ण-स्टर्लिंग-मान कहते हैं (देखिए L. C. Jain *The Monetary Problems of India* p.89)। इस मतभेद से घबड़ाकर कुछ लेखकों ने इस प्रकार लिखा है "इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-मान, या जिसे कुछ व्यक्ति स्टर्लिंग-विनिमय मान कहते हैं, स्थापित हो गया।" R. N. Mathur, *Introduction to Money Exchange and Banking*, p. 228)। वास्तव में यह मान स्वर्ण-विनिमय-मान था। इसके विशेष विवरण के लिए देखिए लेखक का Pure and Applied Economics in India, *Mysore Economic Journal*, Vol. No. II, 1938.

अतिरिक्त, ब्रिटिश सरकार ने भारत में बहुत-सा रुपया भी खर्च किया, जिसके कारण ब्रिटिश सरकार रुपयों की देनदार भी हो गई। आरम्भ में मांग को पूरा करने के लिए काउन्सिल बिल १ शि० ४ पें० की दर से बेचे गये, किन्तु बहुत शीघ्र काउन्सिल बिल की मात्रा इतनी अधिक हो गई कि भारत सरकार को उनके बदले में रुपया देने में कठिनाई होने लगी। वास्तव में, उनके सामने बड़ी समस्या आ खड़ी हुई, क्योंकि सिक्के ढालने के लिए सोने और चांदी का आयात करना सम्भव नहीं था। चांदी का मूल्य इतना बढ़ गया था कि मनुष्य रुपये के सिक्के गलाकर चांदी को धातु की भांति बेचकर लाभ उठाने लगे। हारकर सरकार ने काउन्सिल बिल की बिक्री बंद कर दी, और बिना रिजर्व रखते हुए एक रुपये और ढाई रुपये के नोट बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार युद्ध के पहले की काउन्सिल बिल और रिवर्स काउन्सिल बिल द्वारा रुपये का विनिमय-मूल्य स्थिर करने की प्रणाली समाप्त हो गई। अब सरकार काउन्सिल बिल केवल सीमित मात्रा में बेचने लगी और बिक्री की दर बराबर ऊँची होती गई। विनिमय की दर जो १९१४ में १ शि० ४ पें० थी, वह सन् १९१८ में २ शि० ४ पें० हो गई।

(५) १९१९–१९५२ : बैबिंग्टन स्मिथ कमिटी

युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात्, सरकार ने बैबिंग्टन-स्मिथ कमिटी (Babington Smith Committee) यह राय देने के लिए नियुक्त की कि विनिमय और चलन के सम्बन्ध में अब कौन-सी नीति अपनाई जाय। कमिटी ने स्वर्ण-विनिमय-मान को दोबारा अपनाने की सिफारिश की। वास्तव में, उनका अन्तिम आदर्श स्वर्ण-चलन-मान था और इसलिए उन्होंने यह सिफारिश की कि सावरेन (sovereign) को भारत में १० रुपया = १ सावरेन (१ रु० = २ शि०) की दर पर कानूनी ग्राह्य बना देना चाहिये। कमिटी ने २ शि० का अनुपात इसलिए सामने रक्खा कि उसका विश्वास था कि चांदी का मूल्य ऊँचा बना रहेगा।

अभाग्यवश भावी घटनाओं ने कमिटी के विचारों को पूर्णतया मिथ्या प्रमाणित कर दिया। चांदी का मूल्य गिर गया और व्यापार का अन्तर भारत के प्रतिकूल हो गया। इंगलैण्ड निवासियों ने जिन्होंने युद्ध के समय में बहुत-सा लाभ कमाया था, इस अनुकूल विनिमय की दर पर इंगलैण्ड को रुपया भेजना आरम्भ कर दिया। भारतीय देनदारों ने भी ब्रिटिश लेनदारों को भुगतान करने में शीघ्रता करना शुरु कर दिया। स्टर्लिंग की इतनी अधिक मांग होने के कारण रुपये का मूल्य गिरने लगा। रुपये का मूल्य २ शि० सोने (जो ३ शि० स्टर्लिंग के बराबर था) के बराबर नहीं रहा। तब इस बात की चेष्टा की गई कि यह २ शि० स्टर्लिंग के बराबर रहे, किन्तु इसमें भी असफलता मिली। सन् १९२२ में सरकार ने रिवर्स काउन्सिल बेचना बन्द कर दिया। विनिमय की दर अपने हाल पर छोड़ दी गई।

(६) १९२६–१९३१ : हिल्टन-यंग कमीशन

सन् १९२४ में अनुपात १ शि० ६ पें० के लगभग स्थिर हो गया; और सन् १९२५ में सरकार ने हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton-Young Commission) भावी नीति के सम्बन्ध में राय देने के लिए बैठाया। कमीशन ने स्वर्ण-धातु-मान के अपनाने की सिफारिश की और यह भी सुझाव रक्खा कि कुछ दशाओं में सरकार सोना खरीदे और बेचे।

सरकार ने ये सिफारिशें मान लीं और एक ऐक्ट पास कर दिया गया जिसके अनुसरकार सरकार को सोना खरीदना और सोना या सरकार के विकल्प पर स्टर्लिंग बेचना

अनिवार्य हो गया। सरकार ने जो मान स्थापित किया वह वास्तव में न तो स्वर्ण-धातु-मान था और न स्वर्ण-विनिमय-मान। प्रत्युत वह ऐसा अनिश्चित था कि अवस्था के अनुसार और सरकार की इच्छा के अनुकूल कभी तो वह स्वर्ण-धातु-मान का स्वरूप ग्रहण कर लेता था और कभी स्वर्ण-विनिमय-मान का।

(७) १९३१-१९४७ : स्टर्लिंग-विनियम-मान

सन् १९०१ में इंगलैण्ड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। भारत ने रुपये का मूल्य स्टर्लिंग के साथ १ शि० ६ पें० की दर पर बनाये रखा; पर क्योंकि अब स्टर्लिंग साने में परिवर्तनशील नहीं था, इसलिए भारतीय द्राव्यिक मान स्टर्लिंग-विनिमय-मान हो गया।

इस काल में दो महान् घटनाएँ हुईं। इनमें से पहली घटना रिजर्व बैंक आफ इंडिया की स्थापना थी। रिजर्व बैंक ने सन् १९३५ में काम करना आरम्भ कर दिया। अब तक सरकार कागजी नोट निर्गमित किया करती थी, पर अब यह अधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया गया। चलन का पूरा प्रबंध इसी बैंक के हाथ में आ गया। सूचीबद्ध (Scheduled) बैंकों को अपनी देनदारियों का कुछ भाग रिजर्व के रूप में इस बैंक के पास रखना अनिवार्य बना दिया गया। इस प्रकार रिजर्व बैंक अन्य बैंकों पर कुछ नियंत्रण रख सकने लगा है। द्रव्य और साख पर अब एक संस्था का अधिकार हो गया। स्वर्ण-मान रिजर्व और कागजी द्रव्य का रिजर्व, दोनों रिजर्व बैंक को सौंप दिये गये। रिजर्व बैंक को रुपये का बाहरी मूल्य १ शि० ६ पें० के बराबर बनाये रखने के लिए उत्तरदायी बना दिया गया।

इस काल की दूसरी महान् घटना द्वितीय महायुद्ध था जो सन् १९३९ में आरम्भ और सन् १९४५ में समाप्त हुआ। इस समय वह उथल-पुथल नहीं हुई जो प्रथम महायुद्ध के समय में हुई थी। इस सम्बन्ध में कुछ खास घटनाएँ बता देना आवश्यक है :

(१) **रुपयों की मांग बढ़ना**—युद्ध के छिड़ने पर जनता ने नोट भुनाकर रुपया लेना आरम्भ कर दिया। इससे रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई। बाद को व्यापार इतना बढ़ा कि यह माँग बढ़ती ही गई। अतः सरकार को इस समय में १४९ करोड़ के रुपये बनाकर चलन में रखने पड़े।

(२) **एक और दो रुपये के नोटों का चलन**—इससे भी जब माँग पूरी न हुई तो सरकार ने एक रुपये और दो रुपये के नोट चलाये जो अब भी जारी हैं।

(३) **विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)**—विदेशी द्रव्य को विदेशी विनिमय कहा जाता है। युद्ध-काल में विदेशी व्यापार इस प्रकार का करना पड़ता है कि जिससे युद्ध का सामान और जनता के लिए आवश्यक सामान उपयुक्त मात्रा में विदेशों से आता रहे। अतः भारत सरकार ने यह कानून बना दिया कि निर्यात करके जिस व्यक्ति को पौंड, डालर आदि मिलें, वह रिजर्व बैंक में जमा करे; और जिसे विदेशी माल खरीदने के लिए विदेशी चलन की आवश्यकता हो, वह रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय खरीदे। इस प्रणाली को 'विनिमय नियन्त्रण' (Exchange Control) कहते हैं। यह प्रणाली अब भी जारी है और इससे देश को बहुत लाभ हुआ है।

(४) **बड़े नोटों का अद्रव्यीकरण**—५००), १,०००), और १०,०००) के नोटों का अद्रव्यीकरण कर दिया गया।

(८) १९४७ के बाद : अन्तराष्ट्रीय मान

युद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष (International Monetary Fund) की स्थापना सब मित्र-राष्ट्रों के सहयोग से हुई; और भारत इसका सदस्य बना। अप्रैल ८, १९४७ को भारतीय धारा सभा के निर्णय के अनुसार रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से तोड़ दिया गया। रुपये का मूल्य विदेशी विनिमय के लिए स्वर्ण की मात्रा में निश्चित कर दिया गया। संसार के अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया। अतः रुपये का (विदेशी) मूल्य हर अन्य देश के द्रव्य के मूल्य के साथ, सोने के द्वारा स्थापित हो गया है। इसे हम "अन्तर्राष्ट्रीय मान" कह सकते हैं। इस नये मान के अनुसार भी भारतीय रुपये का मूल्य १ शि० ६ पें० के बराबर आता है।

रुपये का अवमूल्यन—सन् १९४७ में करेंसी-सम्बन्धी एक और आश्चर्यजनक घटना हुई। इंगलैण्ड ने पाउन्ड का मूल्य डालर में ३०%घटा दिया। भारत अब या तो स्टर्लिंग के साथ रहता या डालर के साथ। भारत ने स्टर्लिंग के साथ रहने का निश्चय किया। अतः अवमूल्यन के बाद भी १ रुपये का मूल्य १ शि० ६ पें० रहा। पर रुपये का मूल्य डालर में कम हो गया, या यह कहिये कि डालर अधिक रुपयों के बराबर हो गया। पहले १ डालर ३ रु० ५ आने के बराबर था; पर अब यह ४ रु० ११ आने के बराबर हो गया।

§ ६. वर्तमान चलन-सम्बन्धी समस्याएँ

द्रव्य-प्रसार (Inflation)

इतिहास—युद्ध के समय में बहुत-सा द्रव्य चलन में रक्खा गया। ब्रिटिश सरकार और मित्र-देशों ने हमारे देश से बहुत-सा सामान खरीदा और स्वयं हमारी सरकार ने बड़ी मात्रा में युद्ध की सामग्री मोल ली। माल के बदले में विक्रेताओं को रुपया मिला और इस प्रकार चलन की मात्रा बहुत बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ गया। यदि इसके साथ-साथ उत्पत्ति भी बढ़ जाती तो मूल्य इतने न बढ़ते, किन्तु ऐसा न हुआ। किसी-किसी महीने में तो सरकार ने एक करोड़ रुपये या उससे भी अधिक का चलन प्रत्येक दिन निर्गमित किया। परिणाम यह हुआ कि स्थिर आयवाले व्यक्तियों को और मुख्यतया निर्धन और मध्यवर्ग के व्यक्तियों को बहुत यंत्रणा का सामना करना पड़ा। मूल्य अधिक हो जाने के कारण उनकी आय अब आवश्यक मात्रा में माल नहीं खरीद सकती थी और उनके रहन-सहन का स्तर स्वाभाविक रूप से नीचा हो गया। ऐसे व्यक्तियों को कड़ी यातनाएँ भुगतनी पड़ीं, और जो वस्तुएँ ये नहीं ख़रीद सके वे विदेशों को भेज दी गई। मूल्य बढ़ जाने के कारण प्रसार ने चोर बाजार और अत्यधिक लाभकरण (Black-marketing and profiteering) को प्रोत्साहित किया जिनके कारण दशा और भी बिगड़ गई।

युद्ध के पश्चात् हमारा देश स्वतंत्रता के सम्बन्ध में इस सीमा तक राजनीतिक समस्याओं में फँसा रहा कि आर्थिक मामलों का ठीक ठीक विचार नहीं किया जा सका। हमारे स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् भी राजनीतिक कठिनाइयाँ हमारे पीछे लगी रहीं, और चलन का प्रसार बढ़ता गया, जैसा कि आगे की तालिका से स्पष्ट है।

सारिणी ३७

चलन की वार्षिक खपत

वर्ष	चलन की वार्षिक खपत (करोड़ रु०)	उपभोक्ता (मजदूर) मूल्य के संकेतांक (१९४९=१००)
१९५१	—३०	१०१
१९५२	—५३	..
१९५३	+११	..
१९५४	+५८	..
१९५५	+१६१	९६
१९५६	+९९	१०७
१९५७	+४१	११२
१९५८	+८०	११८
१९५९	+१४८	१२३
१९६०	+१४७	—

इस सारिणी से स्पष्ट होता है कि सन् १९५१–१९५९ में सरकार केवल दो ही वर्ष कुछ रुपया चलन से निकाल सकी; अन्यथा उसे कुछ द्रव्य चलन में रखना पड़ा। इस काल में रु० ७४५ करोड़ चलन में रक्खा गया और रु० ८२ करोड़ निकाला गया। इसके फलस्वरूप मजदूर-उपभोक्ता मूल्य का संकेतांक (१९४९=१००) बढ़ कर १९५९ में १२३ तक पहुँच गया। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य-प्रसार अभी जारी है।

चलन प्रसार और दूसरी पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना के अन्तर्गत विकास सम्बन्धी व्यय बड़े पैमाने पर हुआ; और तृतीय योजना में उससे भी अधिक व्यय होगा; किन्तु पदार्थों की मात्रा समान सीमा तक नहीं बढ़ सकेगी। अतः प्रसार सम्बन्धी प्रवृत्ति को और बल मिलेगा। यदि सरकार मूल्यों का बढ़ना रोकने में सफल हो सकी, तो यह उसके लिए बड़े प्रशंसा की बात होगी।

भारत में प्रसार निवारक उपाय—हमारे देश में चलन का प्रसार कुछ समय से चालू है; और यह केवल विकास सम्बन्धी प्रयासों का ही परिणाम नहीं है, वरन् सामान्य चलन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का भी परिणाम है। भारत सरकार इसके निराकरण के लिए आरम्भ से ही चिन्तित रही है। उन्होंने अक्टूबर, १९४८ में अपना प्रसार निवारक कार्यक्रम (anti-inflationary programme) घोषित किया जिसका उद्देश्य सरकारी व्यय पर खर्च काम करने और उत्पत्ति बढ़ाना था। पर इसे अधिक सफलता न मिली। मूल्यों का स्तर बढ़ता ही रहा और सन् १९५१–५२ में थोक मूल्यों का संकेतांक (१९३९=१००) ४३५ तक पहुँच गया। किन्तु उसके पश्चात् एक चतुर्मुखी नीति अपनाने पर मूल्यों का स्तर नीचे की ओर हो गया। यह नीति इस प्रकार थी : (क) उत्पत्ति में वृद्धि, (ख) आयातों पर रोकथाम करना और निर्यातों को बढ़ाना, (ग) कर में वृद्धि और सरकारी व्यय पर रोकथाम, (घ) भौतिक नियन्त्रण (Physical Control) जिससे मूल्यों को बढ़ाने से रोका जाय।

पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत सरकार ने निम्न प्रसारनिवारक नीति अपनायी

है; (क) भारतीय अर्थ-व्यवस्था में अन्न तथा कपड़े के मूल्यों का सबसे महान् स्थान है और उनमें अधिक वृद्धि न हो, इसके लिए समस्त प्रयत्नों को काम में लाना अभीष्ट है। है। जब तक इनके मूल्यों को उचित स्तर पर रक्खा जा सकता है, तब तक जनता के रहन-सहन की लागत भी नियन्त्रण में रक्खी जा सकती है। इसलिए सरकार अनाजों का बड़े पैमाने पर संग्रह कर रही है जिससे कि उनका मूल्य बढ़ते ही अनाज की पूर्ति में वृद्धि कर दी जाय और मूल्यों का बढ़ना रोक दिया जाय। अन्य आवश्यक पदार्थों का भी संग्रह किया जा रहा है। दौड़ने वाले द्रव्य प्रसार (Run-away inflation) को लगाम देने के लिए यह सबसे बड़ा उपाय होगा। (ख) द्रव्य प्रसार पर रोकथाम करने के लिए कर लगाये जायँगे, उपभोग को सीमित किया जायगा और अत्यधिक लाभ किसी न किसी प्रकार से खींच लिया जायगा। (ग) अन्त में कन्ट्रोल लगाये जायँगे। आवश्यकता पड़ने पर राशनिंग का भी प्रयोग किया जा सकता है।

स्टर्लिंग पावना या ऋण

द्वितीय महायुद्ध के पहले हम ब्रिटेन के ऋणी थे, किन्तु अब ब्रिटेन हमारा ऋणी है। युद्ध के आरम्भ में ब्रिटेन हमसे माल खरीदता गया और हमें जो ऋण उसे चुकाना था वह कम होता गया। धीरे-धीरे जब ब्रिटेन काफी खरीदारी कर चुका और आगे भी करता रहा, तो वह उल्टा हमारा ऋणी होने लगा। हमारा ऋण दिन-प्रति दिन बढ़ता ही गया। वह जो भी माल भारत से खरीदता, उसके बदले में स्टर्लिंग में प्रामिसरी नोट लिख-कर दे देता। इन्हें **स्टर्लिंग सिक्योरिटी** कहते हैं।

स्टर्लिंग सिक्योरिटी और बैंक नोट—भारत सरकार यह सिक्योरिटी रिजर्व बैंक को दे देती और उससे नोट ले लेती। रिजर्व बैंक ऐक्ट के अनुसार नोट के पीछे स्टर्लिंग सिक्योरिटी रक्खी जा सकती है। अतः जब भी ब्रिटिश सरकार हमारे देश से माल खरी-दती, तभी स्टर्लिंग सिक्योरिटी रिजर्व बैंक के पास आती और नये नोट निर्गमित किये जाते। प्रसार का यह एक प्रमुख कारण था।

स्टर्लिंग ऋण का चुकाना—ब्रिटिश राज्य के रहते हुए इंगलैण्ड यह चाहता था कि भारत को स्टर्लिंग ऋण न चुकाया जाय, वरन् उसे भारत का युद्ध के लिए चन्दा मान लिया जाय। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर ऐसा असम्भव हो गया और ब्रिटेन ने धीरे-धीरे राजीनामे के अनुसार इस ऋण को चुकाने की नीति को मान लिया। अतः इस ऋण को भुगतान के लिए इंगलैण्ड और भारत में कई समझौते हो चुके हैं। पहला सम-झौता अगस्त १९४७ में हुआ, दूसरा फरवरी १९४८ में, और तीसरा जुलाई १९४८ में। तीसरा समझौता जून १९५१ में व्यतीत हो गया किन्तु वह सन् १९५७ तक बढ़ा दिया गया। खेद का विषय है कि हमने इस ऋण के बदले में बहुत-सा उपभोग का सामान मँगाया और मशीनों आदि को नहीं मँगाया जिससे देश की उत्पादन शक्ति बढ़ती।

स्टर्लिंग सिक्योरिटी में भारी कमी—गत काल में हमने स्टर्लिंग शेषों का उचित प्रयोग नहीं किया; और वे कुछ सीमा तक, उपभोग के पदार्थों तथा अन्य आवश्यक पदार्थों के आयात करने में प्रयुक्त किये गये। किन्तु अब उनका प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग पर किया जा रहा है। किन्तु इन शेषों में भारी कमी हो चुकी है। नवम्बर सन् १९५५ में उनकी मात्रा केवल ७६८ करोड़ रुपये थी; पर नवम्बर सन् १९५६ में केवल ५३६ करोड़ रुपये रह गई। अन्य शब्दों में एक साल भर के अन्दर २३२ करोड़ रुपये की सीमा तक स्टर्लिंग शेष कम हो गये। अप्रैल से सितम्बर सन् १९५६ तक १३० करोड़ रुपये के स्टर्लिंग शेष

प्रयुक्त हुए। सन् १९५७ में अब उनकी मात्रा केवल २०० करोड़ रुपये के लगभग रह गई। मार्च १९६० में वे केवल रु० १६३ करोड़ के बराबर थे।

अद्रव्यीकरण (Demonetisation)

जनवरी १२, १९४६, को सरकार ने एक अद्रव्यीकरण आर्डिनेन्स घोषित किया। इसके अनुसार ५०० रुपये, १,००० रुपये, और १०,००० रुपये के नोट गैरकानूनी ग्राह्य घोषित कर दिये गये। इनके धारकों को इन्हें लौटाने के लिए और इनके बदले में दूसरा चलन ले लेने के लिए २६ फरवरी, १९४६, तक का समय दिया गया। बड़े नोट देते समय एक फार्म भरना पड़ता था जिसमें यह बताना पड़ता था कि ये नोट कब, कहा से मिले, ये नोट पास में क्यों रक्खे गये और बैंक में क्यों नहीं जमा किये गये, आदि। विचार यह था कि युद्ध के समय में जिन व्यक्तियों ने चोरबाजार में या घूस लेकर रुपया कमाया है, उनका पता लगाया जाय और उनको दण्ड दिया जाय। इस आर्डिनेन्स का परिणाम यह हुआ कि केवल १ रुपये, २ रुपये, ५ रुपये, १० रुपये और १०० रुपये के नोट ही कानूनी ग्राह्य रह गये।

बड़े नोटों का पुनर्निर्गम (Re-issue of High Denomination-Notes)—सन् १९५४ से बड़े नोटों का निर्गम फिर जारी कर दिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि पहले ५०० रु०, १,००० रु० तथा १०,००० रु० के नोट चालू थे, किन्तु अब १,००० रु० ५,००० रु० तथा १०,००० रु० के नोट चालू किये गये हैं। इनकी बनावट पुराने नोटों से भिन्न हैं।

हीनार्थ धन-प्रबन्ध (Deficit Financing)

सन् १९५१ से (जब कि प्रथम पंचवर्षीय योजना का सूत्रपात हुआ हीनार्थ धन प्रबन्ध या "सृजित द्रव्य" की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। सरकार योजना-त्मक विकास के निम्नलिखित स्रोतों से प्राप्त करने की चेष्टा करती है : (१) नये कर लगा-कर (२) जनता से ऋण लेकर, (३) सरकार के पास प्राविडेंट फण्ड तथा अन्य जमा किये जाने वाले द्रव्य का प्रयोग करके और (४) विदेशी ऋण लेकर। हमारा यह अनुभव रहा है कि इन चार महान स्रोतों से प्राप्त होने वाला वित्त हमारी योजना के लिए पर्याप्त नहीं होता। अतः केवल यही उपाय रह जाता है कि हम नोटों को छापें और योजनात्मक विकास के लिए इन नोटों का प्रयोग करें। इस प्रकार जो धन नोटों को छापकर प्राप्त किया जा सकता है, वह सरकार के पूंजी खाते (Capital Account) के अभाव (Deficit) को पूरा करता है। इसलिए इसे "अभावात्मक वित्त-प्रबन्ध" या "हीनार्थ धन-प्रबन्ध" कहते हैं। योजना आयोग (Planning Commission) ने हीनार्थ वित्त की इस प्रकार परिभाषा दी है : "कर, सरकारी उपक्रमों की आय, जनता से ऋण, जमा धन राशि का कोष, तथा अन्य फुटकर स्रोतों से प्राप्त आय से सरकारी व्यय का आधिक्य हीनार्थ वित्त कहलाता है।"

चलन निर्गम तथा हीनार्थ वित्त—इससे स्पष्ट हो जाता है कि नये नोटों का प्रत्येक निर्गम हीनार्थ वित्त का स्वरूप नहीं लेता। कागजी चलन दो प्रकार से निर्गमित होता है : (क) अर्थ-व्यवस्था की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और (ख) सर-कार के पूंजी खाते के भाव को पूरा करने के लिए। दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो धन निर्गमित किया जाता है वह हीनार्थ वित्त कहलाता है।

योजना में हीनार्थ वित्त—पहली योजना में रु० ४२० करोड़ के बराबर हीनार्थ वित्त

प्रयुक्त किया गया। पर दूसरी योजना में रु० १२०० करोड़ के बराबर उसका प्रयोग हुआ। इससे मूल्य बहुत बढ़ गये। अतः तीसरी योजना में इसकी मात्रा केवल रु० ५५० करोड़ रक्खी गई है।

हीनार्थ वित्त के पक्ष में युक्तियाँ—हीनार्थ वित्त का सबसे महान् लाभ यह है कि विकासात्मक कार्यक्रमों में तात्कालिक वृद्धि करने के लिए धन प्रदान करता है। उदाहरण के लिए यदि, हम हीनार्थ वित्त का प्रयोग न करें तो हमें दूसरी योजना के विकासात्मक लक्ष्यों में २० प्रतिशत की कमी करनी पड़ेगी। साथ में, हीनार्थ वित्त में एक भय भी है। यह स्वभाव से ही प्रसारात्मक (Inflationary) होती है क्योंकि चलन के बढ़ने से एकदम यथार्थ ही साथ माल का उत्पादन नहीं बढ़ पाता और इसीलिए मूल्य ऊँचे हो जाते हैं। इसके अलावा, अतिरिक्त द्रव्य बैंकों में जमा कर दिया जाता है और उसके आधार पर बैंक पहले से भी अधिक ऋण देने लगते हैं, जिसके कारण भी मूल्य बढ़ जाते हैं। अतः जन-साधारण के हृदय में हीनार्थ वित्त के सम्बन्ध में भय होना कोई अचम्भे की बात नहीं है। किन्तु वास्तव में ऐसी विचार-धारा अनुचित है क्योंकि हम चाहे कितनी भी कोशिश क्यों न करें, फिर भी आर्थिक विकास बिना प्रसारात्मक द्रव्य के होना असम्भव है। यदि अर्थ-व्यवस्था का विकास गतिपूर्वक होगा, तो वित्त प्रबन्ध चाहे कितनी भी कुशलता से क्यों न किया जाय, कुछ न कुछ प्रसार अवश्य होगा। यदि इस प्रसार से किसी देश के निवासियों को डर लगता है और वे उससे पूर्ण बचत चाहते हों, तो उन्हें गतिशील आर्थिक विकास की आशा छोड़ देनी चाहिये। सही विचारधारा यह है कि हीनार्थ वित्त के प्रति विरोधी भावना न हो परंतु उसकी मात्रा की सीमा रोकी जाय और साथ में ही प्रसार निवारक प्रयोगों को भी इस्तेमाल किया जाय।

सारांश

रुपया सांकेतिक प्रमाण है। धातु का चलन भारत सरकार चलाती है और कागजी द्रव्य रिजर्व बैंक। नोट निर्गम करने की प्रणाली में कई परिवर्तन हो चुके हैं—वर्तमान प्रणाली स्थिर कोष प्रणाली है। भारत में द्राव्यिक मान की समस्या पुरानी है पर आजकल अंतर्राष्ट्रीय मान स्थापित है। भारतीय चलन का इतिहास सन् १८३५ से आरम्भ होता है वर्तमान चलन-सम्बन्धी समस्यायें हैं द्रव्य-प्रसार, स्टर्लिंग पावना, तथा हीनार्थ धन-प्रबन्ध।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली हायर सेकन्डरी

1. Give a short account of the present position of the paper currency system in India. (1958).

2. Breifly describe the Indian currency system. (1956).

जम्मू एण्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

3. Give the present value of the Indian Rupee in terms of the U. S. Dollar, the pound sterling and the Pakistan rupee. (1955).

4. Name the constitiuents of Indian currency, What need is there for the issue of Coins of different denominations? Illustrate your answer by taking examples of these coins. (1953).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

5. Give a beief description of monetary system of India. Tne rupee now is practicable in the position of an inconvertible note printed on silver? Explain. (1956).

6. Describe the main features of the Indian currency system. Discuss the composition and function of Indian paper currency reserve. (1955).

7. What are the important defects in the present currency system of the country ? What improvements do you think necessary ? (1954).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

8. Point out the main features of the Indian currency system. (1952).

9. Briefly state the present position of Indian currency (1951).

10. Describe the present moneta y standard in India. (1950).

अध्याय १६

भारतीय बैंकिंग प्रणाली

§ १. भारतीय द्रव्य-बाजार

द्रव्य-बाजार (Money Market)

द्रव्य का बाजार[1] द्रव्य के उपभोग के खरीदार और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है। दूसरे शब्दों में यह द्रव्य उधार लेनेवालों और देनेवालों का द्योतक है। किसान, उद्योगपति और व्यापारी उत्पादक कार्यों के लिए द्रव्य उधार लेते हैं और उपभोक्ता अपनी द्रव्य-सम्बन्धी अस्थायी कमी को दूर करने के लिए ऋण लेते हैं।[2] द्रव्य बैंक और साहूकारों द्वारा उधार दिया जाता है। द्रव्य उधार देनेवाले और उधार लेनेवाले सामूहिक रूप में द्रव्य-बाजार कहलाते हैं।

भारतीय द्रव्य-बाजार

भारत में द्रव्य-बाजार है, किन्तु वह छोटा और विभाजित है, इसका संगठन बुरा है और इसकी दशा पिछड़ी हुई तथा शोचनीय है। इसके अंग निम्नलिखित हैं।

(क) भारतीय बैंकिंग प्रणाली अर्थात् ऋणदाता :

(१) प्राचीन देशी बैंकिंग प्रणाली;
(२) आधुनिक बैंकिंग प्रणाली; और
(३) रिजर्व बैंक आव इंडिया।

(ख) ऋण लेनेवाले।

हम आगे इन विभिन्न अंगों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। हम ऋण लेनेवालों का अलग से विवेचन नहीं करेंगे, वरन् भारतीय बैंकिंग प्रणाली की विवेचना करते समय उनका भी जिक्र कर देंगे।

§ २. प्राचीन देशी बैंकर[3]

हम भारतीय बैंकिंग प्रणाली को दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) प्राचीन बैंकिंग देशी प्रणाली जो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई है और (२) आधुनिक बैंकिंग प्रणाली

---

१ स्मरण रहे कि बाजार शब्द किसी खास स्थान का द्योतक नहीं, प्रत्युत वह किसी वस्तु के खरीदारों और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है जो स्वतंत्रतापूर्वक और बिना किसी रोक-टोक के व्यापार करते हैं।

२ बैंक भी रुपये जमा करते हैं जो रुपया उधार लेना ही है।

३ विस्तृत विवरण के लिए देखिये, L. C. Jain *Indigenous Banking in India*; H. Sinha, *Early European Banking in India*; B. T. Thakur, *Organisation of India Banking*; *Indian Banking Enquiry Committee Reports*; *Indian Banking and Currency Problems* by Sri Chunilal B. Mehta and others.

जिसे ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपने काल में स्थापित किया। रिजर्व बैंक आव इंडिया को हमने एक अलग वर्ग दिया है, किन्तु वैसे यह दूसरी श्रेणी में आता है। ये दो भाग एक दूसरे से अलग रहे हैं और इन दोनों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित करना देश की एक महत्वपूर्ण आर्थिक समस्या है।

प्रारम्भिक बातें

देशी बैंकिंग प्रणाली का अभिप्राय उन भारतीय बैंकरों से है जो प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार बैंकिंग व्यवसाय करते हैं। बहुत पुराने समय से ही भारत में एक बहुत कुशल और अच्छी बैंकिंग प्रणाली स्थापित थी। वास्तव में द्रव्य उधार देने की बात हमें ईसा से २०० वर्ष पूर्व के लेखों में मिलती है; और बाद के इतिहास में प्राचीन बैंकिंग व्यवसाय के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर लेख मिलते हैं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', धर्मशास्त्र, और बौद्धों की रचनाओं में प्राचीन देशी बैंकिंग प्रणाली के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना पाई जाती है और इससे यह पता चलता है कि प्राचीन काल में देश के आर्थिक यंत्र में बैंकिंग का स्थान बहुत ऊँचा था। आज भी आधुनिक बैंकों की अपेक्षा देशी बैंकर अधिक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। ये देश के कोने-कोने में पाये जाते हैं और हम उन्हें हर गाँव, कस्बे और शहर में देख सकते हैं। ये विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। गाँवों और कस्बों में उन्हें साहूकार, बनिया और महाजन कहते हैं और शहरों में सर्राफ। सामान्यतया देशी बैंकरों का फर्म एक पारिवारिक संस्था होता है और वह संयुक्त पूंजी के सिद्धान्त पर आधारित नहीं होता।

काम (Functions)

(१) देशी बैंकरों का सबसे प्रमुख काम रुपया उधार देना है। वे हर प्रकार की जमानत पर गहने, जमीन, प्रामिसरी नोट और यहाँ तक कि मौखिक वायदे पर भी रुपये उधार देते हैं। गाँवों में वे किसानों और छोटे-छोटे कारीगरों के लिए जो कोई जमानत नहीं दे सकते, द्रव्य-प्रबन्ध (finance) करते हैं। उनके तरीके बहुत सादे और घरेलू होते हैं और अनपढ़ व्यक्तियों के लिए बहुत उपयुक्त होते हैं। शहरों में वे बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों के लिए द्रव्य-प्रबन्ध करते हैं। (२) वे हुण्डियों का क्रय-विक्रय भी करते हैं। उनके ग्राहक जो हुण्डी उनके पास लाते हैं उन्हें वे बट्टे पर खरीद लेते हैं और उनके एजेण्ट उन पर जो हुण्डी लिखते हैं, उनका वे भुगतान करते हैं। अपने एजेण्टों पर हुण्डी लिख कर बेचते भी हैं। (३) उनमें से कुछ रुपये भी जमा करते हैं। किन्तु अधिकांश में वे ऐसा नहीं करते। (४) वे बैंकिंग या रुपया उधार देने के काम के साथ-साथ कुछ और व्यापार भी करते हैं। कपास, अनाज, सोने आदि का क्रय-विक्रय करते हैं और कभी-कभी सट्टेबाजी भी करते हैं।

क्या ये बैंकर होते हैं !

देशी बैंकरों को हम बैंकरों के नाम से सम्बोधित करते हैं, किन्तु क्या वास्तव में वे बैंकर होते हैं ? बैंकर वह व्यक्ति होता है जो रुपया उधार लेता है और उधार देता है। देशी बैंकर रुपया उधार देते तो अवश्य हैं, किन्तु रुपया उधार कभी-कभी ही लेते हैं। अतः वे देशी बैंकर जो रुपया जमा नहीं करते केवल ऋणदाता होते हैं। जो रुपया भी जमा करते हैं, वे सच्चे बैंकर होते हैं।[४]

---

४ इंडियन बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने देशी बैंकरों के दो विभाग किये हैं : बैंकर और देशी ऋणदाता। हमारे मत में यदि हम इस प्रणाली के सदस्यों को देशी द्रव्य-प्रबन्धक (Indigenous Financiers) कहें और फिर उनका उपरोक्त वर्गीकरण करें तो इससे स्पष्टतया भय जाता रहेगा।

ऊपर की विवेचना से भारतीय बैंकर और आधुनिक बैंकर के बीच के अन्तर स्पष्ट हो जाते हैं। हम इन अन्तरों का ब्योरा नीचे देते हैं :

देशी बैंकर	आधुनिक बैंकर
(१) उनका फर्म साधारणतया पारिवारिक व्यवसाय के सिद्धान्त पर संगठित होता है।	(१) यह संयुक्त पूंजी की कम्पनियों की भांति संगठित होते हैं।
(२) इनमें से बहुत थोड़े बैंकर रुपया जमा करते हैं।	(२) रुपया जमा करना इनका मुख्य काम होता है। वास्तव में जमा किया हुआ रुपया उनकी पूंजी से कहीं अधिक होता है।
(३) वे बहुधा बैंकिंग के साथ-साथ कुछ और व्यापार भी करते हैं।	(३) ये बैंकिंग के साथ और कोई व्यापार नहीं करते।
(४) वे कागजी द्रव्य निर्गमित नहीं करते।	(४) रिजर्व बैंक कागजी द्रव्य निर्गमित करता है।
(५) उनका अधिकांश रुपया बिना उप-युक्त जमानत के उधार दिया जाता है और वे बहुत जोखिम झेलते हैं।	(५) ये ऋण उचित जमानत पर ही देते हैं और इनकी जोखिम बहुत कम होती है।
(६) वे छोटे किसान, छोटे कारीगर और मामूली व्यापारियों को ऋण देते हैं।	(६) ये बड़ी-बड़ी कम्पनियों और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए द्रव्य-प्रबन्ध करते हैं।
(७) इनका अधिकांश काम गांव में होता है।	(७) इनका अधिकांश काम औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों में होता है।
(८) इनकी संख्या बहुत अधिक है और ये देश के कोने-कोने में व्याप्त हैं।	(८) ये संख्या में इतने अधिक नहीं और इनका प्रसार इतना ज्यादा नहीं।
(९) इनकी शाखाएँ बहुत थोड़ी होती हैं।	(९) इनकी शाखाएँ बहुत अधिक होती हैं।

इनके दोष

देशी बैंकिंग की रीति में बहुत-सी बुराइयां हैं। देशी बैंकर और उनमें से मुख्यतया रुपया उधार देने वाले, अनुचित ब्याज की दर वसूल करते हैं और ऋण देने वालों की जरूरत के अनुसार उनसे अनुचित लाभ उठाते हैं। पठान और काबुली लोग बहुत ऊँची ब्याज की दर लेते हैं और कभी-कभी तो वह ३०% या ४०% तक या उससे भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त वे बहुत-सी चालाकियां करते हैं जिनसे बड़ा असन्तोष होता है। ऋण लेने वाले से अँगूठे की निशानी लेकर बाद में मनमाना रकम लिख लेना, खाता खोलाई, नजराना आदि वसूल करना और ऋण लेने वालों से बेगार लेना—इनके कारण ऋण लेने वाला साहूकार का गुलाम-सा हो जाता है। इन्हीं कारणों से कुछ अर्थशास्त्री तो इस बात का यकीन करने लगे हैं कि देशी बैंकिंग प्रणाली को उखाड़ कर फेंके बिना हमारा कल्याण होना असम्भव है।

उनके गुण

किन्तु यह दृष्टिकोण बहुत निराशाजनक है और यह इस प्रणाली के गुणों की उपेक्षा करता है। देशी बैंकर आसान तरीकों के अनुसार काम करते हैं जिनको अनपढ़ व्यक्ति

आसानी से समझ लेते हैं। फिर भी उनका व्यवहार भी घरेलू होता है और वे अपर्याप्त जमानत पर या जमानत के अभाव में भी ऋण देते हैं। सबसे बड़ी-बात तो यह है कि गाँव के फजूलखर्ची और निर्धनता के रेगिस्तान में वे ही एकमात्र बचत और धन के स्रोत हैं और केवल उन्ही से ऋण मिल सकता है। यदि इस प्रणाली को उखाड़कर फेंक दिया गया और किसी दूसरी प्रणाली को इसके स्थान पर स्थापित न किया गया, तो बेचारे ऋण लेने वालों का बड़ा अहित होगा। यह सच है कि साहूकार ऊँची दर पर उधार देता है, किन्तु हमें यह न भुला देना चाहिए कि ऐसा करना जमानत के अपर्याप्त होने या न होने के कारण आवश्यक हो जाता है। "उसको दोष देना मानव-जाति की अपूर्णता का दोष देना है। हमें प्रणाली को दोष देना चाहिए, उस व्यक्ति को नहीं जिसे प्रणाली ने ढाला है।"

सुधार के लिए प्रस्ताव

अतः हमें इस प्रणाली को जारी रखना चाहिए, किन्तु इसके दोषों को दूरकर देना चाहिए। देशी बैंकरों को विभिन्न रीतियों द्वारा रुपया जमा करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। उन्हें व्याज की उचित दर लेनी चाहिए। यदि हम इस दिशा में उपयुक्त किन्तु नरम (moderate) कानून बनाया जाय और साहूकारों साख-समितियाँ (Co-operative Credit Societies) स्थापित कर दी जायें, तो आजकल की व्याज की ऊँची दर के कम होने में अवश्य सहायता मिलेगी। देशी प्रणाली को आधुनिक प्रणाली के समीप लाने की चेष्टा करना भी आवश्यक है। इसके विषय में विस्तारपूर्वक नीचे लिखा जाता है। कुछ और प्रस्ताव निम्नलिखित हैं : (१) देशी बैंकों को मिलाकर संयुक्त पूंजी के बैंकों में संगठित करना, (२) देशी बैंकों को मिलाकर सहकारी बैंक खोलना जो और कामों के साथ-साथ अपने सदस्यों की हुंडियों को बट्टे पर लें और उन्हें रिजर्व बैंक को बट्टे पर दें और (३) देशी बैंकों के व्यवसाय का बिल की दलाली को एक मुख्य अंग बनाना के

देशी बैंकरों को आधुनिक प्रणाली से संयुक्त करना

भारत में बैंकिंग के दो अलग-अलग क्षेत्र हैं : (१) ग्रामीण भाग जिनमें साहूकारों का बोलबाला है और जहाँ आधुनिक बैंक अभी प्रवेश नहीं कर पाये हैं और (२) शहरी भाग जिनमें आधुनिक बैंकों का प्रभाव है। इन दोनों क्षेत्रों में अभी कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं। इसका प्रभाव यह होता है कि शहरों में व्याज की दर कम और गाँवों में ऊँची बनी रहती है। शहर का बेकार रुपया गाँवों में नहीं जाने पाता, जहाँ वह किसानों के काम आ सके और व्याज की दर नीचे कर सके। साथ में यह भी बात है कि साहूकार रुपया जमा नहीं करते और किसानों को रुपया गाड़कर या गहनों के रूप में रखने की आदत पड़ गई है। यदि इन दोनों क्षेत्रों में सम्बन्ध स्थापित हो जाय, तो साहूकार भी रुपया जमा करने लगें और गाँवों का बेकार रुपया काम में आने लगे। अतः इन भागों को संयुक्त करना आवश्यक है।

इनको संयुक्त करने का काम अभी नहीं हो सका है। केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का प्रस्ताव था कि साहूकारों को यह अधिकार देना चाहिए कि वे अपनी हुंडियों को रिजर्व बैंक से भुना सकें और रिजर्व बैंक को उन्हें स्वीकार करना चाहिए। पर अभी इस दिशा में कुछ काम नहीं हुआ है।

§ ३ आधुनिक बैंकिंग प्रणाली

वर्तमान अवस्था—जब योरोप निवासियों ने भारत में प्रवेश किया तब उन्होंने

पाश्चात्य ढंग के आधुनिक बैंक स्थापित करना आरम्भ कर दिया। आजकल हमारे देश में ४७० बैंक काम कर रहे हैं (जिनमें से ७० सूचीवद्ध बैंक हैं) और उनकी कुल प्रदत्त पूंजी तथा कोष ७३ करोड़ रुपये के लगभग है। जैसा कि नीचे के कोष्टक से ज्ञात होगा कि देश के सबसे प्रमुख बैंक केवल १३५ हैं जिनमें से प्रत्येक की प्रदत्त पूंजी तथा कोष ५ लाख रुपये से अधिक है। अवशेष बैंक बहुत छोटे हैं और बैंकों की प्रगति में बहुत बाधक सिद्ध होते हैं।

सारिणी ३८

भारतीय बैंकों की पूंजी का ढांचा १९५४

प्रदत्त पूंजी तथा कोषों की मात्रा	बैंकों की संख्या	प्रदत्त पूंजी तथा कोष (करोड़ रुपये)
१. ५० हजार रुपये से कम	३६	०.१
२. ५० हजार रुपये से १ लाख रुपये	१११	०.८
३. १ लाख रुपये से ५ लाख रुपये	१९०	३०९
४. ५ लाख रुपये से अधिक	१३५	६६.९
योग	४७२	४७२.७

जमा इन बैंकों को ९०० करोड़ रुपये जमा के रूप में प्राप्त होता है। इसमें से ४५० करोड़ रुपये चालू खाते में, ३०० करोड़ रुपये मियादी खाते में और शेष १५० करोड़ रुपये बचत खाते में जमा होते हैं। यह भी जानने की बात है कि लगभग ३०० करोड़ रुपये व्यापारी जमा करते हैं; ४०० करोड़ रुपये व्यक्ति विशेष जमा करते हैं; और २०० करोड़ रुपये अन्य स्रोतों से आते हैं।

वर्गीकरण—सभी आधुनिक बैंक एक ही प्रकार का काम नहीं करते। यदि उनमें से कुछ व्यापार और वाणिज्य के लिए वित्त-प्रबन्ध करते हैं तो कुछ अन्य औद्योगिक वित्त में रुचि लेते हैं, तथा कुछ बैंक खेती के लिए धन का प्रबन्ध करते हैं। भारतीय बैंकों का निम्न रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है :

(क) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

(ख) व्यापारिक वित्त का प्रबन्ध करने वाले बैंक

(१) व्यापारिक बैंक
(२) भारत का स्टेट बैंक
(३) विनिमय बैंक

(ग) औद्योगिक वित्त का प्रबन्ध करने वाले बैंक

(१) औद्योगिक बैंक
(२) विनियोग ट्रस्ट बैंक
(३) वित्त प्रमंडल

पाँच भाग कर दिये गये थे और प्रत्येक भाग को पूंजी का एक हिस्सा दे दिया गया था। हर विभाग के निवासी निश्चित पूंजी तक शेयर खरीद सकते थे। किन्तु हाल में ही इस बैंक के राष्ट्रीयकरण (nationalisation) के (अर्थात् सरकार के बैंक का स्वामी होने के) लिए आन्दोलन चला जिसके परिणामस्वरूप जनवरी १, १९४९ को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक को खरीद लिया। पुराने शेयरहोल्डरों को हर १०० रुपये के शेयर के बदले में ११८ रु० १० आने दे दिये गये। अतः अब यह एक सरकारी संस्था है। इसकी पूंजी अब भी ५ करोड़ रुपये हैं, पर अन्तर यह हो गया है कि पहले शेयर जनता के पास थे पर अब वे सरकार ने खरीद लिए हैं।

इसका प्रबन्ध

बैंक के व्यवसाय का सामान्य निरीक्षण और संचालन (direction) एक डाइरेक्टरों के केन्द्रीय बोर्ड के अधीन है। इस बोर्ड के सन् १९४९ के सुधारने वाले कानून [Reserve Bank (Transfer to Public Ownership) Act, 1948 के अनुसार १४ सदस्य इस प्रकार होते हैं :

(१) १ गवर्नर और २ डिप्टी गवर्नर।
(२) ४ डाइरेक्टर जो चार स्थानीय बोर्डों[५] से केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी।
(३) ६ अन्य केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त डाइरेक्टर।
(४) १ केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त सरकारी अफसर।

इसके काम

हम रिजर्व बैंक के कामों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं : (क) केन्द्रीय बैंक के काम; (ख) साधारण बैंक के काम; (ग) निषेध किये हुए काम।

(क) केन्द्रीय बैंक के काम—अन्य समस्त केन्द्रीय बैंकों की भाँति रिजर्व बैंक भी निम्नलिखित काम करता है : (१) यह **सरकार का बैंकर** है। यह विभिन्न सरकारी संस्थाओं से रुपया लेता है और जमा करता है तथा उनका जितना रुपया जमा होता है उस सीमा तक उनके लिए भुगतान करता है। वह उनका विनिमय, रुपया भेजना, सार्वजनिक ऋण (Public Debt) का प्रबन्ध करता तथा अन्य बैंक-सम्बन्धी कार्य करता है। (२) यह बैंकों का बैंकर है। देश के अन्य बैंकों को कुछ नकद रिजर्व (Cash reserve) बैंक के पास अनिवार्य रूप से जमा करना पड़ता है और रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि संकट के समय वह इन बैंकों की सहायता करे। (३) यह **कागजी द्रव्य निर्गमित (Issue) करता** है। नोट निर्गमित करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को है। इसके दो विभाग हैं : बैंकिंग विभाग और निर्गम विभाग। निर्गम विभाग बैंकनोट निर्गमित करने का काम करता है। (४) यह रुपया-स्टर्लिंग विनिमय लगभग १ शि० ६ पें० के बराबर रखता है और इसके लिए इसे कुछ सीमाओं के अन्तर्गत स्टर्लिंग खरीदना और बेचना पड़ता है।

(ख) साधारण बैंक के काम—बैंक निम्नलिखित व्यापारिक बैंक के काम कर सकता है :

---

५. पहले पाँच Local Boards थे, पर अब इनकी संख्या केवल ४ हैं। ये बोर्ड उत्तरी क्षेत्र दक्षिणी क्षेत्र, पूर्वी क्षेत्र, और पश्चिमी क्षेत्र के हैं।

१. विना व्याज दिये रुपया जमा करना।

२. कुछ सीमाओं के अन्तर्गत विल आव एक्सचेंज और प्रामिसरी नोट खरीदना-वेचना और उनका फिर से वट्टा करना।

३. स्टाक, सोना, विल आदि को जमानत पर ९० दिन तक रुपया उधार देना।

४. शेड्यूल्ड या सूचीवद्ध वैंकों (Scheduled Banks) से कम से कम १ लाख रुपये की रकम की स्टर्लिंग खरीदना और वेचना।

५. राज्य सरकारों को तीन महीने तक ऋण देना।

६. ब्रिटिश सरकार की क्रय-तिथि से दस साल के अन्दर परिपक्व (Mature) होने वाली सिक्योरिटी तथा भारत सरकार, राज्य सरकार और स्थानीय संस्थाओं की सिक्योरिटी खरीदना और वेचना।

(ग) निषेध किये गये काम—वैंक को साधारण व्यापार करने की आज्ञा नहीं है। यह अचल सम्पत्ति (Immovable Property) को वन्धक रख कर रुपया उधार नहीं दे सकता। यह मुद्दती विल भी नहीं लिख सकता या स्वीकार कर सकता। यह जमा होने वाले रुपये पर व्याज भी नहीं दे सकता। यह रोक-थाम इसलिए की गई है कि वैंक स्वयं सुरक्षित रहे तथा अन्य वैंकों के साथ अनुचित स्पर्धा न कर सके ?

कृषि साख विभाग (Agriculturl Credit Department)

ऐक्ट के अनुसार वैंक ने एक कृषि साख विभाग भी खोला है। इस विभाग का उद्देश्य कृषि-सम्वन्धी ऋण समस्या का अध्ययन करना, कृषि के लिए द्रव्य-सम्वन्ध करने वाली संस्थाओं में सुधार करना और देशी वैंकों तथा आधुनिक वैंकिंग प्रणाली के वीच में घनिष्ठता स्थापित करना है। किन्तु अब तक इसने कोई खास काम नहीं किया है।

रिजर्व वैंक के काम का आलोचनात्मक मूल्यांकन

रिजर्व वैंक लगभग २० वर्षों से अपना काम सम्पन्न कर रहा है। इसने वित्त-सम्वन्धी स्थिरता, वैंकिंग सुधार तथा भारतीय वाजार की उन्नति का एक नया युग स्थापित किया है। केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों के लिए नीची व्याज की दर पर ऋण उगाहकर इसने वहुत सफलता प्राप्त की है, तथा ट्रेजरी विलों की विक्री भी इसने अच्छी प्रकार की है। यह रुपये के मूल्य को स्थिर रखने में भी सफल हुआ है। वित्त सम्वन्धी एवं वैंक सम्वन्धी समस्याओं में यह सरकार को उपयोगी सम्मति देता रहता है। देश के अन्दर सस्ते दर पर रुपये भेजने का इसने आयोजन किया है, व्याज की दरें घटाने में सहायता की है और देश में वैंक सम्वन्धी सुविधाएँ प्रोत्साहित की है। यह सच है कि यह अभी तक दो आवश्यकताओं को पूरी नहीं कर सका है—देश में विल वाजार विकसित करना और देशी वैंकों के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित करना। किन्तु इन कामों में काफी कठिनाइयाँ भी रही हैं। युद्ध के समय में और उसके पश्चात् जो द्रव्य प्रसार हुआ उसके लिए भी रिजर्व वैंक दोषीनही ठहराया जा सकता क्योंकि इस दिशा में रिजर्व वैंक सरकार का साधन मात्र रहा है। भारत में वैंकों का भविष्य इस वात पर निर्भर है कि रिजर्व वैंक किस प्रकार स्वस्थ और श्रेष्ठ रीतियाँ और परिपाटियाँ स्थापित करता है। अभी तक जो इसने काम किया है वह सन्तोषजनक है। हाल में तो इसने कृषि और उद्योगों के क्षेत्र में साख की सुविधाएँ वढ़ाने के लिए सराहनीय प्रयत्न किया है और इसके फलस्वरूप देश के आर्थिक विकास में सहायता मिलने की आशा की जा सकती है।

रिजर्व बैंक एवं ग्रामीण साख—रिजर्व बैंक सहकारी बैंकिंग में अब अधिक रुचि दिखाने लगा है। भूमि-बंधक बैंकों द्वारा निर्गमित डिबेंचरों की बिक्री में सहायता पहुँचा कर इसने उनके साथ गठबंधन कर लिया है। "ग्रामीण साख परीक्षा" समिति की सिफारिश को मानकर इसने यह नीति अपनायी है कि यदि ये डिबेंचर राज्य सरकारों द्वारा आश्वासित हैं, तो यह उन्हें सरकार सिक्योरिटियों के ही समान मान लेता है। इसने सहकारी बैंकों का जाँच करना भी आरम्भ कर दिया है। यह सहकारी बैंकों को अन्य प्रकार की सुविधाएं भी देने में सहायक हुआ है। जैसा बताया जा चुका है, ग्रामीण साख पुनर्गठन के आयोजन में रिजर्व बैंक अब ग्रामीण वित्त प्रणाली से सम्बन्धित हो गया है। वास्तव में हर राज्य में रिजर्व बैंक के परामर्श से सहकारी विकास का आयोजन बन रहा है। राज्य सरकारें इस प्रकार के बैंकों तथा भूमि-बंधक बैंकों का शेयर खरीदेंगी और ये बैंक आवश्यकता होने पर रिजर्व बैंक से ऋण भी ले सकते हैं। रिजर्व बैंक दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋण राज्य सहकारी बैंकों और भूमि-बंधक बैंकों को देगा। रिजर्व बैंक अल्पकालीन ऋण भी देगा और यदि ये बैंक अकाल, सूखा या अन्य किसी प्राकृतिक संकट के कारण उस ऋण को न लौटा सकें तो रिजर्व बैंक एक विशेष कोष के द्वारा उसे मध्यकालीन ऋण में परिवर्तित कर देगा।

रिजर्व बैंक और औद्योगिक वित्त—देश में हाल में ही जो औद्योगिक वित्त प्रमण्डल स्थापित हुए हैं उनकी भी रिजर्व बैंक सहायता कर रहा है। इसने उनकी पूंजी खरीदी है और उनको अपने विशिष्ट एवं अनुभवी कर्मचारी दिये हैं। रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार है कि वह इन प्रमण्डलों को उत्पत्ति तथा विपणन के लिए और कुटीर तथा लघुमाप्य उद्योगों के विकास के लिए अल्पकालीन ऋण दे।

रिजर्व बैंक और आर्थिक योजना—रिजर्व बैंक देश के आर्थिक विकास में प्रगतिशील कार्य कर रहा है। एक ओर तो इस देश में द्रव्य तथा साख की बढ़ती हुई मात्रा को रोकना पड़ता है जिससे कि आर्थिक योजनाओं की सफलता में बाधा न आवे; और दूसरी ओर इसे द्रव्य तथा साख की मात्रा को बढ़ाना भी पड़ता है जिससे कि विकास सम्बन्धी कार्यों में अड़चन न पड़े। इस प्रकार बैंक का काम दोतरफा हो गया है—एक तो इस देश की औद्योगिक व्यापार की योजनानुकूल वृद्धि में सहयोग देने के लिए साख की मात्रा को बढ़ाये रखना पड़ता है और दूसरी ओर उसे साख की अनुचित वृद्धि पर अंकुश भी लगाना पड़ता है। इस काम के लिए बैंक को सामान्य केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं, तथा भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत उसे और भी अधिकार दे दिये गये हैं।

§ ५. व्यापारिक वित्त का प्रबन्ध करने वाले बैंक

१. व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)

उनका स्वभाव—भारत में अधिकांश आधुनिक बैंक व्यापारिक बैंक हैं। वे देश के भीतरी व्यापार के लिए द्रव्य का प्रबन्ध करते हैं और इस सम्बन्ध में वे अल्पकालीन ऋण देते हैं। या यों कहिये कि वे चालू पूंजी (Working Capital) का प्रबन्ध करते हैं। अपनी पूंजी और जमा किये हुए रुपये के आधार पर अल्पकालीन साख का एक महान् भवन खड़ा करते हैं। उनके पास जो रुपया जमा किया जाता है वह माँगने पर देय होता है; इसलिए वे इस बात से सावधान रहते हैं कि कहीं उनका रुपया दीर्घकालीन ऋण में न

फँस जाय। अपने जमा करनेवालों की माँग को पूरा करने के लिए वे अपने धन को 'तरल' (liquid) रखते हैं।[६]

उनकी भारत में वर्तमान अवस्था—भारत में महान् व्यापारिक वैंक, जिनमें से प्रत्येक के पास २५ रुपये से अधिक धन राशि जमा के रूप में आती है और जो महान् साख कहा जाता है, निम्नलिखित हैं : (१) **सेन्ट्रल बैंक आफ इन्डिया** जिसको स्थापना सन् १९११ ई० में हुई ओर जो देश का सबसे बड़ा साहसी बैंक है, (२) **बैंक आफ इन्डिया** जो कि बहुत सावधान बैंक है और जिसकी बहुत कम शाखाएँ हैं, (३) **पंजाब नेशनल बैंक** जिसका जन्म १९ वीं शताब्दी में हुआ, (४) **बैंक आफ बड़ौदा** जिसकी स्थापना बड़ौदा रियासत के सहयोग से हुई और जिसका काम विशेषकर गुजरात और काठियावाड़ में फैला हुआ है, (५) **इलाहाबाद बैंक** जो कि देश का सबसे पुराना बैंक है क्योंकि इसकी स्थापना १८६५ में हुई थी और जिसको (P. and O. Banking Corporation) ने ले लिया जो स्वयं बाद को चार्टर्ड बैंक ने खरीद लिया; (६) **युनाइटेड कमर्शियल बैंक**, जो कि बिड़ला का उपक्रम है। (७) **इन्डियन बैंक**, जिसकी सन् १९२५ में स्थापना हुई और जिसने विशेपतया मद्रास में शीघ्र उन्नति की है। देश के अधिकांश बैंक व्यापारिक बैंकिंग का काम करते हैं। इन बैंकों की प्रगति लगातार समान रूप से उत्तरोत्तर नहीं हुई और न तो उन्होंने पर्याप्त संख्या में शाखाएँ ही खोली हैं। और न उन्होंने देश की आवश्यकताओं की ठीक प्रकार से पूर्ति ही की है।

व्यापारिक बैंकों की कठिनाइयाँ—हमारे देश में व्यापारिक बैंकों की इतनी धीमी उन्नति होने के कई कारण हैं : (१) उन्हें अभी तक सरकारी एवं अर्ध-सरकारी संस्थाओं से बहुत कम प्रोत्साहन और सहायता मिला है। (२) देश का व्यापार और उद्योग का एक बड़ा भाग अभी भी अभारतीयों के हाथ में है जो विदेशी बैंकों से सम्बन्ध रखना उचित समझते हैं। (३) पहले इन बैंकों को इम्पीरियल बैंक से स्पर्धा करनी पड़ती थी और अब स्टेट बैंक से स्पर्धा करनी पड़ती है। स्टेट बैंक को सरकारी होने के कारण बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त हैं। (४) ये बैंक बहुत-सा रुपया सरकारी सिक्योरिटियों में लगाते हैं और यह आशा करते हैं कि रुपये की कमी पड़ने पर सिक्योरिटी बेचकर तुरन्त ही धन एकत्र कर लेंगे; किन्तु भूतकाल में इन सिक्योरिटियों का आधार ऋण लेने में असफल रहा है। (५) बहुत से बैंकों का पूजी और कोष अपर्याप्त है, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ऐसे छोटे और अकुशल बैंकों की इतनी बड़ी संख्या में विद्यमान होना भारतीय बैंकिंग प्रणाली के विकास में बाधा डालता है।

दोष—व्यापारिक बैंकों को अपनी अवस्था सुधारने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। उनमें से प्रायः सभी अँग्रेजी में काम करते हैं और उनके चेक तथा रुक्के और बहियाँ अंग्रजी में ही होती हैं। यह भी कहा जाता है कि वे पश्चिमी बैंकों की भद्दी नकल होते हैं, तथा बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि या तो वे पिकनिक के स्थान हैं या प्राचीन काल के भारतीय बाजार हैं। यह भी दोषारोपण किया जाता है कि वे अपने लाभ का अधिकांश भाग लाभांश (Dividend) के रूप में बाँट देते हैं और उसे काम बढ़ाने के लिए प्रयुक्त नहीं करते। इनके डायरक्टर भी सदैव व्यापारी या वित्त विशेषज्ञ नहीं होते। इन बैंकों में पारस्परिक द्वेष भी होता है और संकट के समय वे एक दूसरे को सहायता नहीं करते। वे ऋणियों को उनकी व्यक्तिगत साख पर रुपया भी नहीं देते। व्यवहार में इस प्रकार दिया जाने वाला ऋण यदि ऋणी असंशयपूर्ण और ठोस अवस्था के हों, उतना ही सुर-

---

६. तरलता से आशय नकदी में शीघ्र परिवर्तनशीलता है।

क्षित होता है जितना कि और कोई ऋण। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने ग्राहकों के विषय में व्यवस्थापूर्वक साख सम्बन्धी सूचना एकत्र करने का कोई प्रयास नहीं किया है। यह भी आवश्यक है कि वे बिल बनाने की सुविधा देकर बिलों का प्रयोग लोकप्रिय बनाने की चेष्टा करें। उन्हें चेकों के प्रयोग को भी लोकप्रिय बनाने के लिए सचेष्ट रहना चाहिये।

सुधार के सुझाव—(क) सरकार को इन बैंकों की सक्रिय सहायता और उनके प्रोत्साहन के लिए उपयुक्त नीति अपनानी चाहिये और जिस प्रकार सहकारी बैंकों को सहायता दी जाती है, उसी प्रकार उनकी भी कुछ मदद करनी चाहिये। (ख) उनमें आपसी हानिकारक स्पर्द्धा की इतिश्री करने के लिए और पारस्परिक मैत्री भाव पैदा करने के लिए एक अखिल भारतीय समिति होनी चाहिए। यह समिति सामान्य हित की बातों को आगे बढ़ा सकेगी। (ग) इन बैंकों को कभी-कभी अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण देने में कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि हिन्दू और मुसलमान विधान इस कार्य में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं। इन विधानों का उपयुक्त सुधार करना अभीष्ट है। (घ) बैंकों को अपने ग्राहकों को यह सुविधा देनी चाहिये कि वे हिन्दी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग कर सकें। (ङ) निर्बल बैंकों को या तो बन्द कर देना चाहिये या उनको बड़े बैंकों के साथ मिला देना चाहिये। (च) उन्हें स्थानीय व्यापारियों की सुविधा के अनुसार काम करने के घन्टे बदल देने चाहिये।

२. स्टेट बैंक आव इंडिया (State Bank of India)

भारत सरकार ने दिसम्बर १९५४ में इम्पीरियल बैंक आव इंडिया के राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) की घोषणा की और इसके अनुसार अप्रैल १९५५ में उन्होंने स्टेट बैंक बिल लोकसभा में उपस्थित किया। यह कानून पास हो चुका है और जुलाई १९५५ मे इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है।

इम्पीरियल बैंक की स्थापना—इम्पीरियल बैंक जनवरी, १९२१ में इम्पीरियल बैंक आव इंडिया एक्ट के अन्तर्गत स्थापित हुआ। यह देश का सबसे शक्तिशाली व्यापारिक बैंक हो गया। सन् १९२१ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर यह शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में बनाया गया और इससे आशा थी कि यह रिजर्व बैंक की भाँति काम करेगा। अतः इसके नियंत्रण और प्रबन्ध के लिए एक्ट में विशेष मसौदे शामिल किये गये। नियंत्रण और प्रबन्ध सेन्ट्रल बोर्ड आव गवर्नर्स को सौंपा गया और तीन स्थानीय बोर्ड कलकत्ते, बम्बई और मद्रास में स्थापित किये गये। इस बैंक को ६ महीने से अधिक रुपया उधार देने और विदेशी व्यापार के लिए द्रव्य प्रबन्ध करने की मनाही कर दी गई। इसके मुख्य काम निम्नलिखित थे : (१) सहकारी संस्थाओं के बैंकर का काम करना; (२) दूसरे बैंकों का बैंकर होना; (३) स्टाक, सरकारी सिक्योरिटी, डिबेंचर, माल आदि की जमानत पर (कुछ सीमाओं के अन्दर) ऋण देना; (४) बिल आव एक्सचेंज तथा अन्य बेचान साध्य रुक्कों को लिखना, स्वीकार करना, बट्टे पर भुनाना, खरीदना और बेचना; (५) रुपया जमा करना और बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षा के लिए लेना; (६) कुछ और फुटकर बैंकिंग के काम करना। एक्ट ने बैंक पर यह उत्तरदायित्व रक्खा कि वह स्थापित होने के समय से पाँच वर्ष के अन्दर सौ शाखा, खोले। यह शर्त बैंक ने पूरी कर दी।

इम्पीरियल बैंक के दोष—इस एक्ट के दोषपूर्ण होने के कारण तथा इस बैंक के शासन की भावना दूषित होने के कारण, इम्पीरियल बैंक वैसा काम न कर सका जैसा कि

आशा थी। इसे कुछ ऐसे विशेषाधिकार दिये गये जो केवल रिजर्व बैंक को ही दिये जाते हैं। किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि इसे अन्य बैंकों से स्पर्धा करने से नहीं रोका गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इसने अपने विशेष अधिकारों को देश के अन्य बैंकों पर विजय पाने और उनको दबाने के लिए प्रयुक्त किया। यह न तो कभी पूरा-पूरा रिजर्व बैंक ही हुआ और न खालिस व्यापारिक बैंक ही, प्रत्युत यह दोनों का एक वर्णसंकर रूप था और इसकी दोनों स्वरूपों में कड़ी आलोचना हुई।

इम्पीरियल बैंक में सुधार का प्रयत्न—इस गलती का सुधार सन् १९३५ में हुआ जब कि रिजर्व बैंक आव इंडिया, केन्द्रीय बैंक के रूप में काम करने के लिए स्थापित हुआ। उस समय रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंकिंग के सारे काम इम्पीरियल बैंक से छीन लिये। इसने रिजर्व बैंक के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार यह रिजर्व बैंक का एजेण्ट (sole agent) हो गया। इसके लिए इम्पीरियल बैंक एक्ट में आवश्यक परिवर्तन करने पड़े। इम्पीरियल बैंक पर छः महीने से अधिक ऋण न देने और विदेशी व्यापार के लिए द्रव्य-प्रबन्ध न करने के प्रतिबन्ध लगाये गये थे, वे हटा दिये गये। यह आशा की जाती थी कि अपने इस नये स्वरूप में इम्पीरियल बैंक देश की सच्ची सेवा करेगा। किन्तु यह भी आशा झूठी साबित हुई। बैंक अँग्रेजों के हाथ में रहा और इसकी नीति देश के हित के अनुकूल नहीं रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार इस बैंक में सुधार करने की बात सोचने लगी।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का निश्चय—रिजर्व बैंक आव इंडिया ने सन् १९५१ में एक ग्रामीण साख जाँच समिति (Rural Credit Survey Committee) बैठाई जिसने अपनी रिपोर्ट १९५४ में समर्पित की। इस कमिटी ने लिखा कि ग्रामीण ऋण-व्यवस्था के लिए देश में एक सरकारी व्यापारिक बैंक स्थापित करना आवश्यक है जो सहकारी तथा अन्य बैंकों को रुपया मँगाने-भेजने की विस्तृत सुविधाएँ प्रदान करे। भारत सरकार ने इस सिफारिश को मान लिया और उन्हें इम्पीरियल बैंक तथा कुछ सरकार-सम्बन्धित (State associated) बैंकों को मिलाकर एक स्टेट बैंक आव इंडिया स्थापित करने का निश्चय किया। यह काम कई सोपानों में बाँट दिया गया :

(१) सबसे पहले रिजर्व बैंक क्षतिपूर्ति (Compensation) देकर इम्पीरियल बैंक को ले लेगा।

(२) फिर रिजर्व बैंक 'स्टेट बैंक आव इंडिया' नाम का बैंक स्थापित करेगा और इम्पीरियल बैंक की सब सम्पत्तियाँ और देनदारियाँ (assets and liabilities) इस बैंक को हस्तान्तरित कर देगा।

(३) इसके बाद सरकार-सम्बन्धी बैंकों को भी स्टेट बैंक आव इंडिया में मिला दिया जायगा।

इस निर्णय के अनुसार सबसे पहले इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की योजना—इसके लिए भारत सरकार ने एक नया कानून बनाया है। इसके अनुसार इम्पीरियल बैंक के पूर्ण प्रदत्त शेयर्स (fully paid up shares) रु० १७६५–१० की दर से खरीद लिये गये। जुलाई १, १९५५ को इम्पीरियल बैंक का नाम स्टेट बैंक आव इंडिया हो गया। इस बैंक का प्रबन्ध एक

बोर्ड आव डाइरेक्टर्स के हाथ में है जिसके २० सदस्य हैं। स्टेट बैंक के ५५% शेयर रिजर्व बैंक ने अपने पास रखकर शेष जनता को बेच दिये। स्टेट बैंक के शेयर पर ४% से अधिक लाभांश (dividend) घोषित नहीं किया जा सकता। स्टेट बैंक को चार साल मे ५०० नयी शाखाएँ खोलनी पड़ेंगी और ये अधिकतर ग्रामीण क्षेत्रों में खोली जायेंगी। स्टेट बैंक देश का सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक हो जायगा। स्टेट बैंक अपने ग्राहकों के खातों को गोपनीय ढग पर रक्खेगा और सरकार को यह अधिकार नहीं है कि वह उन खातों की देखभाल करे।

स्टेट बैंक आव इण्डिया के लाभ—स्टेट बैंक आव इंडिया के कई लाभ हैं। इसका प्रधान लाभ यह है कि सहकारी बैंकों को रुपया मँगाने-भेजने की सुविधाएँ तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करेगा जिससे ग्रामीण ऋण व्यवस्था को बल मिलेगा। इसके अन्य लाभ ये होंगे : (अ) यह बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों को इम्पीरियल बैंक भी अधिक सुविधा दे सकेगा क्योंकि इसकी शाखाएँ अधिक होंगी। (आ) स्टेट बैंक के द्वारा रिजर्व बैंक साख की मात्रा तथा काम की दर नियंत्रण कर सकेगा ।(इ) सरकारी बैंक होने के कारण गाँव वाले इस पर विश्वास करेंगे और रुपया जमा करने में सोच-विचार नहीं करेंगे। (ई)यह बैंक छोटे और अशक्त बैंको का ले लेगा जिससे बैंकों की असफलता (Failure) कम हो जायगी। (उ) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सुधार तथा बैंकिंग प्रणाली के सशक्त होने से व्यक्तिगत उपक्रमकारकों (private entrepreneur) को भी लाभ होगा।

३. विनिमय (Echange) बैंक

स्वभाव—जिस प्रकार व्यापारिक बैंक देश के भीतरी व्यापार के लिए मुख्य प्रबन्ध करते हैं उसी प्रकार विनिमय बैंक देश के विदेशी व्यापार के लिए ऋण-प्रबन्ध करते हैं। उनके काम निम्नलिखित हैं : (१) वे आयात बिलों का रुपया उनकी देय तिथि (due date) पर वसूल करते हैं (२) वे विदेशों में देय(payable), ड्राफ्ट और टेली-ग्राफिक ट्रांस्फर बचते हैं। (३) वे विदेशों में ड्राफ्ट और टलीग्राफिक ट्रांस्फर खरीदते हैं जिनका भुगतान भारत मे होने को होता है (४) वे सोना, चाँदी तथा विदेशी चलन का आयात करते हैं।

वर्तमान अवस्था

भारत में अधिकांश विदेशी विनिमय बैंक विदेशियों के हैं। आजकल हमारे देश में १५ विनिमय बैंक हैं जिनमे से ७ के प्रमुख आवास(Head Offices)इंगलैन्ड में हैं, २ के अमरिका में, २ के हालैण्ड में और शेष ४ मे से १-१ के फ्रांस, पुर्तगाल, चीन, और हागकाग मे हैं। उनमे से कुछ बैंक (जैसे कि चार्टर्ड बैंक, नेशनल बेंक, मर्केन्टाइल बैंक, ग्रिडले ऐंड कम्पनी और इस्टर्न बैंक) अपने कुल व्यापार का अधिकांश भाग भारत मे करते हैं और कुछ अन्य बैंक (जैसे अमेरिकन एक्प्रेस कम्पनी, लायड्स बैंक, नीदरलैण्ड ट्रेडिंग सोसाइटी, नेशनल सिटी बैंक आव न्यूयार्क, बैंक आव चायना तथा हांगकांग ऐंड शंघाई बैंक) अपना अधिकाश व्यापार विदेशों मे करते हैं। यह अभाग्य का विषय है कि अभी तक बहुत थोड़े से भारतीय बैंकों ने इस क्षेत्र मे कदम बढ़ाया है।

विदेशों में कार्य करने वाले बैंक—१९५४ के अन्त में २४ सूचीबद्ध बैंक विदेशों में काम करते थे। इन देशों में उनके लगभग १०० कार्यालय थे। वे बाहर कुल मिलाकर ७० करोड़ रुपये की धन-राशि जमा के रूप में प्राप्त करते हैं उनकी उन्नति अभी तक बहुत सीमित हुई है।

सारिणी ३९

भारतीय बैंकों के विदेशों में कार्यालय, १९५४

देश	बैंकों की संख्या	कार्यालयों की संख्या
१. पाकिस्तान	२४	६३
२. मलाया	४	१२
३. ब्रह्मा	५	९
४. इंगलैण्ड	४	४
५. पूर्वी अफ्रीका	२	७
६. अन्य देश	७	८
योग	४६	१०३

भारतीय विनिमय बैंकों की कठिनाइयाँ—भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय का काम करने में कोई वैधानिक बाधा नहीं है। वास्तव में कुछ समय पूर्व एलायड बैंक आफ शिमला तथा टाटा बैंक केवल यही काम करने के लिए स्थापित किये गये थे। किन्तु वे दोनों निष्फल हुए। भारतीय बैंक सुदृढ़ और अनुभवी विदेशी बैंकों के सामने स्पर्धा में ठीक नहीं उतर पाते। इन बैंकों की और देशों में शाखाएँ न होने के कारण भी कठिनाइयाँ हुई और उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उनको वित्त-सम्बन्धी संसाधन पर्याप्त सीमा तक प्राप्त नहीं थे। उनके पास शिक्षित तथा अनुभवी कर्मचारियों का भी अभाव था और उनमें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि आरम्भ में कुछ वर्षों तक होने वाली हानि को सहन कर सकें।

विदेशी बैंकों के दोष—विदेशी बैंकों के विरुद्ध बहुत-सी शिकायतें सुनी जाती हैं। उन्हें विदेशी व्यापार के वित्त-प्रबन्ध का एकाधिकार प्राप्त है, तथा वे भारतीय व्यापारियों के विषय में साख-सम्बन्धी सूचना देने में सच्चाई तथा न्याय से काम नहीं लेते। इसके अतिरिक्त वे विदेशी व्यापारियों को भावी भुगतान की प्रतिज्ञा पर आयात के रुक्के दे देते हैं, किन्तु भारतीय व्यापारियों को पूरा भुगतान करने पर ही ऐसा रुक्का सौंपते हैं। उनकी भावना भारतीय जहाजी तथा बीमा व्यवसायों को हतोत्साहित करने की ही रहती है। यह भी कहा जाता है कि वे भारत में अपर्याप्त नकद कोष रखते हैं। यह बहुधा देखा गया है कि वे देश, के भीतरी भागों में भी अपनी शाखाएँ खोल लेते हैं और भारतीय बैंकों को आगे नहीं बढ़ने देते।

भारतीय बैंकों को प्रोत्साहन—यह अनुभव किया गया है कि इस क्षेत्र में भारतीय बैंक बिना सरकारी सहायता एवं सहयोग के सफल नहीं हो सकते। स्टेट बैंक अब इस काम को आरम्भ कर सकता है। भारत सरकार स्वयं एक अलग भारतीय विनिमय बैंक स्थापित कर सकती है। यह भी सम्भव है कि जिन देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध हैं उन देशों के बैंक भारतीय बैंकों से मिलकर संयुक्त बैंक स्थापित करें। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में इन दशाओं में कुछ काम हो सकेगा।

५. औद्योगिक वित्त का प्रवन्ध करने वाले वैंक

(१) औद्योगिक वैंक

स्वभाव—औद्योगिक वैंकों का काम उद्योगपतियों के लिए लम्वे समय के लिए द्रव्य का प्रवन्ध करना है। जिस प्रकार कि व्यापारिक वैंक चालू पूंजी (working capital) का प्रवन्ध करते हैं, उसी प्रकार औद्योगिक वैंक स्थिर पूंजी (fixed capital) प्रदान करते हैं। क्योंकि इन्हें लम्वे समय तक ऋण देना होता है, इसलिए वे आकर्षक व्याज देकर स्थिर खाते (fixed deposit) में ही रुपया जमा करते हैं। नई औद्योगिक कम्पनियों के शेयरों की विक्री का आश्वासन (underwriting) देकर और स्टाक तथा वांड वेचकर वे पूंजी एकत्रित करने में सहायक होते हैं। स्पष्टतया हमारे देश के लिए, जिसे थोड़े ही समय में इस प्रकार के वैंक उंगली पर गिने जा सकते हैं। स्वदेशी आन्दोलन की लहर में वहुत से औद्योगिक वैंक खुले, किन्तु संकट के समय उनके पास पूंजी की कमी हो गई और इस कारण वे फेल हो गये। पंजाव के वैंकों के फेल हो जाने का कारण यह था कि उन्होंने थोड़े समय के लिए रुपये जमा करके उसके आधार पर लम्वे समय के लिये ऋण देने की गलती की। किन्तु अव हमें ऐसे वैंकों को वड़ी संख्या में स्थापित करना है।

उन्नति के काम—आजकल हमारे देश में वहुत थोड़े औद्योगिक वैंक हैं। जव उद्योगों को अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता पड़ती है, तो वह उन्हें व्यापारिक वैंकों से मिल जाती है; किन्तु दीर्घकालीन ऋण उन्हें आसानी से नहीं मिल पाता। ऐसा ऋण उन्हें औद्योगिक वैंक ही दे सकते हैं जो कि हमारे देश में नहीं पाये जाते। देश के इतिहास में कुल मिलाकर १२ औद्योगिक वैंक सन् १९१७ और सन् १९२९ के वीच में स्थापित हुए, किन्तु उनमें से प्रत्येक एक अल्प-आयु के पश्चात् समाप्त हो गया। इसके कई कारण थे। उनके पास आवश्यक विशिष्ट ज्ञान नहीं था और न उन्हें पर्याप्त अनुभव ही प्राप्त था। इस कारण उन्होंने असाववानी से ऋण देना आरम्भ कर दिया और थोड़े से ही उद्योगों या कारखानों में अपना वहुत सा रुपया लगा दिया। इनके कुछ संचालक वहुत ही अयोग्य थे। इन वैंकों की निष्फलता ने इस उपक्रम को वड़ा ही हतोत्साहित किया।

सुझाव—यह अभीष्ट होगा कि सरकार स्वयं औद्योगिक वैंक स्थापित करे। आजकल सार्वजनिक क्षेत्र का देश में महत्व वढ़ रहा है और सरकार वैंकों के काम में निर्भयता से हाथ वटा सकती है।

(२) विनियोग ट्रस्ट (Investment Trusts)

स्वभाव—विनियोग ट्रस्ट शेयर और डिवेंचर वेचकर धन एकत्रित करते हैं और उसको फिर विभिन्न औद्योगिक उपक्रमों में विनियोजित कर देते हैं।

वर्तमान अवस्था—भारत में सर्व प्रथम ट्रस्ट सन् १९२३ में स्थापित हुआ, जिसका नाम "इन्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट" था। इसके पश्चात् इस प्रकार की और भी कई संस्थाएँ स्थापित की गईं। द्वितीय महायुद्ध के समय में इस आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन मिला क्योंकि मैनेजिंग एजेण्टों ने इसमें रुचि दिखाई। वास्तव में, अधिकांश ट्रस्ट मैनेजिंग एजेन्टों ही ने चलाये हैं और उनका विनियोग उन फर्मों में होता है, जिनसे मैनेजिंग एजेण्ट्स सम्वन्वित होते हैं।

(३) उद्योगों के लिए वित्त प्रमण्डल (Finance Corporation)

युद्धोपरान्त समय में भारत सरकार ने औद्योगिक वित्त प्रदान करने के लिये विशेष प्रकार की साख संस्थाएँ स्थापित करने का प्रबन्ध किया। वास्तव में, इन संस्थाओं के बन जाने से औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में एक नया अध्याय जुड़ गया है।

भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation of India)—यह प्रमण्डल उस अधिनियम के अन्तर्गत बना है जो कि जुलाई १, १९४८ को कार्यान्वित हुआ। इसका प्रधान उद्देश्य बड़े पैमाने के औद्योगिक उपक्रमों के लिए वित्त-प्रबन्ध करना है। यह राष्ट्रीय सार्वजनिक उद्योगों के लिए वित्त प्रबन्ध नहीं करता। यह व्यक्तिगत औद्योगिक उपक्रमों के द्वारा लिये जाने वाले ऋण के सम्बन्ध में गारण्टी देता है और स्वयं भी ऐसे उपक्रमों को ऋण देता है। यह जमा स्वीकार नहीं करता और न कम्पनियों के शेयर ही खरीद सकता है। केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, अन्य बैंकों, बीमा कम्पनियों और सहकारी बैंकों ने मिलकर इसकी ५ करोड़ रुपये की पूंजी एकत्रित की है। सन् १९४८-५६ में इसने २०० औद्योगिक कम्पनियों को ४३ करोड़ रुपये के रूप में दिये।

"राज्य वित्त प्रमण्डल" (State Finance Corporations) बहुत से राज्यों ने सन् १९५१ के अधिनियम के अन्तर्गत वित्त प्रमण्डल स्थापित किये हैं। इनकी शेयर पूजी ५० लाख रुपये से लेकर ५ करोड़ रुपये तक होती है। उनकी पूंजी का २५ प्रतिशत भाग जनता ले सकती है और शेष राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, तथा अन्य संस्थाएँ लेती हैं। ये प्रमण्डल छोटे उद्योगों को वित्त देते हैं। उनका काम उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि भारतीय वित्त प्रमण्डल का। आजकल इस प्रकार के १२ राज्य प्रमण्डल काम कर रहे हैं।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमण्डल (National Industrial Development Corporation)—इसकी सन् १९५४ में व्यक्तिगत कम्पनी के रूप में स्थापना हुई और इसकी पूंजी एक करोड़ रुपये है जिसको केन्द्रीय सरकार ने दिया है। इसका प्रधान उद्देश्य उन उद्योगों को वित्त देना है जो कि व्यक्तिगत उपक्रमों के लिए बहुत जोखिम के हैं। विचार यह है कि ऐसे उद्योग सरकार स्वयं चलावे और बाद को व्यक्तिगत उद्योगपतियों को उन्हें सौंप दिया जाय। यह कारपोरेशन उन कम्पनियों को प्राथमिकता देती है जो उत्पादक माल और मशीन बनती है।

औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल (Industrial Credit and Investment Corporation)—यह प्रमण्डल व्यक्तिगत क्षेत्र में स्थापित औद्योगिक कम्पनियों को वित्त देने के लिए सन् १९५५ में बना। इसकी अधिकृत पूंजी २५ करोड़ रुपये है यद्यपि इसकी वर्तमान निर्गमित पूँजी केवल ५ करोड़ रुपये ही है। २ करोड़ रुपये की पूंजी बैंक और बीमा कम्पनियों ने ली है; जनता ने डेढ़ करोड़ की इंगलैंड के विनियोजकों न १ करोड़ की और अमेरिका के विनियोजकों ने ५० लाख रुपये की। भारत सरकार ने इसे साढ़े ७ करोड़ रुपये ऋण देना स्वीकार किया है जो ऋण १५ साल के बाद देय होगा और जो ब्याज से मुक्त होगा। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भी इस प्रमण्डल को ऋण देने का वचन दिया है। इसका मुख्य उद्देश्य उद्योग के व्यक्तिगत क्षेत्र का आधुनिककरण है। यह नये निर्गमित शेयरों को बेचने का भार अपने ऊपर ले लेगा, ऋण देगा और विशिष्ट एवं प्रशासकीय सहायता भी करेगा।

§ ६. खेती के लिये वित्त का प्रबन्ध करने वाले बैंक

(१) भूमि-बंधक (Land Mortgage) बैंक

भूमि-बन्धक बैंकों का काम किसानों को उनकी भूमि को बन्धक रखकर स्थायी सुधार के लिए ऋण देना या स्थिर कृषि-सम्बन्धी पूंजी प्रदान करना है।[७] खेती के सम्बन्ध में वे ठीक वैसा ही काम करते हैं। जैसा ध्योद्योगिक बैंक उद्योग केसम्बन्ध भारत में भूमि-बन्धक बैंक बहुत थोड़े हैं। उनमें अधिकांश सहकारी समिति ऐक्ट के अन्तर्गत स्थापित किये गये हैं। हमें इस प्रकार के और भी बैंकों की आवश्यकता है।

(२) सहकारी साख-संस्थाएं[८]

सहकारी बैंक और सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों को ऋण देने के लिए सहकारी समिति ऐक्ट के अन्तर्गत स्थापित होती हैं। सामान्यतया वे किसानों और कारीगरों को अल्पकालीन ऋण देती हैं। सहकारी ऋण संस्थाएँ तीन भागों में बांटी जा सकती हैं:

(१) प्रारम्भिक समितियाँ (Primary Societies),
(२) केन्द्रीय बैंक (Central Banks), और
(३) राज्य बैंक (state Banks)

प्रारम्भिक समितियाँ—ये देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं और गरीब किसान और कारीगरों के साथ, जिनको वे ऋण देती हैं, उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये ऋण लेनेवाले और न लेनेवाले दोनों ही की स्थानीय संस्थाएँ होती हैं। इनके सदस्यों का उत्तर-दायित्व सामान्यतया असीमित होता है जिससे कि वे ऋण देते समय सावधानी से काम लें। वे पूजी जमा और प्रवेश फीस के रूप में इकट्ठा करती हैं। सहकारी केन्द्रीय बैंक, जिनके साथ सम्बन्धित (affiliated) होती हैं, उनके द्वारा जमा किया हुआ रुपया भी इनके लिये काफी महत्व का होता है। ऋण केवल सदस्यों को ही दिया जाता है।

सहकारी केन्द्रीय बैंक—ये जिलों से सम्बन्धित संस्थाएँ हैं। प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय बैंक होता है। अपने जिले के सहकारी साख समितियों को वे संगठित और नियंत्रित करते हैं और उनको द्रव्य सम्बन्धी सहायता करते हैं। उनके पास रुपया उनकी पूंजी, जनता द्वारा जमा कराई गई रकम और राज्य सहकारी बैंक द्वारा दिये गये द्रव्य से आता है।

सहकारी राज्य बैंक—एक राज्य के सारे केन्द्रीय बैंक उस राज्य के सहकारी राज्य बैंक से सम्बन्धित होते हैं। अतः राज्य बैंकों को केन्द्रीय बैंकों की सभा कहा जा सकता है। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि एक अखिल भारतीय सहकारी बैंक स्थापित किया जाय जो समस्त राज्य बैंकों के कामों को सुसंगठित कर सके और उनकी सहायता भी कर सके।

सहकारी साख-आन्दोलन ने किसी बड़े पैमाने पर अच्छे परिणाम अभी नहीं दिखाये हैं, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि इसका कोई अच्छा नतीजा हुआ ही नहीं है। सहकारी साख-संस्थाएँ नीची व्याज की दर पर ऋण देती हैं और इस प्रकार निर्धन

---

७ ऋण के भुगतान के लिए भी दे उनका उधार देते हैं।
८ अध्याय १७ में इस विषय पर इसका सविस्तार वर्णन किया गया है।

व्यक्तियों को व्याज अदा करने में कुछ बचत हो जाती है। अनुमान लगाया गया है कि सहकारी साख समितियों ने इस प्रकार लगभग १ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की बचत कराई है। इसके अतिरिक्त, सहकारी साख समिति साख पर नियंत्रण रखती है और ऋण पर रोक-थाम करती है और साहूकार से बहुत अच्छी है, क्योंकि साहूकार आसानी से ऋण देकर ऋण लेना प्रोत्साहित करता है। वास्तव में बहुत-सी जगह ऋण-समितियों ने साहूकारों का अच्छा मुकाबला किया है और उन्हें व्याज की दर घटाने पर मजबूर किया है। ऋण के भुगतान के मामले में भी उन्होंने, विशेषतया भूमि बन्धक बैंक सहकारी सिद्धान्त पर खोलकर कुछ काम अवश्य किया है। (डार्लिंग (Darling) महाशय के शब्दों में, सहकारी आन्दोलन किसान के जीवन की भीतरी और बाहरी खतरों से रक्षा करने का नया स्वरूप है जिसने पुराने ग्रामीण सामूहिक जीवन का, जो किसान की शोषण (Exploitation) से रक्षा करता था, स्थान ग्रहण कर लिया है। इस आन्दोलन ने बैंकिंग की आदत को भी अधिक लोकप्रिय बनाया है और बहुत सी बेकार धन-राशियों को पूंजी में बदल दिया है। यह सच है कि आन्दोलन में बहुत से दोष हैं; किन्तु हम आशा करते हैं कि ये दोष धीरे-धीरे दूर हो जायेंगे ।

§ ७ सेविंग्स या बचत बैंक

सेविंग्स या बचत बैंक का काम साधारण व्यक्तियों की थोड़ी-थोड़ी बचत को आकर्षक व्याज देकर एकत्रित करना और रुपये का लाभदायक दिशाओं में विनियोग (investment) करना है। व्यापारिक बैंक में अधिकतर सेविंग्स बैंक का एक अलग विभाग होता है और डाकखानों में भी सेविंग्स बैंक का हिसाब रक्खा जाता है। डाकखाने सरकारी संस्थाएँ हैं और जनता का उन पर अधिक विश्वास है और वे बहुत बड़ी तादाद में हैं भी। इसलिए उनका महत्व दूसरे प्रकार के सेविंग्स बैंकों की अपेक्षा अधिक है। इनमें व्याज की दर बहुत थोड़ी होती है। कुछ बैंक सेविंग्स बैंक में जमा करनेवालों को चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा भी प्रदान करते हैं।

सारांश

भारतीय द्रव्य बाजार में प्राचीन बैंकर, आधुनिक बैंक तथा रिजर्व बैंक शामिल हैं। प्राचीन देशी बैंकर या तो बैंकर होते हैं या साहूकार। इनके अनेक दोष हैं। अतः इनका सुधार करना अभीष्ट है। रिजर्व बैंक सरकारी बैंक है और यह केन्द्रीय बैंक के विभिन्न काम करता है। इसने वित्त-सम्बन्धी स्थिरता, बैंकिंग सुधार तथा व्यापार की उन्नति का एक नया युग स्थापित किया है। आर्थिक योजना के प्रवेश के समय से रिजर्व बैंक ने अपना दृष्टिकोण विस्तृत किया है। व्यापारिक वित्त का प्रबंध करने वाले बैंकों में व्यापारिक बैंक, स्टेट बैंक तथा विनिमय बैंक आते हैं। औद्योगिक वित्त-प्रबंध करने वालों में औद्योगिक बैंक, विनियोग ट्रस्ट तथा औद्योगिक वित्त मंडलों की गणना होती है। खेती के लिये वित्त-प्रबंध करने वाले बैंकों में भूमि-बंधक बैंक तथा सहकारी साख संस्थाएँ आती हैं।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकेन्डरी

1. What are the main services which the Reserve Bank of India performs for the Indian money market ? (1958).

2. Write a note on inflation in post war period in India. (1958).

3. Briefly describe the chief constituents of the Indian money market (1957).

4. What are the main functions of the Reserve Bank of India ? (1957).

5. What are the chief constituents of Indian money market ? Describe them fully ? (1956).

6. Write a note on indigenous bankers (1956).

7. Write a note on the present position of rupee (1955).

8. Describe the main functions of the Reserve Bank of India. (1955.)

9. What functions are performed by indigenous bankers ? Are they more important than the joint Stock Banks in our economic life ? (1955).

10. Give an idea of the business or indigenous bankers in India. Discuss their importance in the economic life of the country. (1954).

पंजाब, इन्टर

11. What is being done by the Reserve Bank of India and the State Bank of India to provide and promote rural credit ? (1958).

12. Distinguish between the functions of the Reserve Bank of India and State Bank of India. (1956).

13. Give the main functions of the joint stock commercial banks. Are they of any service to Industry ? How does the Reserve Bank of India help them. (1955).

14. Write notes on exchange banks and land Mortgage Banks. (1954)

जम्मू एन्ड काश्मीर, इंटर आर्ट्स

15. Point out the main defects in the Indian Banking system, what has been done in recent years to remove them ? (1955).

16. What are the main functions of the Reserve Bank of India ? How does it help the agriculturist. (1954).

17. Consider the problem of indigenous banking in India from the point of view of (*a*) rural indebtedness (*b*) agriculrtual financing or relationship with the Reserve Bank of India. (1952).

18. Write a note on Inflation in the country (1952).

19. Enumerate the different types of banks that are found in India and discuss the place of indigenous bankers. (1950).

20. Write a note on Hundi and Cheque. (1950).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्‌स

21. Discuss why the rates of interest charged by the village money lender in India are higher than the rates charged by the Banks. (1958).

22. Analyse the various functions performed by the Reserve Bank of India. How does it help the Joint Stock Banks ? (1957).

23. Down with the money lender. Do you agree with the slogan ? Give reasons for your answer. (1957).

24. India is said to be very backward in the matter of banking facilities. Explain this statement by describing the commercial and indigenous systems of banking in India. (1956)

25. Write a note on Reserve Bank of India. (1955).

26. Analyse the functions of bank. Discuss the importance of indigenous bankers in the banking economy of the country. (1954).

पटना, इन्टर आर्ट्‌स

27. Write a note on land Mortgage Banks. (1958).

28. Write a note on State Bank of India. (1957).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्‌स

29. Describe the main functions of the Reserve Bank of India. (1952).

30. Describe the main types of banks in India and indicate their functions. (1951).

31. What are the main defects of the Indian banking system ? (1950).

अध्याय २०

ग्रामीण ऋण की समस्या

हमारे देश में ग्रामीण ऋण की समस्या बहुत कठिन समस्या रही है। देश की समृद्धि मुख्यतः कृषि पर निर्भर है, क्योंकि अधिकांश देशवासी खेती करते हैं। पर खेती के मार्ग में ऋण की समस्या भीषण रूप धारण किये हुए है। हमारी आर्थिक उन्नति का एक आवश्यक सोपान इस समस्या का हल करना है।

ग्रामीण ऋण की मात्रा

भारत के ग्रामीण ऋण की मात्रा का अनुमान कई बार लगाया जा चुका है। सन् १९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने इस ऋण को ९०० करोड़ रुपये के लगभग ठहराया था।[1] इसके पश्चात् कृषि पर आर्थिक संकट आया और यह मात्रा काफी बढ़ गई। द्वितीय महायुद्ध के पहले अनुमान किया जाता था कि यह ऋण बढ़कर १००० करोड़ रुपये तक अवश्य ही पहुँच गया होगा। भाग्य से द्वितीय महायुद्ध के समय में कृषि-पदार्थों का मूल्य बहुत बढ़ गया और किसानों को काफी लाभ हुआ। उन्होंने ऋण का भुगतान करना आरम्भ कर दिया। हाल में ही कई जाँच इस दिशा में हुई हैं और उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब ग्रामीण ऋण कम हो गया है। किन्तु ग्रामीण ऋण की वर्तमान मात्रा का कोई अखिल भारतीय और अधिकारी अनुमान नहीं लगाया गया है। अतः यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है कि अब कुल ग्रामीण ऋण कितना है। कुछ क्षेत्रों में अन्वेषण किये गए हैं, जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :

(१) बम्बई राज्य में कर्नाटक और दक्षिण भागों में सहकारी समितियों के सदस्यों की ऋण-ग्रस्तता के विषय में बम्बई राज्य सहकारी संस्था (Bombay Srate Co-operative Institute) द्वारा की गई जाँच।

---

[1]इस ऋण का राज्यात्मक विभाजन निम्नलिखित है :

		रुपया	करोड़
बिहार और उड़ीसा	..	१५५	"
मद्रास	..	१५०	"
पंजाब (पूरा)	..	१३५	"
उत्तर प्रदेश	..	१२४	"
बंगाल (पूरा)	..	१००	"
बम्बई	..	८१	"
मध्य प्रान्त	..	३६	"
आसाम	..	२२	"
मध्य	..	१८	"
कुर्ग	..	१५	"

(Vide Central Banking Enquiry Committee Repo para. 77)

(२) मद्रास राज्य की ऋण-ग्रस्तता के विषय में डाक्टर नारायण स्वामी नायडू द्वारा की गई जाँच।

इन अन्वेषणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामीण ऋण पहले से निश्चय ही कम हो गया है। डाक्टर नायडू के अनुमान के अनुसार मद्रास राज्य के कुल ग्रामीण ऋण में २०% की कमी हो गई है। यदि यह मान लिया जाय कि भारत भर में ऋण की कमी लगभग इतनी ही हुई होगी, तो भारत के कुल ग्रामीण ऋण की मात्रा लगभग ७५० करोड़ या ८०० करोड़ रुपये होगी।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी (१९५०) ने पता लगाया कि बड़े-बड़े और मध्यम दर्जे के किसानों ने अपना ऋण बहुत-कुछ अदा कर दिया है, किन्तु छोटे-छोटे किसानों ने अपने ऋण का कोई खास भुगतान नहीं किया।* अतः ग्रामीण ऋण में जो कमी आई है उससे बहुत थोड़े किसानों ने लाभ उठाया है। अतः यदि यह कहा जाय कि अधिकांश ग्रामवासियों के लिए ऋण की समस्या पहले की भाँति कठिन है, तो इसमें कुछ अतिशयोक्ति न होगी। इसके अतिरिक्त ऋण में होने वाली कमी, सम्भव है अल्पकालीन और अस्थायी हो। जैसे ही कृषि-पदार्थों के मूल्यों में कमी आये, वैसे ही कदाचित् फिर ग्रामीण ऋण की मात्रा बढ़ जाय। अतः इस अस्थायी कमी के कारण समस्या की तीव्रता में कुछ खास अंतर नहीं हुआ है और इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है।

ग्रामीण ऋण के कारण

ग्रामीण ऋण के इतने अधिक हो जाने के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) पैतृक ऋण—पुरखों द्वारा लिया गया ऋण वर्तमान ऋण का महत्वपूर्ण कारण माना गया है।[२] यह प्रति दिन देखा जाता है कि जो व्यक्ति ऋणी उत्पन्न होते हैं, वे अपने पिता का और पितामह का ऋण भुगतान करने के लिए बहुत चिन्तित रहते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि कानून के अनुसार उत्तराधिकारी, उसे मिलने वाली सम्पत्ति मूल्य तक ही के लिए, मृतक के ऋण का देनदार होता है और यदि उसे मृतक से कुछ भी सम्पत्ति न मिले, तो मृतक के ऋण के सम्बन्ध में उसकी कोई देनदारी नहीं होती। यदि गाँव वालों को इस बात का ज्ञान हो भी, तो सामाजिक रीति-रिवाज का उन पर इतना प्रभाव होता है कि उनके विचार में पैतृक ऋण का भुगतान करना उनका पवित्र कर्तव्य है।

(२) भूमि पर जनसंख्या का दबाव—पैतृक ऋण के अतिरिक्त किसान स्वयं भी कई कारणों से ऋण लेते हैं। इसका एक मुख्य कारण यह होता है कि उनको खेती से होने वाली आय उनके परिवार के पालन-पोषण के लिए काफी नहीं होती। ऐसा होता इसलिए है कि भूमि पर जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक है : खेती पर इतने अधिक व्यक्ति अपनी जीविका के लिए निर्भर होते हैं कि पेट भर भोजन भी नहीं मिल सकता। अतः उन्हें जीवित रहने के लिए महाजनों से ऋण लेना पड़ता है।

(३) खेतों का छोटा और छिटके होना—खेती के लाभप्रद न होने का एक और

**Report of the Rural Banking Enquiry Committee (Delhi, 1950,), p.* 36.

[२] Deccan Ryots Commission, 1875 और Central Banking Enquiry Committee, 1931, की भी यह सम्मति है।

कारण यह है कि किसानों के खेत छोटे और छिटके होते हैं। इसके कारण खेती करना अनार्थिक (uneconomic) हो जाता है और ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है।

(४) **किसानों का दुर्बल स्वास्थ्य**—इसके अतिरिक्त किसान बहुत दुर्बल होते हैं और इसलिए वे कार्य-कुशल नहीं होते। बहुधा काम के समय वे बहुत सी छोटी और बड़ी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं और उनकी कमजोरी इससे बढ़ जाती है। अतः उन्हें अपनी जीविका चलाने के लिए खेती, जिस कार्यक्षमता से करनी चाहिए वह उतना नहीं कर पाते।

(५) **बाढ़, अकाल, बीमारी तथा अन्य संकट**—भारतीय किसान को बाढ़, पानी की कमी, टिड्डी, खेत के कीड़े, रोगों आदि संकटों का भी सामना करना पड़ता है। इससे किसान को दो नुकसान होते हैं। पहला तो यह कि उसकी फसलें खराब हो जाती हैं और उपज बहुत कम हो जाती है। यह देखा गया है कि पाँच साल के समय में, एक साल अच्छी होती है, एक साल बुरी और तीन साल साधारण। दूसरे, चारे की कमी और पशुओं की बीमारियों के कारण उसके गाय-बैल मरने लगते हैं। किसान की सबसे कीमती पूँजी उसके पशु ही होते हैं और उनके मर जाने उसे से भारी आर्थिक क्षति होती है। प्रत्येक दशा में उसे महाजन की शरण लेनी पड़ती है जो उसका अच्छी तरह शोषण (exploitation) करता है।

(६) **किसान की फिजूलखर्ची**—किसान शादी, त्योहारों आदि पर बहुत फिजूल-खर्ची भी करता है और ऋण का एक बड़ा भाग इसी का परिणाम होता है। किन्तु कई प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमेटियों ने यह बताया कि किसानों की फिजूलखर्ची की बात बहुधा अतिशयोक्ति के साथ कही जाती है। सामान्यतः किसान बहुत किफायतशार होता है; वह अध-भूखा और अध-नंगा तक रहता है। किन्तु खुशी के कुछ अवसरों पर वह अपनी आय के अनुपात से अवश्य खर्च अधिक कर देता है।

(७) **मुकदमेबाजी**—हमारे किसानों को मुकदमा लड़ने का व्यसन हो गया है। वे दीवानी के मुकदमे तो करते ही हैं, उनमें फौजदारी के मुकदमे भी काफी होते हैं। प्राचीन काल की शान्ति और मैत्री अब दिखाई नहीं पड़ती और पंचायत का प्रभुत्व लुप्त हो गया है। अब तो स्थान-स्थान पर लड़ाई-झगड़े और दुश्मनी की तूती बोलती है और चालाक वकील किसानों को भड़काकर उनसे मुकदमे लड़वाते और उनको लूटते हैं।

(८) **मालगुजारी की नीति**—कुछ अर्थशास्त्री यह भी कहते हैं कि किसानों से ली जानेवाली मालगुजारी इतनी अधिक होती है और इस कड़ाई के साथ वसूल की जाती है कि वे साहूकार की सहायता लिये बिना उसका भुगतान नहीं कर सकते। इस मत का प्रतिपादन सबसे पहले स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त ने किया और अधिकांश अर्थशास्त्री इस मत को ठीक समझते हैं।

(९) **ग्रामीण साख-संगठन की खराबी**—किसानों को ऋण देने के वर्तमान साधनों में इतने दोष हैं कि वे किसान को ऋणी बना देते हैं। किसान केवल महाजन से ही ऋण ले सकता है और महाजन बहुत सी चालाकियाँ करने और ऋण को बढ़ा देने के साथ ही साथ ब्याज की ऊँची दर वसूल करता है जिससे कि असली रकम तेजी से बढ़ जाती है। एक बार किसान महाजन के घर आ भर जाय, वह उसका जीवन-पर्यंत ऋणी हो जाता है और अपने उत्तराधिकारियों के कन्धों पर भी ऋण का भार लाद जाता है। हमारे देश में सहकारी ऋण-समितियों ने अभी कम उन्नति की है।

(१०) **किसानों की परिवर्तित अवस्था**—ब्रिटिश राज्य स्थापित होने से बहुत सी

आर्थिक शक्तियाँ क्रियाशील हो गई, जैसे व्यापार की वृद्धि, यातायात के साधनों का विस्तार आदि, जिनके कारण खेतों के मूल्य बहुत बढ़ गये। अतः उसने हर प्रकार के कामों के लिए चाहे वे उत्पादक हों अथवा अनुत्पादक, ऋण लेना आरम्भ कर दिया और इतना ऋण लिया कि उसका भुगतान उसकी शक्ति के परे हो गया।

ऋण-ग्रस्तता के दुष्परिणाम

किसान आजकल जिन बुराइयों का शिकार बना हुआ है, उनमें से बहुत-सी उसके ऋणी होने का परिणाम बताई जाती हैं। ऋणग्रस्तता के कारण भूमि किसानों के हाथ से निकल कर गैरकिसानों के पास चली गई है और एक भूमि-हीन सर्वहारावर्ग (landless proletariat) बन गया है जिसका आर्थिक स्तर बहुत नीचा है। इसके अतिरिक्त ऋण देते समय यह शर्त कर ली जाती है कि फसल तैयार होने पर किसान को ऋणदाता के हाथ एक निश्चित मूल्य पर बेचना पड़ेगा। यह कहना व्यर्थ है कि इस प्रकार का पूर्वनिश्चित मूल्य बहुत कम होता है। अंत में, ऋणदाता किसानों से बहुत सा रुपया झूठे-मूठे मदों पर वसूल करता है। इनसे बेगार भी लेता है। कभी-कभी तो किसान गुलाम की तरह हो जाता है। भाग्यवश अब ये बातें काफी कम हो गई हैं और बहुत शीघ्र ही ये इतिहास की सामग्री हो जायेंगी।

समस्या का विश्लेषण और उसका निवारण

ग्रामीण ऋण की समस्या दो भागों में बाँटी जा सकती है: (१) पुराने या भूतकाल की ऋण की समस्या; और (२) नये या भावी ऋण की समस्या।

(१) भूतकाल का ऋण अधिकतर पैतृक ऋण होता है। यह ऋण-चक्रवृद्धि ब्याज (compound Interest) से इतना शीघ्र बढ़ता है कि बहुत शीघ्र ही यह कई गुना हो जाता है, यहाँ तक कि किसान उसे अदा करने की आशा ही छोड़ देता है। पुराने ऋण का भुगतान करना बहुत आवश्यक है। इस दिशा में सहकारी सिद्धान्त पर चलाये गये कुछ भूमिबन्धक बैंक अच्छा काम कर रहे हैं। ऐसे बैंकों की हमें और जरूरत है, चाहे वे सहकारी सिद्धान्त पर बनाये जायँ या संयुक्त पूंजी के आधार पर। किन्तु भूमि बन्धक बैंक पुराने ऋण निवारण के लिए केवल भूमि की जमानत पर ही रुपया उधार देते हैं और जो किसान ऐसी जमानत नहीं दे सकते, वे ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस दिशा में बैंकिग जाँच कमेटी और रायल कमीशन आव एग्रीकल्चर आदि ने अच्छे सुझाव रक्खे हैं और हमें उनके अनुसार इस समस्या को हल करने की चेष्टा करनी चाहिए।

(२) चालू ऋण (current debt) की समस्या भी हमें सुलझानी पड़ेगी। ऋण देने वाली वर्तमान संस्थाओं में बहुत दोष हैं और वे इस प्रकार काम करती हैं कि ऋण बढ़ता ही जाता है उसका अन्त कभी नहीं होता। ऐसे दोषों को दूर करना बहुत आवश्यक है। सहकारी साख समितियाँ स्थापित करके इस समस्या का हल किया जा सकता है। यदि आधुनिक बैंक गाँवों में अपनी शाखायें खोलना आरम्भ कर दें, तो यह भी अच्छा होगा। इस प्रकार के कुछ प्रयास किये भी गये हैं और उनके परिणाम भी आशापूर्ण हुए हैं।

सरकारी कानून

विभिन्न राज्यों में सरकारें कुछ समय से इस बात का प्रयास कर रही हैं कि ग्रामीण

ऋण को कम किया जाय। अतः उन्होंने अनेक कानून बनाये हैं जिनको तीन वर्गों मे बांटा जा सकता है:

(१) **सरकार का किसानों को ऋण देना**—उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले दो दशांशों (decades) में सरकार ने किसानों को स्वयं ऋण देकर इस समस्या के हल करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से तकावी विधान, भूमि सुधार ऋण विधान (Land Improvement Loans Act) और कृषक ऋण विधान (Agriculturists Loans Act) बनाये गये। तकावी ऋण का उद्देश्य केवल खास काम के लिए, अधिकतर दिन-प्रति-दिन की आवश्यकताओं के लिए, ऋण देना था। फिर, ऋण देने में बहुत विलम्ब भी होता था। साथ में छोटे मोटे अफसर घूस भी लेते थे। अतः ये बहुत बदनाम हो गये। स्थायी उन्नति के लिए दीर्घकालीन ऋण, भूमि सुधार ऋण-विधान के अन्तर्गत दिये गये, पर वे पुराने ऋण के परिशोध के लिए या खेती की चकबन्दी के लिए नहीं दिये जाते थे। फिर असल बात तो यह थी कि सरकार को ऋण दे सकने की सामर्थ्य सीमित थी; अतः इस रीति द्वारा समस्या का अधिकांश हल न तो हुआ और न हो सकता है।

(२) **साहूकारों पर नियंत्रण**—कुछ समय बाद साहूकारों पर कानूनी नियंत्रण रखने की रीति को अपनाया गया। दक्षिणी किसानों को सहायता देने वाले सन् १८७९ के विधान (Deccan Agriculturists' Relief Act of 1879) ने अदालत को यह अधिकार दे दिया कि वह ब्याज की दर घटा दे या भूमि को बिक्री न होने दे। पंजाब के भूमि हस्तांतरण विधान (Punjab Land Alienation Act) १९०१, ने गैर-किसानों को भूमि के हस्तांतरण का निषेध कर दिया। हाल में ही विभिन्न राज्यों में कडे साहूकार विधान (Moneylenders Acts) बने हैं। साहूकारों को लाइसेंस लेना, ठीक-ठीक बहीखाते रखना, एक निश्चित सीमा से कम ब्याज लेना तथा ऋण लेनेवालों को न डराना-धमकाना—ये बातें साहूकारों के लिए अनिवार्य हो गई हैं। सामान्यतया कुल ब्याज मूलधन से अधिक नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे विधान पूर्णतया सफल नहीं हुए। बहुत-से साहूकार डरकर गांव से भाग गये हैं और अब जरूरत के समय किसानों को अपनी सम्पत्ति बेचनी पड़ती है। साहूकार जबानी समझौते द्वारा या मूलधन से अधिक का प्रोनोट लिखाकर निश्चित दर से अधिक ब्याज ले सकते हैं। किसान सब जगह यह भी नहीं जानते कि कानून में उन्हें क्या रक्षाएँ और सुविधाएँ प्राप्त हैं।

(३) **ऋण समझौता विधान (Debt Conciliation Legislation)**—पुराने बाकी ऋण के घटाने के लिए भी कुछ कानून बनाये गये हैं। अधिकांश राज्यों में "ऋण समझौता बोर्ड" (Debt Conciliation Boards) स्थापित हो चुके हैं जिनका काम समझौता कराके पुराने ऋण को कम (scale down) कराना है। उत्तर प्रदेश में ऐसा विधान सन् १९३९ मे बनाया गया। पर ऋण के कम हो जाने पर भी बहुत-से किसान उनका भुगतान नही कर पाते। इसके अतिरिक्त, इस रीति से भावी ऋण-ग्रस्तता का प्रश्न हल नहीं होता।

(४) **सहकारिता**—सहकारिता द्वारा भी इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की गई है। इस विषय का विस्तृत वर्णन अध्याय १६ में किया गया है।

सारांश

भारत में ग्रामीण ऋण की मात्रा रु० ८०० करोड़ है। पैतृक ऋण, जनसंख्या का

दबाव, खेतों का छोटा और छिटका होना, किसानों का खराब स्वास्थ्य आदि इसके कारण हैं। ऋण-ग्रस्तता के खराब परिणाम हुए हैं। सरकारी कानून तथा सहकारिता द्वारा समस्या के हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकिन्डरी

1. What are the causes and consequences of our rural indebtedness ? (1957).

पंजाब, इन्टर

2. Examine the problem of Rural Indebtedness in India. What has been done by the Punjab Government to help its rural population in this connection ? (1957).

3. What are the special features of rural indebtedness in India ? What is your solution of this problem ? (1956)

4. (*a*) What are the most important causes of rural indebtedness in India ?

(*b*) In which of the three years 1932, 1939 and 1950 was the burden of rural indebtedness (i) heaviest (ii) lowest ?

(*c*) Account for the changes in the burden of indebtedness. (1954).

जम्मू एण्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

5. Write a note on Sahukari system. (1953).

6. What are the factors responsible for the growth of rural indebtedness ? Do you think that the rise in the prices of agricultural produce has helped the peasant to wipe out his debt ? (1951)

पटना, इन्टर आर्ट्स

7. What are the economic effects of money lending in villages ? Discuss the measures taken in Bihar to protect cultivators from oppression by money lenders. (1956).

8. Examine the evils of rural indebtedness of your State. Suggest remedies (1955).

बिहार, इन्टर आर्ट्स

9. Describe the position of money-lenders in our economy. What has been done to control and regulate their operations ? (1958).

अध्याय २१

भारत में केन्द्रीय राजस्व

§ १. भारतीय राजस्व

भारतीय राजस्व के प्रकार

भारतीय राजस्व तीन प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है : (१) केन्द्रीय राजस्व (Central Finance)—इसका आशय भारत सरकार की आय व्यय आदि से है। (२) राज्यों का राजस्व (State Finance)—हमारा देश राज्यों में बँटा हुआ है। राज्यों के बजट तथा आय-व्यय अलग-अलग होते हैं। (३) स्थानीय राजस्व (Local Finance)—इसमें स्थानीय संस्थाओं (अर्थात् म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि) का राजस्व आता है। इन संस्थाओं का सम्बन्ध विशेष स्थानों से होता है।

भारतवर्ष में लगभग ११० करोड़ रुपये सरकार को आय होती है। इसमें कुछ राज्यों में तथा सरकारी संस्थाओं की आय सम्मिलित नहीं है। हम मोटे तौर पर कह
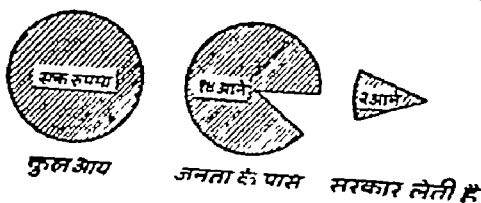
चित्र १८—आय में सरकार का भाग

सकते हैं कि जनता द्वारा कमाये गये हर रुपये में सरकार कर द्वारा या अन्य प्रकार से २ आने ले लेती है।

भारतीय राजस्व की नवीन प्रवृत्ति

भारतीय राजस्व की सबसे प्रमुख बात यह है कि हाल में ही सरकारी आय और व्यय बहुत बढ़ गया है। १९३८–३९ में (अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के पहले) भारत सरकार की आय लगभग ८५ करोड़ रुपये थी और समस्त राज्यों की सरकारों की आय लगभग ८० करोड़ रुपये थी। किन्तु सन् १९५८–५९ में ये रकमें बढ़कर क्रमशः ७०० करोड़ रुपये और ७५० करोड़ रुपये से अधिक हो गई; दूसरे शब्दों में, सरकारी आय अब द्वितीय महायुद्ध के पूर्व से लगभग आठ गुना बढ़ चुकी है। नीचे की सारिणी में अंक दिये गये हैं।

सारिणी ४०

भारत में सरकारी आय व्यय

(करोड़ रुपयों में)

	१९३८–३९			१९५८–५९		
	आय	व्यय	आधिक्य (+) या कमी (—)	आय	व्यय	आधिक्य (+) या कमी (—)
भारत सरकार	८४	८५	—१	६८५	७१२	—२७
राज्यों की सरकार	७९	८०	—१	७४२	७४६	—४
योग	१६३	१६५	—२	१,४२७	१,४५८	—३१

युद्ध और विभाजन

स्पष्टतया राजस्व की अवस्था में बहुत परिवर्तन हो गया है। इसका प्रधान कारण है द्वितीय महायुद्ध का होना जिसके कारण व्यय में बहुत वृद्धि हो गई। इस काल में मूल्य में बहुत वृद्धि हुई और अब मूल्य भविष्य में भी कदाचित् ऊँचे ही रहें। अतः सरकारी आय-व्यय की रकमों के इस ऊँचे स्तर पर बने रहने की आशा की जा सकती है। इनके अलावा, भारत सन् १९४७ में स्वतंत्र हो गया और पाकिस्तान भारत से अलग हो गया इसका राजस्व पर स्थायी प्रभाव पड़ा है। इन सब परिवर्तनों का प्रभाव अब बहुत कुछ स्थिर हो गया है और भारतीय राजस्व में भी स्थायित्व आ गया है।

§ २. केन्द्रीय आय

अब हम केन्द्रीय सरकार के राजस्व का अध्ययन करेंगे। पहले हम केन्द्रीय सरकार की आय के प्रधान शीर्षक देते हैं :

सारिणी ४१

भारत सरकार का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करो
क. कर आय (रु० ५७३ करोड़):			
(१) केन्द्रीय उत्पादन कर	२३६	१. सुरक्षा सेवाएँ	२७८
(२) आयात-निर्यात कर	१७०	२. विकास सेवाएँ	१८४
(३) आय-कर	८५	३. नागरिक प्रशासन	४९
(४) कार्पोरेशन कर	५६	४. राज्यों को सहायता	४७
(५) सम्पत्ति कर	१३	५. ऋण सेवाएँ	४०
(६) व्यय कर	३	६. आयों पर प्रत्यक्ष माँग	१९
(७) भेंट कर	३	७. असाधारण व्यय	१४
(८) स्टाम्प रजिस्ट्रेशन	३	८. पेंशन आदि	९
(९) अन्य	४	९. अन्य व्यय	७२
ख. प्रशासकीय आय	४७		
ग. सार्वजनिक उपक्रमों का निवल भाग (रु० ३७ करोड़) :			
(१) रेलवे	७		
(२) पोस्ट तथा टेलीग्राफ	२		
(३) चलन तथा टकसाल (मय रिजर्व बैंक के)	२८		
घ. अन्य आय	२८		
	६८५		
अभाव (Deficit)	२७		
रु०	७१२	रु०	७१२

भारत सरकार की आय के तीन प्रमुख स्रोत हैं : कर आय (रु० ५७३ करोड़) प्रशासकीय आय (रु० ४७ करोड़) तथा सार्वजनिक उपक्रमों से निवल आय (रु० ३७

करोड़)। अन्य स्रोतों से रु० २९ करोड़ की आय होती है। अतः करों से कुल आय का ८४% भाग प्राप्त होता है।

क. करों से आय

(१) केन्द्रीय उत्पादन कर (Central Excise Duties)—केन्द्रीय आय का सबसे प्रमुख स्रोत केन्द्रीय उत्पादन कर है। सन् १९५८–५९ में उनसे २३६ करोड़ रु० प्राप्त हुए (अर्थात् समस्त आय का ३४%) प्राप्त होने की आशा है। गत कुछ वर्षों में इनसे प्राप्त होने वाली आय काफी बढ़ी है।

केन्द्रीय सरकार को शराब तथा अफीम को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। केन्द्रीय उत्पादन कर के निम्न वर्ग हैं : (अ) आवश्यकताओं पर, जैसे चीनी, दियासलाई, मिट्टी के तेल, वनस्पति घी, चाय, कहवा और पान पर, उत्पादन कर; (आ) विलासिता के पदार्थों पर, जैसे पैट्रोल, टायर और ट्यूब पर, उत्पादन-कर; तथा (इ) नशीली वस्तुओं पर, जैसे तम्बाकू पर, उत्पादन-कर। सन् १९५६–५७ में इन करों की आय काफी बढ़ी क्योंकि सितम्बर सन् १९५६में सूती कपड़े पर कर की दर बढ़ा दी गई। चीनी की उत्पत्ति बढ़ जाने के कारण उस पर लगाये जाने वाले कर की रकम भी बढ़ी।

डा० जानसन उत्पादन कर को "पदार्थों पर लगाया गया घृणित कर" कहा करते थे और सामान्यतया यह वर्णन बहुत उपयुक्त भी है। आजकल इन करों का लगाना इसलिए क्षम्य, प्रत्युत आवश्यक है कि हम पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिए धन एकत्रित करना है।

(२) आयात-निर्यात-कर (Customs Duties)—जो कर देश से बाहर जाने वाले माल पर तथा देश के अन्दर आनेवाले माल पर लगाया जाता है, उसे क्रमशः निर्यातः कर तथा आयात-कर कहते हैं। ऐसे करों की सूची को टैरिफ (tariff) या आयात-निर्यात-कर सूची कहते हैं।

युद्ध के पहले भारत सरकार को लगभग ५५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष इस कर से मिलते थे और यह रकम सरकार की कुल आय का लगभग आधा भाग होती थी। किन्तु अब (पाकिस्तान बन जाने पर भी) इस करसे भारत सरकार कोसन् १९५८–५९ में १७० करोड़ रुपये मिलने की आशा है, यह कुल आय का लगभग २५% भाग होगा।

सन् १९५४–५५ तक यह केन्द्रीय आय का सर्वप्रमुख स्रोत था। सन् १९५४–५५ इसकी आय कुल आय का ३७% था, किन्तु सन् १९५५–५६ में यह ३३% रह गई। इस घटती का कारण करों की दर को घटाना तथा अन्य करों की आय को बढ़ाना है। उदाहरण के लिए सन् १९५५–५६ में रंग, चमड़े पक्के करने का सामान, ग्रेफाइट आदि पर निर्यात कर समाप्त कर दिया गया और सूती कपड़ पर निर्यात कर घटा दिया गया।

प्रथम महायुद्ध के पहले हमारी टैरिफ नीति स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त (Free Trade Theory) पर आधारित था, अर्थात् सरकार बाधा-हीन आयात और निर्यात की नीति को मानती थी और आयात-निर्यात कर इतने कम होते थे कि इससे व्यापार में रुकावट नहीं आती थी। ऐसे करों को केवल आय प्राप्त करने के लिए लगाया जाता था। ऐसे कर आय-निमित्त-कर (Revenue Duties) कहलाते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय में और उसके बाद भी सरकार को धन की बहुत आवश्यकता पड़ी और इसलिए उनकी दर बहुत बढ़ा दी गई। इसके पश्चात् सरकार ने अपनी टैरिफ नीति स्वतंन्त्र व्यापार के

सिद्धान्त के आधार के बजाय संरक्षण (Protection) के आधार पर निश्चित की। इसके अनुसार भारतीय उद्योगों की विदेशी स्पर्धा से रक्षा करने के लिए ऊँचे दर से आयात-कर लगाये जाने लगे। ऐसे करों को संरक्षण कर (Protective Duties) कहते हैं। इस नीति के परिणामस्वरूप बहुत से करों की दर बढ़ा दी गई और इससे बहुत अधिक आय होने लगी।

आयात-निर्यात कर मूल्य के अनुसार (Ad valorem) लगाये जा सकते हैं या परिमाण के अनुसार (Specific)। मूल्य के अनुसार लगाया जाने वाला कर मूल्य के एक प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत परिमाण के अनुसार लगाया जाने वाला कर संख्या, बोझ या माप के अनुसार वसूल किया जाता है। हमारे देश में अधिकांश आयात-निर्यात कर मूल्य के अनुसार लगाये जाते हैं।

(३) आय-कर (Incometax)—आय-कर भारत सरकार की आय का तीसरा मुख्य साधन है। प्रथम महायुद्ध के पहले इस कर से लगभग १५ या २० करोड़ रुपया प्रति वर्ष मिलता था। किन्तु सन् १९५८–५९ में केवल भारत सरकार ने इस कर से अपनी आय ८५ करोड़ रु० की आँकी। यह कर भारत में सबसे पहले सन् १८६० में लगाया गया, जब कि सरकार को १८५७ की क्रांति दबाने के लिए काफी खर्च करना पड़ा।

आय-कर प्रत्यक्ष कर है और उसमें ऐसे कर के सब गुण और दोष मौजूद हैं। इसके लाभ कई हैं। यह निश्चित रूप से मालूम हो जाता है कि इस कर का अंतिम भार (incidence) किस व्यक्ति पर पड़ेगा और इसलिये इसे न्यायपूर्वक लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह कर लोचदार होता है और इसकी आय देश की जनसंख्या और धन की वृद्धि के साथ-साथ स्वतः ही बढ़ती जाती है। यह मितव्यय और मितव्ययितापूर्ण होता है तथा नागरिक चेतना जागृत करता है। इसके दोष भी स्पष्ट हैं। यह ईमानदारी पर लगाया हुआ कर माना जाता है और करदाता झूठे हिसाब-किताब रखकर या अन्य रीति से बचने की चेष्टा करते हैं। यह असुविधाजनक भी होता है, क्योंकि हिसाब-किताब रखने तथा फार्म भरने आदि से बहुत कठिनाई होती है। यह कर निर्धन व्यक्ति अदा नहीं करते और यदि इसकी दर बहुत अधिक बढ़ा दी जाय, तो यह बचत को हतोत्साहित करता है।

भारतीय आय-कर की आलोचना में यह कहा जाता है कि यह परिवार की साइज पर पूरी तरह ध्यान नहीं देता; कई राज्यों में कृषि द्वारा प्राप्त की गई आय पर यह नहीं लगाया जाता; और यह उपार्जित और अनुपार्जित वृद्धि (earned and unearned increments) इनमें पर्याप्त अन्तर नहीं करता।

सारिणी ४२

आय-कर की दर

अ. छूट की सीमा	
i. अविवाहितों के लिए ..	रु० २,०००
ii. विवाहितों के लिए	रु० ३,०००
आ. आय-कर (Income tax) की दर	
(१) २,००० (या ३,०००) रु० — ५,००० रु० तक	९ पाई की रुपया
(२) ५,००० रु० — ७,५०० रु०	१ आ० ९ पा० की रुपया

(३) ७,५०० — १०,००० रु०	२ आ० ३ पा० फी रुपया
(४) १०,००० — १५,००० रु०	३ आ० ३ पा० फी रुपया
(५) शेष आय पर ..	४ आ० फी रुपया
इ. अतिरिक्त कर (Supertax)	
छूट की सीमा ..	रु० २०,०००
कर की दर ..	विविध
ई. सरचार्ज (Surcharge)	
छूट की सीमा ..	रु० २५,०००
दर	५% आय-कर तथा अतिरिक्त कर का
उ. उपार्जित आय की छूट	
अधिकतम आय जिसके बाद यह नहीं मिलेगी	रु० ४५,०००
२५,०००—४५,००० छूट की दर क्रमशः घट जाती है।	
ऊ. प्रीमियम तथा प्रावीडेंट फंड पर रिबेट	
⅙ आय की सीमा तक किन्तु ८,००० रु० से अधिक नहीं	

आय-कर-सम्बन्धी दर ऊपर की तालिका में दिये हुए हैं। इसमें निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) आय-कर के अलावा २०,००० रु० की आय के आगे अतिरिक्त कर (Supertax) तथा २५,००० रु० की आय के आगे सरचार्ज भी लगता है।

(२) विवाहितों का ख्याल रखने के लिए उनके ३,००० रु० की आय तक छूट दी गई है पर अविवाहितों को केवल २,००० रु० की आय तक।

(३) उपार्जित आय (Earned income) अर्थात् कोशिश से कमाई आय पर छूट दी जाती है, पर वह ४५,००० रु० के आगे नही मिलेगी।

(४) प्रीमियम पर रिबेट (rebate) आय के ⅙ भाग तक मिलेगा किन्तु अधिकतम राशि ८,००० रु० से ज्यादा नही हो सकती। सन् १९५४–५५ में रिबेट की मात्रा आय का ⅙ थी, अधिकतम राशि ६,००० रु० थी।

(४) **कार्पोरेशन कर** (Corporation Tax)—यह कर लिमिटेड कम्पनियों के लाभ पर लगाया जाता है कम्पनियों को सरकार से कुछ सुविधाएँ मिलती हैं और उनके लाभ पर इसके बदले कर लगाना उचित माना जाता है। इसे "कार्पोरेशन कर" कहते हैं। सन् १९५७–५८ के बजट में इस स्रोत से ५६ करोड़ की आय अनुमानित की गई है।

सन् १९५६–५७ मे सरकार से रु० ५१ करोड़ प्राप्त हुए; और

(५) **सम्पत्ति कर**—सम्पत्ति कर अप्रैल १, १९५७, से लागू है; और सन् १९५७–५८ से यह लगाया जा रहा है। रु० २ लाख से अधिक की सम्पत्ति वाले व्यक्ति, रु० ४ लाख से अधिक सम्पत्ति वाले संयुक्त हिन्दू परिवार, और रु० ५ लाख से अधिक की सम्पत्ति वाली कम्पनियों को यह कर देना होता है। कुछ सम्पत्तियाँ (जैसे कृषि सम्पत्तियाँ, दान के ट्रस्टों की सम्पत्तियाँ, मनोनीत प्रावीडेंट फंड के शेष तथा बीमा-पत्र) इस कर से मुक्त हैं। रु० २५,००० तक के गहनों पर भी यह कर नही लगाया जाता। सन् १९५८–५९

में इस कर की दर कर-दत्त सम्पत्ति के प्रथम रु० १० लाख पर २%, अगले रु० १० लाख पर १% तथा शेष पर १½% है। इस कर से सन् १९५७–५८ में रु० ९ करोड़ मिले और सन् १९५८–५९ में इससे रु० १३ करोड़ मिलने की आशा है।

(६) **व्यय कर**—यह कर अप्रैल १, १९५८, को लागू किया गया और सबसे पहले १९५८–५९ में वसूल किया गया। यह कर उन व्यक्तियों और हिन्दू संयुक्त परिवारों को देना होता है जिनकी कुल आय सब कर दे चुकने के बाद रु० ३६ हजार से अधिक होती है। रु० ३० हजार की सीमा तक के व्यक्तिगत व्यय की छूट होती है किन्तु हिन्दू संयुक्त परिवार में यह संख्या रु० ६० हजार है। कर की दर १०% से १००% तक है। सन् १९५८–५९ में इससे रु० ३ करोड़ मिलने की आशा की गई।

(७) **दान कर**—दान कर सबसे पहले १९५८–५९ में लगाया गया जब कि उससे रु० ३ करोड़ मिलने की आशा की गई। इसका उद्देश्य करदाताओं को प्रत्यक्ष करों से बचने के लिए अपने संबंधियों या मित्रों की सम्पत्ति का हस्तान्तरण करने से रोकना था। गतवर्ष में करदाता जो दान देता है उसके मूल्य पर लगाया जाता है। दान संस्थायें, सरकारी कम्पनियाँ, अधिनियम द्वारा स्थापित कार्पोरेशन तथा सार्वजनिक कम्पनियाँ इस कर से मुक्त हैं। रु० १० हजार की आधारभूत छूट भी होती है। कर की दर ४% और ४०% के बीच में परिवर्तनशील है।

कुछ पुराने कर

नमक-कर (Salt Tax)—यह भी एक उत्पादन-कर था; क्योंकि यह नमक की उत्पत्ति पर वसूल किया जाता था। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इस कर से भारत सरकार को लगभग ८ करोड़ रुपया प्रति वर्ष मिलता था किन्तु यह बहुत खराब माना जाता था। अंग्रेजों ने यह कर चालू किया हो, ऐसी बात नहीं। उनके पहले से ही यह कर चलता चला आया है। इस कर से जनता इतनी असंतुष्ट थी कि महात्मा गाँधी ने सन् १९३१ में नमक कर तोड़ने का आन्दोलन चलाया। अतः जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो भारत सरकार ने इस कर की इतिश्री कर दी। अब नमक बनाने के लिए न किसी लाइसेंस की जरूरत है न उस पर कोई कर ही देना होता है।

नमक-कर के विरुद्ध निम्नलिखित धारणाएँ थीं : (१) नमक जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक है और ऐसी वस्तु पर कर सैद्धान्तिक दृष्टि से बुरा है। यह कर मनुष्य तथा पशुओं के नमक के उपभोग को कम करता था और इससे उनके स्वास्थ्य की हानि होती थी। (२) यह कर निर्धन व्यक्तियों को भी देना पड़ता था और यह बहुत भार प्रतीत होता था ; क्योंकि उन्हें और भी कई कर देने पड़ते थे, इसलिए नमक कर का भार उन्हें और भी अधिक महसूस होता था। (३) यह कर न्यायशून्य था। निर्धन नमक का उपभोग धनी व्यक्तियों से अधिक करते हैं और इसलिए उन्हें यह अधिक मात्रा में देना पड़ता था। (४) यह कर जन-समाज की इच्छा के विरुद्ध लगाया जाता था और ऐसा कर सदैव निकृष्ट माना जाता है।

इस कर के पक्ष में भारत सरकार निम्नलिखित धारणाएँ देती थी : (१) यह राजनीति का एक माना हुआ सिद्धान्त है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ा-बहुत रुपया सरकारी कोष में अवश्य देना चाहिये। भारत ऐसे गरीब देश में नमक-कर के अतिरिक्त निर्धनों से रुपया लेने का कोई साधन नहीं। (२) यह परोक्ष कर था और ऐसा कर देना करदाता अनुभव नहीं करते। (३) यह प्राचीन कर था और यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि पुराना कर कोई कर नहीं। इस कर को देने की मनुष्यों को आदत थी और वे उसे महसूस

नहीं करते थे। (४) इस कर का भार बहुत कम था। ८ करोड़ रुपया ३५ करोड़ से अधिक व्यक्तियों से वसूल किया जाता था; अर्थात् प्रति व्यक्ति लगभग ≡) प्रति वर्ष था। (५) धन के अभाव के कारण सरकार को यह कर हटाना सम्भव नहीं था।

अफीम—अफीम उत्पन्न करने तथा बेचने का एकाधिकार सदैव से ही भारत सरकार का रहा है। पहले अफीम का बड़ी मात्रा में चीन को निर्यात होता था और इससे सरकार को प्रति वर्ष २५ करोड़ रु० का लाभ हुआ करता था। किन्तु बाद में चीन को अफीम का निर्यात बन्द कर दिया गया। ब्रिटेन की जनता के मत में भारत के लिए यह अनुचित था कि वह चीन-निवासियों का नैतिक विनाश करके लाभ कमाये; और इस कारण भारत सरकार ने सन् १९०८ में अफीम का निर्यात धीरे-धीरे कम करने की नीति अपनाई और सन् १९१७ में निर्यात पूर्णतया समाप्त हो गया। अब अफीम का निर्यात केवल दवा या प्रयोगों (experiments) के लिए किया जाता है। अब इस स्रोत से केवल कुछ ही करोड़ रुपयों की आय प्रतिवर्ष होती है।

ख. प्रशासकीय आय

सन् १९५८–५९ में प्रशासकीय आय की राशि रु० ४७ करोड़ या कुल आय का ७% होने की आशा की गई।

ग. सार्वजनिक उपक्रमों से आय

हाल में ही सरकार ने बहुत से सरकारी उपक्रम स्थापित करना आरंभ किया है जो कुल मिला कर सार्वजनिक क्षेत्र कहलाते हैं। समस्त नये सार्वजनिक उपक्रम अभी लाभ नहीं देते। जो भी लाभ उनसे होता है, वह केन्द्रीय सरकार की आय होती है।

(i) **रेलें**—भारतीय रेलें केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति हैं और उनसे सरकार को प्रतिवर्ष लाभ होता है। घिसाई, (Depreciation), पुनर्स्थापन तथा संचय के लिए आयोजन कर लेने के पश्चात् आशा की जाती है कि सन् १९५७–५८ में उनसे ७ करोड़ रु० प्राप्त हो। सन् १९५८–५९ में रेलों से ५ करोड़ रु० प्राप्त हुए थे।

(ii) **डाक व तार**—डाक व तार का व्यवसाय भी भारत सरकार का एकाधिकारी व्यवसाय है। कुछ वर्ष पूर्व उनको सेवा की लागत के सिद्धान्त (Cost of service principle) पर चलाया जाता था, अर्थात् उनसे लाभ नहीं कमाया जाता था। किन्तु हाल में यह सिद्धान्त बदल दिया गया है और सन् १९५६–५७ में इस व्यवसाय से भारत सरकार को ५ करोड़ रु० का लाभ हुआ। सन् १९५७–५८ में इससे केवल ४ करोड़ रु० की आमदनी की आशा है।

(ii) **चलन और टकसाल**—सन् १९५८–५९ में केन्द्रीय सरकार को चलन और टकसाल से रु० २८ करोड़ मिलेंगे। रिजर्व बैंक का लाभ रु० ३ करोड़ होगा किन्तु अन्य उपक्रमों को रु० २ करोड़ की हानि होगी।

§ ३. केंद्रीय व्यय

भारत सरकार के व्यय के मुख्य मदों का वर्णन हम नीचे करते हैं :

(१) **रक्षा सम्बन्धी व्यय**—सन् १९५८–५९ में रक्षा अर्थात् फौज के ऊपर २७८ करोड़ रुपये के व्यय का आयोजन किया गया है। १९५७–५८ के बजट के अनुसार कुल व्यय ७१२ करोड़ रुपया आंका गया है, जिसमें से २७८ करोड़ केवल रक्षा पर व्यय

करने का आयोजन किया गया है। अन्य शब्दों में, केन्द्रीय सरकार रक्षा पर कुल आय का ३९ प्रतिशत व्यय कर रही है।

ब्रिटिश काल से ही फौज पर हम बहुत खर्च करते रहे हैं। ब्रिटिश काल में महा-युद्ध के पहले असामान्य वर्षों में सरकार की लगभग आधी आय फौज पर खर्च की जाती थी। यह व्यय लगभग ५० या ६० करोड़ रुपये हुआ करता था। सर वाल्टर लेटन ने लिखा था कि भारत के राजस्व का एक प्रमुख लक्षण यह है कि आय का एक बहुत बड़ा भाग फौज पर खर्च किया जाता है। वास्तव में संसार के किसी भी देश में आय का इतना बड़ा प्रतिशत फौज पर खर्च नहीं किया जाता। यदि हम भारत सरकार तथा समस्त राज्य-सरकारों की आय को लें, तब भी फौज पर आय का एक बहुत बड़ा प्रतिशत खर्च किया जाता है। सर वाल्टर के मत में फौजी खर्च भारत की राजस्व सम्बन्धी स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण बात है।

ब्रिटिश काल से हमारे अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ इस बात की माँग करते आये हैं कि इस खर्चे में कमी होनी चाहिये। भारत ऐसे निर्धन देश के लिए फौज पर इतना खर्च करना सामर्थ्य के प्रतिकूल है। वे यह भी कहते थे कि इस दिशा में मितव्ययिता के लिए भी काफी स्थान है और फौज में अंग्रेजी सिपाहियों की संख्या कम करके तथा वेतनों को भारतीय स्टैंडर्ड पर आधारित करके तथा अन्य रीतियों से खर्च कम किया जा सकता है और इससे देश की रक्षा में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं होगी। सन् १९४४–४५ में यह खर्च ३९६ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् अवस्था में परि-वर्तन हुआ। सन् १९४५–४६ से घटते-घटते सन् १९४९–५० में यह व्यय केवल १४९ करोड़ रु० रह गया। किन्तु इसके बाद युद्ध के बादल फिर मँडराने लगे।* खासकर हमारे देश को युद्ध का भय और भी अधिक हो गया : यदि एक और युद्ध छिड़ गया तो हमें अपने बल पर भरोसा करना पड़ेगा। अतः फौज पर खर्च बढ़ाना आवश्यक प्रतीत होने लगा। हमारे सामने अभी कश्मीर की समस्या बनी रही और वहाँ के लिए विशेष-कर फौजों पर खर्च करना पड़ा। इसके फलस्वरूप सन् १९५५–५६ में तथा सन् १९५६–५७ में रक्षा पर २०३ करोड़ रु० व्यय करने पड़े। कश्मीर समस्या के और गम्भीर हो जाने के कारण यह व्यय सन् १९५७–५८ में लगभग २५३ करोड़ रु० होगा और सन् १९५८–५९ में रु० २७८ करोड़।

नीचे के कोष्ठक में हम केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गये फौजी व्यय के आँकड़े देते हैं :

वर्ष	करोड़ रुपये
१९३८–३९	४७
१९४४–४५	३९६
१९४६–४७	२३८
१९४७–४८	१८९
१९४८–४९	१४६
१९५१–५२	१८०
१९५५–५६	२०३
१९५६–५७	२०३
१९५७–५८	२५३
१९५८–५९	२७८

* कोरिया युद्ध

ऊपर के आँकड़ों से स्पष्ट है कि युद्ध के समय में हमारा फौजी खर्च बहुत बढ़ गया, यहाँ तक कि सरकार अन्य सब मदों पर फौजी खर्च का केवल एक-तिहाई या चौथाई भाग ही खर्च करती थी।

(२) विकास सेवायें—व्यय का दूसरा महत्वपूर्ण मद विकास सेवायें हैं, जिन पर सन् १९५८–५९ में रु० १८४ करोड़ व्यय हुआ जो कि कुल व्यय का २६% था। इस वर्ग में सिंचाई, बहुप्रयोजनीय नदी स्कीमें, बन्दरगाह, प्रकाशगृह, वैज्ञानिक विभाग, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, खेती, ग्रामीण विकास, सहकारिता, उद्योग, वायु यातायात, सार्वजनिक निर्माण, सामूहिक विकास, आदि आते हैं।

(३) नागरिक प्रशासन—सन् १९५८–५९ में नागरिक प्रशासन पर रु० ४९ करोड़ खर्च हुए जो कुल व्यय का ७% था। इस वर्ग में सामान्य प्रशासन, अंकेक्षण, न्याय प्रशासन, जेल, पुलिस, पिछड़ी जातियाँ तथा विदेशी मामले आते हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस व्यय में बहुत वृद्धि हुई। तृतीय महायुद्ध के पूर्व इस मद पर केवल रु० ८ करोड़ का व्यय किया जाता था।

(४) राज्यों की सहायता—भारतसरकार राज्यों को कुछ वित्तीय सहायता उनके शासन तथा आर्थिक विकास में मदद पहुँचाने की दृष्टि से देती है। सन् १९५८–५९ में इस काम के लिए ४७ करोड़ रु० रक्खे गये। जो कुल व्यय का ७% था।

(५) ऋण-सम्बन्धी व्यय—भारत सरकार ने जो ऋण लिये हैं उन पर उसे व्याज देनी पड़ती है तथा उनके भुगतान के लिए कुछ रुपया अलग कोष में रखना पड़ता है। सन् १९५८–५९ में इस मद पर सरकार ने ४० करोड़ रुपये रक्खे हैं। द्वितीय महायुद्ध के पहले हम लगभग १५ करोड़ रुपये ऋण सम्बन्धी सेवाओं के लिए भारत सरकार के खजाने से अदा करते थे। यह रुपया व्याज के रुपये में खर्च किया जाता था तथा ऋण की अदायगी के लिए भी काम में लाया जाता था। यह व्यय अब काफी बढ़ गया है किन्तु यह चिंता का विषय नहीं है। हमारा अधिकांश ऋण उत्पादक है और इसलिए हम जितनी व्याज अदा करते हैं उससे अधिक हमें इस ऋण के विनियोग के द्वारा आय प्राप्त हो जाती है।

(६) कर वसूल करने का व्यय—इस मद के अन्तर्गत वे सब मद आते हैं जो भारत सरकार को विभिन्न कर वसूल करने के लिए करने पड़ते हैं। सन् १९५८–५९ में इस मद पर १९ करोड़ रु० खर्च किया गया। इस मद की वृद्धि का कारण करों की वृद्धि तथा कर से बचाव रोकने की चेष्टा है। यह व्यय अपरिहार्य है पर इसमें अधिकतम किफायत करना आवश्यक है।

(७) असाधारण-व्यय—बहुधा सरकार को कुछ नये और असाधारण मदों पर रुपया खर्च करना पड़ता है। इस काम के लिए सन् १९५८–५९ में १४ करोड़ रु० का आयोजन किया गया है।

सारांश

भारत सरकार की आय के प्रधान स्रोत कर, प्रशासकीय आय, सार्वजनिक उपक्रमों का लाभ, आदि हैं। करों का महत्व इस प्रकार है : केन्द्रीय उत्पादन कर, आयात-निर्यात कर, आयकर, कार्पोरेशन कर, सम्पत्ति कर, व्यय कर, दान कर, स्टाम्प आदि है। लाभ-दायक सार्वजनिक उपक्रम में रेलवे, पोस्ट तथा टेलीग्राफ और चलन तथा टकसाल आते

हैं। भारत सरकार के व्यय के मद ये हैं : सुरक्षा सेवाएँ, विकास सेवाएँ, नागरिक प्रशासन, राज्यों को सहायता, ऋण सेवाएँ, आय वसूली, आदि । सन् १९५८–५९ में केन्द्रीय बजट में रु० २७ करोड़ का अभाव था।

परीक्षा-प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकन्डरी

1. Give an account of the principal heads of expenditure of the Union Government of India? (1958).

2. What are the principal sources of revenue of the Union Government ? Write a brief note on each of them. (1956).

3. Write a note on the principal sources of revenue of the States. (1956).

4. Describe briefly the principal sources of revenue of the Union Government and of the States. (1955).

5. Write a note on principal sources of revenue and expenditure of the Union Government and the States of India ? (1954).

पंजाब, इण्टर

6. Write notes on Income-tax and Central Excises. (1956).

जम्मू एण्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

7. Mention, and briefly explain, the main items of revenue and heads of expenditure of the Government of India. Give approximate figures to bring out their relative importance. (1955).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

8. Write a note on wealth and Expenditure Tax. (1958).

9. Analyse the main sources of revenue and the chief heads of expenditure of the Central Government in India. (1957).

10. Writes notes on :—

(*a*) Excise duties

(*b*) Indian Income-Tax

(*c*) Defence expenditure. (1956).

11. State and discuss the main heads of revenue in the Central Budget (1955).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

12. Describe the main heads of taxation in India (1950).

भारत में राज्यों (States) का राजस्व

हमारे नये विधान के अनुसार राज्यों को राजस्व के मामलों में स्वतंत्रता प्राप्त है। राज्यों की आय के कुछ साधन अलग दे दिये गये हैं और मदों पर व्यय करने की पूरी जिम्मेदारी भी उनको सौंप दी गई है। आय के साधन तथा व्यय के मद के बाँटने में केन्द्रीय सरकार की तरफदारी की गई है। भारत सरकार को आय के ऐसे साधन दिये गये हैं जो लोचदार हैं अर्थात् जो अधिक आय लाते या ला सकते हैं; किन्तु उसे खर्च के ऐसे मद सौंपे गये हैं जो स्थिर (inelastic) हैं। इसके विपरीत राज्यों को आय के साधन ऐसे दिये गये जो अधिक आय नहीं दे सकते जैसे मालगुजारी, स्टाम्प, जंगल आदि; किन्तु उन्हें सिंचाई, खेती, उद्योग तथा अन्य राष्ट्र-निर्माण व्यय के मद सौंपे गये हैं जो किसी भी सीमा तक बढ़ाये जा सकते हैं। यह विधान की एक कमी है, जिस पर ध्यान दिया जा रहा है।

§ १. राज्य सरकारों के बजट का स्वभाव

पहले राज्यों का विभाजन पार्ट ए, पार्ट बी तथा पार्ट सी वर्गों में होता था; पर पुनर्संगठन के फलस्वरूप यह वर्गीकरण त्याग दिया गया है।

राज्यों के राजस्व की मात्रा

समस्त भारत में राज्यों का राजस्व लगभग ७५० करोड़ रु० का होता है। निम्न सारिणी में राज्यों के बजट-सम्बन्धी कुछ सूचना दी जाती है :

सारिणी ४३

राज्यों के बजट की अवस्था, १९५८–५९

राज्य	आय (करोड़ रु०)	व्यय (करोड़ रु०)	आधिक्य (+) अभाव (—) (करोड़ रु०)
१. आंध्र प्रदेश	६२	६२	—
२. आसाम	८	२८	—
३. विहार	६१	५६	+५
४. वम्बई	११८	१२०	—२
५. केरल	३३	३३	—
६. मध्य प्रदेश	५४	५३	+१
७. मद्रास	६३	६३	.—
८. मैसूर	४९	४९	—
९. उड़ीसा	२७	२६	+१
१०. पंजाव	४६	४८	—२
११. राजस्थान	३३	३३	—
१२. उत्तर प्रदेश	९९	९९	—
१३. पश्चिमी बंगाल	६८	७२	—४
१४. जम्मू और कश्मीर	११	९	+२

राज्य सरकारों की आय के प्रधान स्रोत ५ वर्गों में बाँटे जा सकते हैं; (१) कर (रु० ४७६ करोड़), (२) प्रशासकीय आय (रु० १०१ करोड़), (३) सार्वजनिक उपक्रमों का निवल लाभ (रु० ४० करोड़), (४) अन्य आय (रु० ४८ करोड़), और (५) केन्द्र से सहायता (रु० ७७ करोड़)। उनके मुख्य व्यय निम्न वर्गों में बाँटे जा सकते हैं : (क) विकास व्यय (रु० ४३४ करोड़ या कुल व्यय का ५८%) और (ख) अविकास व्यय (रु० ३१२ करोड़ या कुल व्यय का ४२%)। नीचे की सारिणी में हर व्यय के संबंध में ब्यौरा दिया जाता है।

राज्य सरकारों की आय और व्यय, १९५८-५९

सारिणी

आय के स्रोत	रु० करोड़	व्यय के मद	रु० करोड़
क. कर आय (रु० ४७६ करोड़):—		क. विकास व्यय (रु० ४३४ करोड़)	
(१) उत्पादन कर	११०	(१) शिक्षा	१४३
(२) मालगुजारी	९५	(२) चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य	६१
(३) बिक्री कर	८६	(३) कृषि आदि	५६
(४) आयकर	८४	(४) नागरिक निर्माण	५०
(५) स्टाम्प तथा रजिस्ट्री	३१	(५) सामुदायिक विकास	३७
(६) मोटर गाड़ी कर	२०	(६) सिंचाई	२३
(७) रेल किरायों पर कर	१०	(७) उद्योग	२२
(८) मनोरंजन कर	८	(८) अन्य	४२
(९) बिजली कर	८		
(१०) अन्य कर	२४		
ख. प्रशासकीय आय		ख. अ–विकास व्यय (रु० ३१२ करोड़):—	
ग. सरकारी उपक्रमों से निवल आय (रु० ४० करोड़):—	१०१		
(१) वन	१८	(१) नागरिक प्रशासन	१३६
(२) सिंचाई	१३	(२) आय पर प्रत्यक्ष मांग	५४
(३) बिजली की स्कीमें	४	(३) ऋण सेवायें	४७
(४) सड़क तथा जल यातायात	३	(४) अकाल	१०
(५) उद्योग आदि	२	(५) अन्य	६५
घ. अन्य आय	४८		
ङ. केन्द्र से सहायता आदि	७७		
	७४२		
च. अभाव	४		
रु०	७४६	रु०	७४६

§ २. राज्यों की आय के प्रमुख स्रोत

क. कर आय

(२) मालगुजारी—मालगुजारी राज्यों की आय का दूसरा महत्वपूर्ण साधन हैऔर केवल यही प्रत्यक्ष कर उन्हें प्राप्त है। १९५८–५९ में इससे ९५ करोड़ रु० की आय अनुमानित की गई। यह उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में आय का मुख्य साधन है; किन्तु पश्चिमी बंगाल में, जहाँ अब तक यह स्थायी रूप से स्थिर था, इसका महत्व अब बढ़ रहा है। राज्यों की कुल आय का लगभग १३% इस साधन द्वारा प्राप्त होता है।

मालगुजारी को यदि हम कर रूप में देखें, तो हमें प्रतीत होगा कि यह अच्छे कर के समस्त सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। यह लोचहीन या स्थिर कर है। अन्य शब्दों में, इसकी आय में अधिक परिवर्तन नहीं होता। सन् १९१३–१४ में इसकी भारत में कुल आय ३२ करोड़ रुपये थी; और सन् १९५८–५९ में यह ९५ करोड़ रु० थी। दूसरे, यह बहुत असुविधाजनक होती है और बहुत कड़ाई के साथ वसूल की जाती है। जब फसल खराब हो जाती है, तब किसानों को लगान माफ करके कुछ छूट अवश्य दी जाती है; किन्तु यह बात मानी हुई है कि मालगुजारी को कड़ाई से वसूल किये जाने के कारण बहुत-से किसानों को साहूकार की शरण लेनी पड़ती है। बन्दोबस्त में बहुत समय लगता है और बहुत से अफसर तरह-तरह की जाँच-पड़ताल करते हैं, जिससे बहुत असुविधा होती है। तीसरे, यह मितव्ययिताशून्य है। भारत में मालगुजारी की जाँच (Revenue Survey) संसार भर में सबसे बड़ी और जटिल होती है और उसमें बहुत-सा रुपया व्यय करना पड़ता है। अन्त में, जैसा डाक्टर ग्रेगरी ने कहा है, मालगुजारी कर वस्तुओं पर नहीं, मनुष्यों पर है। अतः चाहे व्यक्ति धनी हो या निर्धन, उसे बराबर मालगुजारी देनी पड़ती है। इस कारण इसके भुगतान करने में धनी की अपेक्षा निर्धन को अधिक बलिदान करना पड़ता है।

(३) बिक्री-कर—यह तुलनात्मक दृष्टि से एक नया कर है। भारत में सबसे पहले मद्रास ने सन् १९३९ में बिक्री कर लगाया, और अब प्रायः प्रत्येक राज्य यह कर लगाता है। इससे सन् १९५८–५९ में ८६ करोड़ रुपये मिले जो कुल आय का १२% होता है। अतः यह कर राज्य की सरकारों को बहुत अच्छा सिद्ध हुआ है। इसके कुछ दोष हैं : (अ) क्योंकि सब व्यक्तियों को समान दर पर यह कर देना पड़ता है, इसलिए इसका बोझ गरीबों पर अधिक पड़ता है और अमीरों पर कम। (आ) इसको बचाने के लिए अब कारखाने वाले सीधे उपभोक्ता को माल बेचने का यत्न करते हैं जिससे एकाधिकार (monopoly) को सहायता मिलती है। (इ) इसकी वसूली कठिन और कीमती होती है। किन्तु अब यह कर स्थायी हो गया है। हर राज्य में अलग-अलग तरह का बिक्री-कर है जिसे एक आधार पर लाने का यत्न किया जा रहा है।

बिक्रीकर दो भागों में बाँटा जा सकता है; (क) सामान्य बिक्री कर जिससे सन् १९५८–५९ में रु० ७५ करोड़ मिले, और (ख) मोटर स्पिरिट पर बिक्री कर जिससे उस वर्ष रु० ११ करोड़ मिले।

(४) आय कर—सन् १९५८–५९ में राज्यों को आय कर से रु० ८४ करोड़ मिले। यह राज्यों का चौथा प्रमुख आय का स्रोत है। यह दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) आय कर में भाग—आय कर केन्द्रीय सरकार एकत्रित करती है; किन्तु

द्वितीय वित्त कमीशन द्वारा निर्धारित सूत्र के अनुसार कुल कर का ६०% भाग राज्यों में बाँट दिया जाता है। राज्यों को सन् १९५८–५९ में इस प्रकार रु० ७६ करोड़ मिले।

(ख) कृषि आय कर—यह कर राज्य सरकारें खेती से मिलने वाली आमदनी पर लगाती हैं। १९५८-५९ में इससे रु० ८ करोड़ मिलने की आशा थी। यह वहुत से राज्यों में लागू है किन्तु आन्ध्र प्रदेश, वम्बई, राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा पंजाब में यह अभी नहीं लगाया गया।

(५) स्टाम्प और रजिस्ट्री—राज्य सरकारें स्टाम्प वेंचकर भी आय प्राप्त करती हैं। यह स्टाम्प डाकखाने के टिकट नहीं होते वरन् (अ) व्यापारिक रुक्कों पर लगाये जाते हैं या (आ) अदालत की फीस के स्टाम्प होते हैं। सन् १९५८-५९ में इस स्रोत से रु० ३१ करोड़ मिले।

(६) मोटर गाड़ी कर.—राज्य सरकार मोटर गाड़ी की रजिस्ट्री द्वारा भी आय प्राप्त करती हैं। इस स्रोत से सन् १९५८-५९ में रु० २० करोड़ प्राप्त हुए।

(७) रेल किराये पर कर—रेल किराये पर कर केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किया जाता है और वह राज्य सरकारों में वित्त कमीशन की सिफारिशों के अनुसार वांटा जाता है। सन् १९५८-५९ में इस स्रोत से राज्यों को रु० ८ करोड़ मिले।

(८) मनोरंजन कर—इससे राज्यों को रु० ८ करोड़ प्राप्त हुए। इस कर के लाभ और हानि इस प्रकार हैं। इसके गुण निम्न हैं: (१) यह न्यायपूर्ण है। यह अधिकतर धनो व्यक्ति देते हैं जिनको इसे अदा करने की शक्ति है। (२) यह आसानी से सिनेमा के टिकट वेचते समय वसूल किया जा सकता है। (३) आजकल धन की कमी के समय में इससे अच्छी आय मिलती है। इसके दोष निम्न हैं: (अ) यह निश्चित नहीं है। (२) इसमें वहुत लोच नहीं है। (३) यह सुविधाजनक नहीं है। (४) जव यह निर्धनों पर लगाया जाता है, तव इससे वहुत कष्ट होता है।

ख. प्रशासकीय आय

प्रशासकीय आय में फुटकर आय शामिल होती हैं। नागरिक निर्माणों की आय इसी में सम्मिलित होती है। सन् १९५८-५९ में इनसे रु० १०१ करोड़ प्राप्त हुए।

ग. सार्वजनिक उपक्रमों से निवल आय

राज्य सरकारों ने कुछ सार्वजनिक उपक्रम भी चलाये हैं जैसे वन व्यवसाय, सिंचाई, शक्ति, यातायात, आदि। इनसे उन्हें कुछ आय भी मिलती है। सन् १९५८-५९, में सार्वजनिक उपक्रमों से रु० ४० करोड़ मिले।

(१) सिंचाई—करों के अतिरिक्त कुछ सरकारी सम्पत्तियों एवं उपक्रमों से भी राज्य की सरकारों को आय होती है जिनमें से सिंचाई प्रमुख है। इस स्रोत से राज्य सरकारों को सन् १९५८-५९ में १३ करोड़ रुपये मिले। नहरें राज्य सरकारें वनवाती

है; और जो किसान उनका पानी काम में लाते हैं, उसके लिये उन्हें रुपया अदा करना होता है।

(२) वन—राज्य सरकारों को जंगल की लकड़ी तथा अन्य उपज बेचकर, जानवर चराने की फीस के रूप में और लकड़ी काटने के लाइसेंस की फीस के रूप में आमदनी होती है। सन् १९५८-५९ में वनों से १८ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। यह रकम अधिक नहीं है पर उचित प्रयत्न करने पर इसमें वृद्धि हो सकती है।

(१) उत्पादन-कर (Excise)—राज्यों की आय का यह सबसे बड़ा मद है। सन् १९५८-५९ में राज्यों को इस स्रोत से ११० करोड़ रुपये मिले। उत्पादन कर केन्द्रीय होता है अथवा राज्यात्मक। केन्द्रीय उत्पादन कर का एक भाग राज्यों में बाँट दिया जाता है; और राज्यों को सन् १९५८-५९ में इस प्रकार ६७ करोड़ रुपये के लगभग मिले। किन्तु राज्यों को यह कर स्वयं लगाने का अधिकार है जिससे उनको अच्छी आय होती है। राज्यों में उत्पादन-कर शराब और अफीम की उत्पत्ति तथा बिक्री पर लगाया जाता है। नशीली वस्तुओं की उत्पत्ति पर कर लगाया जाता है और उनकी बिक्री के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं जिन्हें फीस लेकर दिया जाता है। देश में यह सामान्य मत है कि शराबखोरी के घटाने के लिए इन करों की दर बहुत ऊँची रखनी चाहिए। साइमन कमीशन ने कहा था कि राज्यों में 'अधिकतम आय और न्यूनतम उपभोग' के सिद्धान्त को समस्त राज्यों में माना जाता है। किन्तु इस अवस्था को ठीक-ठीक प्राप्त करना आसान नहीं; और उत्पादन कर की आय केवल मद्य-निषेध (prohibition) और प्रोपेगेंडा द्वारा ही नहीं प्रत्युत प्रवंचन (Evasion) द्वारा घट सकती है। हाल में इस कर की आय काफी घट गई है।

कांग्रेस मद्य-निषेध के पक्ष में आरम्भ में रही है। अतः सरकार बनाने पर इसने इस नीति को क्रियात्मक रूप देना आरम्भ किया। पर मद्यनिषेध से बहुत-सी आय समाप्त होने लगी। इसीलिए युद्धोपरान्त कांग्रेस सरकारों ने इस नीति को हर राज्य में नहीं अपनाया। उत्तर प्रदेश में कानपुर और उन्नाव के जिले में अप्रैल १, १९४८ से, पूर्ण मद्य-निषेध जारी है और कुछ जिलों में बाद को जारी किया गया है।

§ ३. राज्य के व्ययों का ढाँचा

राष्ट्र-निर्माणकारी एवं समाज-कल्याणकारी काम अधिकांशतया राज्य सरकारों को सौंप दिये गये हैं। इन पर जो रुपया खर्च किया जाता है, वह "विकास व्यय" (Development Expenditure) कहलाता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई, उद्योग, बिजली उत्पन्न करना, सामुदायिक योजना आदि इसी श्रेणी में आती हैं। शेष व्यय प्रशासकीय व्यय (Non-Developmental Expenditure) कहलाता है क्योंकि वह नागरिक प्रशासन, कर की वसूली आदि से सम्बन्धित होता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के सूत्रपात होने के समय से, विकास-व्यय का महत्व बहुत बढ़ गया। सन् १९५१-५२ में राज्यों की कुल आय का ५१% विकास पर व्यय हुआ। प्रथम योजना के अंतिम वर्ष (१९५५-५६) में यह अंक बढ़कर ५७% हो गया; और सन् १९५६-५७ में ५९%। यह अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है:

सारिणी ४५

राज्य सरकारों का विकास एवं प्रशासकीय व्यय

वर्ष	विकास व्यय (करोड़ रुपये)	प्रशासकीय व्यय (करोड़ रुपये)	कुल व्यय (करोड़ रुपये)	विकास व्यय का कुल व्यय से प्रतिशत
१९५१-५२	१५१.८	१४६.८	२९८.४	५१
१९५२-५३	१६२.८	१५३.५	३१८.३	५१
१९५३-५४	१७४.८	१७२.३	३४७.१	५०
१९५४-५५	२१२.८	१८९.९	४०२.७	५०
१९५५-५६	२५४.९	१९४.४	४९४.४	५७
१९५६-५७	३८७.२	२६७.२	६५४.४	५९

ब्रिटिश काल में यह आलोचना की जाती थी कि विकास सम्बन्धी विषयों पर बहुत कम खर्च किया जाता था और सुरक्षा पर अधिक। सामान्य शासन पर इतना अधिक व्यय होता था कि राष्ट्र-निर्माण के कार्यों की उपेक्षा करनी पड़ती थी। अर्थशास्त्री कहते थे कि सरकार को शासन पर व्यय घटाना और मितव्ययिता से काम लेना चाहिए; तथा राष्ट्र-निर्माण पर अधिक व्यय करना चाहिए। पर सरकार ने इस दिशा में कोई ध्यान नहीं दिया। सन् १९३८-३९ में विकास सम्बन्धी व्यय कुल व्यय का केवल २८% था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तुरन्त ही यह प्रवृत्ति न बदल सकी, और सन् १९४९-५० में विकास सम्बन्धी व्यय कुल रकम का केवल ३०% था। किन्तु योजनात्मक उन्नति के फलस्वरूप इस दिशा में अब सुधार हुआ है। सन् १९५८-५९ में विकास व्यय कुल व्यय का ५८% था।

विकास व्यय (Development Expenditure)

१. शिक्षा (१४३ करोड़ रु० या २०%)—विकास-व्यय का सबसे महत्वपूर्ण मद शिक्षा है जिस पर सरकारों ने सन् १९५८-५९ में १४३ करोड़ रुपये व्यय किये। इसमें प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा शामिल हैं। देश की महान् जनसंख्या तथा निरक्षरता को देखते हुए यह व्यय पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

औषधि तथा जन-स्वास्थ्य (६१ करोड़ रु० या ८%)—राज्य सरकारें जनता की चिकित्सा तथा जनस्वास्थ्य की रक्षा पर भी काफी ध्यान देती हैं। वे आवश्यकतानुसार पर्याप्त व्यय तो नहीं कर सकतीं क्योंकि उनके पास धन की कमी रहती है। पर यह व्यय बढ़ रहा है। उदाहरणार्थ सन् १९५८-५९ में इस मद पर केवल ६१ करोड़ रुपये ही खर्च हुआ था।

३. कृषि (५६ करोड़ रुपये या ७%)—राज्य सरकारें उत्पत्ति बढ़ाने पर भी विशेष ध्यान दे रही हैं। खेती देश का सबसे महान् पेशा है और इसलिये इसकी उन्नति के लिए राज्य सरकारें विशेष रूप से चिन्तित रहती हैं। उन्होंने सन् १९५८-५९ में इस विषय पर ५६ करोड़ रुपये व्यय किये जो कुल व्यय का ७% था। इसमें सामुदायिक योजना पर किया गया व्यय तथा पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत किया गया व्यय शामिल नहीं है।

४. नागरिक निर्माण कार्य (५० करोड़ रु० या ७%)—राज्य सरकारों को सरकारी इमारतों, सड़कों आदि के निर्माण तथा मरम्मत पर भी रुपया खर्च करना पड़ता है। यह उनके विकास व्यय का दूसरा बड़ा मत है। सन् १९५८-५९ में इस पर ५० करोड़ रुपये खर्च हुए जो कुल व्यय का ७% था।

५. ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास (३७ करोड़ रुपये या ५%)—राज्य सरकारें ग्रामवासियों के बहुमुखी विकास के लिये सामुदायिक विकास तथा अन्य योजनाओं द्वारा चेष्टा कर रही हैं। इस विषय पर सन् १९५८-५९ में ३७ करोड़ रुपये व्यय कये गये।

६. अन्य—अन्य मद ऊपर की सारिणी में दिखाये गये हैं। राज्य सरकारें आर्थिक प्रणाली में संतुलन लाने के लिये औद्योगिक विकास के काम भी करती हैं। इस विषय पर सन् १९५८-५९ में २२ करोड़ रुपये खर्च किये गये। सिंचाई पर रु० २३करोड़ खर्च हुए।

प्रशासकीय व्यय (Non-Development Expenditure)

१. नागरिक प्रशासन (Civil Administration) (१३६ करोड़ रु० या १८%) .—हर पाँच रुपयों में से एक रुपया नागरिक प्रशासन पर व्यय किया जाता है। इस वर्ग में सामान्य शासन, न्याय, जेल, पुलिस, आदि सम्मिलित होते हैं। ब्रिटिश काल में इस मद का बहुत महत्व था। सन् १९३८-३९ में यह २०% था, और भारतीय अर्थशास्त्रियों के मत में यह बहुत अधिक था। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार पर नये उत्तरदायित्व आ गये फिर भी यह इस व्यय में १८% है। इस मद में अधिकतम मितव्ययता वांछनीय है।

२. कर वसूल करने का व्यय (Direct Demand on Revenue) ५४ करोड़ रुपये या ७%)—कर वसूल करने तथा प्राप्त करने के लिये राज्य सरकारों को व्यय करना पड़ता है। यह व्यय सन् १९५८-५९ में ५४ करोड़ रुपये हुआ जो कुल व्यय का ७% था। कर तथा अन्य आमदनी वसूल करने में आजकल काफी व्यय हो रहा है—हर १०० रु० वसूल करने में १२ रु० खर्च करने पड़ते हैं जो बहुत अधिक है। इस दिशा में किफायत करना बहुत आवश्यक है।

३. अन्य व्यय—राज्य सरकारों को फुटकर मदों पर भी खर्च करना पड़ता है, जिसमें से ऋण सेवाएँ (Debt Services) सबसे प्रमुख हैं। राज्य सरकारों को ऋण पर व्याज देनी पड़ती है तथा उसके भुगतान के लिये कुछ रुपया कोष में प्रति वर्ष रखना पड़ता है। सन् १९५८-५९ में इस मद पर ४७ करोड़ रुपये खर्च हुए।

व्यय का ढाँचा (Pattern)

ऊपर के विवेचन से पाठक को राज्य सरकारों के व्यय के ढाँचे का अनुमान लग गया होगा। यह ढाँचा कोष्ठक ४७ से स्पष्ट हो जाता है। स्मरण रहे कि कुल व्यय का ७०% भाग ६ मदों पर होता है।

सारिणी ४६

राज्यों के व्यय का ढाँचा

व्यय का मद	करोड़ रु०	कुल व्यय का प्रतिशत
१. शिक्षा	१४३	२०
२. नागरिक प्रशासन	१३६	१८
३. स्वास्थ्य	६१	८
४. खेती	५६	७
५. कर वसूली	५४	७
६. निर्माण कार्य	५०	७
७. अन्य	२४६	३३
योग	७४६	१००

§ ४. कुछ राज्यों के बजट

आन्ध्र प्रदेश का बजट

आन्ध्र प्रदेश भारत के बड़े राज्यों में गिना जाता है और इसका वार्षिक बजट रु० ६४ करोड़ के लगभग होता है। हमने नीचे की सारिणी में सन् १९५८-५९ के आय के स्रोत और व्यय के मद दिए हैं।

सारिणी ४७

आन्ध्र-प्रदेश का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. उत्पादन कर	११	१. शिक्षा	१२
२. मालगुजारी	८	२. आय पर प्रत्यक्ष माँग	५
३. बिक्री कर	८	३. सामान्य प्रशासन	५
४. आयकर	६	४. पुलिस	५
५. केन्द्रीय सहायता	५	५. नागरिक निर्माण	५
६. नागरिक प्रशासन	४	६. सिंचाई	४
७. स्टाम्प	२	७. चिकित्सा	३
८. वन	२	८. खेती	३
९. नागरिक निर्माण	२	९. विजली की स्कीम	३
१०. अन्य	१६	१० अन्य	१८
			६३
		११. आधिक्य	१
	६४		६४

आय के स्रोत—(१) आन्ध्र प्रदेश की आय का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत उत्पादन कर हैं जिनसे प्रति वर्ष रु० ११ करोड़ मिल जाते हैं। (२) आय का दूसरा प्रमुख स्रोत मालगुजारी है जिससे साल में रु० ८ करोड़ मिलते हैं। (३) बिक्री कर का नम्बर इसके पश्चात् आता है और इससे भी साल में लगभग रु० ८ करोड़ प्राप्त होते हैं। (४) इसके पश्चात् आय-कर है जो रु० ६ करोड़ सलाना देता है। स्मरण रहे कि भारत के समस्त राज्यों के सामूहिक आय पक्ष में भी इन मदों का यही क्रम है। (५) भारत सरकार इस राज्य को वर्ष में रु० ५ करोड़ के लग भग की वित्तीय सहायता देती है। (६) नागरिक प्रशासन से रु० ४ करोड़ की आमदनी होती है। (७) स्टाम्प और रजिस्ट्री से रु० २ करोड़ मिलते हैं; तथा वन और नागरिक निर्माण में से प्रत्येक इतनी ही आय देते हैं। अतः स्पष्ट है कि इस राज्य की अधिकांश आमदनी करों से प्राप्त होती है।

व्यय के मद (१)आन्ध्र प्रदेश में व्यय का सबसे। महत्वपूर्ण मद शिक्षा है जिस पर वर्ष में रु० १२ करोड़ व्यय किए जाते हैं। यह कुल आय का २०% होता है। स्मरण रहे कि यही अखिल भारतीय औसत भी है।

(२) व्यय का दूसरा मद आय पर प्रत्यक्ष मांग है। करों के वसूल करने में रु० ५ करोड़ व्यय होते हैं जो कुल व्यय का ७% है। यही अंक अखिल भारतीय अंक है। (३) सामान्य प्रशासन पर साल में रु० ५ करोड़ खर्च किए जाते हैं। (४) पुलिस पर काफी व्यय होता है। यह साल में रु० ५ करोड़ आता है। (५) राज्य सरकार सार्वजनिक इमारतों तथा सड़क आदि बनवाने पर साल में रु० ५ करोड़ के लगभग व्यय करती है। (६) आन्ध्र प्रदेश की सरकार सिंचाई पर रु० ४ करोड़ व्यय करती है कृषि प्रधान राज्य में व्यय का यह लाभदायक मद है। (७) यह राज्य चिकित्सा पर रु० ३ करोड़ वार्षिक व्यय करता है; और खेती तथा बिजली-निर्माणों पर भी अलग-अलग उतना ही व्यय किया जाता है।

आधिक्य (Surplus)—आन्ध्र प्रदेश के बजट में रु० १ करोड़ का आधिक्य है। यह अच्छी बात है क्योंकि हाल में राज्य सरकारों के बजट में अभाव या घाटा दीख पड़ता था जो योजनात्मक उन्नति में बाधक होता था।

बिहार सरकार का बजट

बिहार सरकार का वार्षिक बजट रु० ६२ करोड़ का होता है। हाल में ही यह बजट काफी बढ़ गया है, क्योंकि सन् १९५४-५५ में इसकी राशि केवल रु० ४० करोड़ थी। नीचे की सारिणी में बिहार सरकार का सन् १९५८-५९ का बजट दिखाया जाता है।

सारिणी ४८

बिहार सरकार का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. मालगुजारी	१२	१. शिक्षा	९
२. उत्पादन-कर	१०	२. आयकार प्रत्यक्ष मांग	७
३. नागरिक प्रशासन	९	३. सामुदायिक विकास	५
४. आयकर	८	४. ऋण सेवाएँ	५
५. केन्द्रीय सहायता	५	५. पुलिस	४
६. स्टाम्प	२	६. सामान्य प्रशासन	४
७. अन्य	१६	७. कृषि	३
		८. सार्वजनिक स्वास्थ्य	२
		९. चिकित्सा	२
		१०. अन्य	१५
			५६
		११. आधिक्य	६
	६२		६२

आय के स्रोत—(१) बिहार सरकार की सबसे अधिक आय मालगुजारी से होती है। यह कुल आय का २०% है। (२) आय का दूसरा प्रमुख स्रोत उत्पादन कर है। इनसे साल में रु० १० करोड़ या कुल आय का ⅙ भाग प्राप्त होता है। (३) इसके पश्चात्

नागरिक प्रशासन का नम्बर आता है जिनसे फुटकर आय रु० ९ करोड़ की होती है। (४) आयकर से वर्ष में रु० ८ करोड़ मिलता है। (५) केन्द्रीय सरकार बिहार को रु० ५ करोड़ सहायता के रूप में देती है।(६) स्टाम्प और रजिस्ट्री से रु० २ करोड़ प्राप्त होते हैं।(७) अन्य स्रोतों से कुल मिला कर रु० १६ करोड़ मिलते हैं।

व्यय के मद—(१) बिहार में व्यय का सबसे प्रमुख साधन शिक्षा है जिस पर रु० ९ करोड़ (या कुल व्यय का १४%) व्यय किया जाता है। यह अखिल भारतीय औसत से जो २०% है कम है; और यह व्यय बढ़ाया जाना चाहिए। (२) आय पर प्रत्यक्ष माँग व्यय का दूसरा प्रमुख मद है। राज्य आय के वसूल करने पर रु० ७ करोड़ व्यय करता है जो कुल व्यय का ११% आता है। इस संबंध में सब राज्यों का सामूहिक औसत ७% ही है। अतः इस दिशा में किफायत करना आवश्यक है। (३) बिहार के बजट का एक विशेष लक्षण यह है कि यह सामुदायिक विकास पर विशेष बल देता है। व्यय का यह तीसरा मद है जिस पर रु० ५ करोड़ खर्च होते हैं। यह कुल व्यय का ८% है जब कि सब राज्यों का सामूहिक अंक केवल ५% है। (५) ऋण सेवाओं पर बिहार सरकार साल में रु० ५ करोड़ या कुल व्यय का ८% खर्च करती है। इससे पता चलता है कि बिहार सरकार काफी अधिक ऋणी है। समस्त राज्य के सामूहिक बजटों में इस मद का प्रतिशत ६ है। (६) इस राज्य में पुलिस पर रु० ४ करोड़ या कुल व्यय का ६% खर्च किया जाता है। (७) सामान्य प्रशासन पर व्यय की मात्रा भी उतनी ही है—रु० ४ करोड़। (८) खेती पर बिहार रु० ३ करोड़ व्यय करता है; और सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा पर रु० २–२ करोड़।

आधिक्य—बिहार के बजट में काफी आधिक्य है। इसकी राशि रु० ६ करोड़ है। सामान्यतया बजट में आधिक्य होना अच्छा नहीं माना जाता; पर क्योंकि आजकल विकास पर जोर दिया जा रहा है, इसलिए यह आधिक्य श्रेयस्कर है क्योंकि यह पूँजीगत बजट में उन्नति के लिए चला जाता है।

दिल्ली प्रशासन का बजट

दिल्ली प्रशासन का सन् १९५८–५९ का बजट नीचे की सारिणी में दिखाया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि दिल्ली राज्य नहीं है वरन् केन्द्रीय क्षेत्र है जिसका

सारिणी ४९

दिल्ली प्रशासन का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. बिक्री कर	२	१. शिक्षा	३
२. उत्पादन कर	२	२. पुलिस	२
३. ऋण सेवायें	१	३. आय पर प्रत्यक्ष माँग	१
४. अन्य	१	४. चिकित्सा	१
		५. अन्य	१
	६		
५. अभाव	२		
	८		८

शासन-भार चीफ कमिश्नर के ऊपर है। अतः इसका बजट छोटा है। यह भी नोट करना चाहिए कि दिल्ली शहरी इलाका है; अतः इसके पास मालगुजारी या कृषि आय कर ऐसे आय के साधन नहीं हैं जो भारतीय राज्यों को प्राप्त हैं।

आय के स्रोत—(१) दिल्ली प्रशासन की आय का सबसे प्रमुख स्रोत बिक्री कर है। इससे साल में रु० २ करोड़ की आय होती है जो कुल आय का ३३% है। समस्त राज्य सामूहिक रूप से इस स्रोत से केवल १२% आय प्राप्त करते हैं। दिल्ली उत्तरी भारत का बहुत महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र है। इसीलिए यहाँ बिक्री कर से इतनी अधिक आमदनी होती है। (२) दिल्ली में जमाने से उत्पादन कर का महान महत्व रहा है। सन् १९५८–५९ में इससे रु० २ करोड़ मिले जो कुल आय का ३३% था। समस्त राज्यों की सामूहिक आय का केवल १५% ही इस स्रोत से मिलता है। दिल्ली प्रशासन में इसका विशेष महत्व इस कारण है कि दिल्ली बड़ा औद्योगिक क्षेत्र है और इसलिए उत्पादन कर से बहुत आय मिलती है।

व्यय के मद—(१) दिल्ली प्रशासन के व्यय का सबसे प्रमुख मद शिक्षा है जिस पर साल में रु० ३ करोड़ व्यय होते हैं। यह कुल व्यय का ३८% है। यह अखिल भारतीय अंक का (जो २०% है) लगभग दूना है। यह इस बजट का एक अच्छा लक्षण है। (२) व्यय का दूसरा बड़ा मद पुलिस है जिस पर वर्ष में रु० २ करोड़ खर्च होते हैं और जो कुल व्यय का २५% आता है। यह राशि बहुत अधिक है; पर दिल्ली के बहुत घने बसे होने के कारण पुलिस पर अधिक व्यय होना स्वाभाविक है। (३) दिल्ली का व्यय का तीसरा बड़ा मद आय वसूली है जिस पर साल में रु० १ करोड़ या कुल व्यय का १२% खर्च होता है। यह राशि काफी अधिक है क्योंकि अखिल भारतीय औसत ७% है। इस दिशा में किफायत का प्रयत्न किया जा सकता है। (४) चिकित्सा पर दिल्ली प्रशासन रु० १ करोड़ व्यय करता है।

अभाव—दिल्ली प्रशासन के बजट में रु० २ करोड़ का अभाव है। यह भारी रकम है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि दिल्ली प्रशासन अपनी कुल आय में ३३% की वृद्धि कर सके तभी उसका बजट संतुलित हो सकेगा। अतः व्यय में किफायत करना, कर-अपवंचन (अर्थात् कर बचाने वालों के प्रयासों) पर रोक थाम करना और केन्द्र से सहायता प्राप्त करना आदि द्वारा आय बढ़ाने की चेष्टा करना अभीष्ट होगा।

जम्मू और काश्मीर का बजट

जम्मू और काश्मीर भारत का कम उन्नत राज्य है। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि इसका बजट छोटा है। इसकी कुल आय रु० १२ करोड़ वार्षिक है। यह आय आन्ध्र प्रदेश की आय का $\frac{1}{5}$, पंजाब की आय का $\frac{1}{3}$ और राजस्थान की आय का $\frac{1}{2}$ है। यह राज्य प्रगतिशील उन्नति कर रहा है। सारिणी ५० में इसकी आय के स्रोत तथा व्यय के मद दिखाये गये हैं।

आय के स्रोत—.इस राज्य की आय का सबसे प्रमुख स्रोत केन्द्रीय सहायता है। यह राशि ३ करोड़ है जो कुल आय का २५% है। यह रकम बहुत बड़ी है, विशेषतया जब हम यह देखते हैं कि अखिल भारतीय अंक १०% से भी कम है। किन्तु काश्मीर के कम उन्नति होने के कारण तथा सीमा पर स्थित राज्य की हैसियत में यह विशेष ध्यान तथा सावधानी का पात्र होने के कारण, ऐसा होना स्वाभाविक है। (२) काश्मीर

सारिणी ५०

जम्मू और काश्मीर सरकार का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. केन्द्रीय सहायता	३	१. आय पर प्रत्यक्ष मांग	१
२. जंगल	२	२. ऋण सेवायें	१
३. उत्पादन कर	१	३. पुलिस	१
४. मालगुजारी	१	४. शिक्षा	१
५. नागरिक निर्माण	१	५. नागरिक निर्माण	१
६. अन्य	४	६. सामुदायिक विकास	१
		७. अन्य	४
			१०
		८. आधिक्य	२
	१२		१२

बजट का एक और विशेष लक्षण यह है कि इसे जंगलों से बहुत बड़ी आय प्राप्त होती है। यह प्रति वर्ष रु० २ करोड़ या कुल आय का १६% है। राज्य में बहुमूल्य वन विद्यमान हैं, और यदि उनका सुव्यवस्थित शोषण किया जाय, तो आय और भी बढ़ सकती है। (३) दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत उत्पादन करों का है। उनसे साल में रु० १ करोड़ या कुल आय का ८% प्राप्त होता है। यह राज्य औद्योगिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील है; और औद्योगीकरण की प्रगति के साथ-साथ उत्पादन करों की आय भी बढ़ेगी। (४) मालगुजारी से आय रु० १ करोड़ होती है जो कुल आय का ८% है। यह अखिल भारतीय अंक (१३%) से कम है।

व्यय के मद—काश्मीर राज्य के व्यय के मदों में एक अपनी विशेषता है। विशेषता इस बात में है कि किसी भी मद का कोई खास या विशेष महत्व नहीं। आय उगाहने, ऋण सेवाओं, पुलिस, शिक्षा, नागरिक निर्माण तथा सामुदायिक विकास में से प्रत्येक पर लगभग रु० १ करोड़ व्यय किया जाता है। इस विशेषता का कारण यह है कि यह राज्य कम उन्नत है। इसे इतनी बातों पर ध्यान देना पड़ता है कि सब कामों के लिए रुपया काफी नहीं होता। किन्तु आशा है कि देश की उन्नति के साथ-साथ उसकी आय बढ़ेगी और विकास संबंधी व्यय विशेष महत्व ग्रहण करेंगे।

आधिक्य—काश्मीर के बजट में रु० २ करोड़ का आधिक्य है। वैसे यह विचित्र-सा लगता है कि जिस राज्य को रुपये की इतनी कमी हो वह अपनी समस्त आय खर्च न कर सके। किन्तु वास्तव में बात यह है कि काश्मीर की सरकार रुपया व्यय करने में बहुत सतर्क है; और बजट में आधिक्य इसलिए व्यक्त करती है कि यह विकास के लिए काम आ सके।

मध्य प्रदेश का बजट

मध्य प्रदेश भारत के बड़े राज्यों में से एक है और उसका बजट हर वर्ष रु० ५६ करोड़ के लगभग होता है। हमने सारिणी ५१ में मध्य प्रदेश सरकार के सन् १९५८–५९ की आय और व्यय का व्योरा दिया है।

सारिणी ५.१

मध्य प्रदेश का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. मालगुजारी	९	१. शिक्षा	११
२. उत्पादन कर	८	२. आय पर प्रत्यक्ष मांग	५
३. वन	६	३. पुलिस	५
४. आय कर	५	४. सामान्य प्रशासन	४
५. बिक्री कर	५	५. सार्वजनिक निर्माण	४
६. नागरिक प्रशासन	५	६. सामुदायिक विकास	४
७. केन्द्रीय सहायता	४	७. ऋण सेवायें	३
८. सामुदायिक विकास	२	८. सिंचाई	३
९. अन्य	१०	९. चिकित्सा	२
		१०. सार्वजनिक स्वास्थ्य	२
		११. अन्य	१०
			५३
		१२. आधिक्य	१
	५४		५४

आय के स्रोत—(१) मध्य प्रदेश की आय का सबसे प्रमुख स्रोत मालगुजारी है जिससे १९५८–५९ में रु० ९ करोड़ या कुल आय का १६% प्राप्त हुआ। यह सब राज्यों के सामूहिक अंक से (जो १३% है) अधिक है। यह भी नोट करना चाहिए कि मध्य प्रदेश की आय के स्रोतों में मालगुजारी का प्रथम स्थान है। किन्तु समस्त में इसका स्थान दूसरा है। (२) आय का दूसरा प्रधान स्रोत उत्पादन कर है जिससे रु० ८ करोड़ या कुल आय का १४% मिलता है। अखिल भारतीय औसत १५% का है, जिससे मध्य प्रदेश का प्रतिशत कुछ ही कम है। यदि हम देश के समस्त राज्यों को सामूहिक रूप से लें, तो उत्पादन कर आज का सबसे प्रमुख स्रोत है। (३) मध्य प्रदेश को वनों से रु० ६ करोड़ या कुल आय का ११% मिलता है। यह राज्य वनों में बहुत धनी है और यह बहुत अच्छा है कि यह अपने जंगलों का नुकसान शोषण करने में प्रयत्नशील है। (४) आय कर से मध्यप्रदेश को रु० ५ करोड़ प्राप्त होते हैं जो आय का चौथा स्रोत है। (५) इसके पश्चात् बिक्री कर आता है जिससे भी लगभग उतनी ही आय मिलती है। (६) नागरिक प्रशासन से विविध आय रु० ५ करोड़ होती है। (७) केन्द्रीय सरकार से राज्य को साल में रु० ४ करोड़ मिलते हैं।

व्यय के मद—(१) मध्य प्रदेश की सरकार सबसे अधिक महत्व शिक्षा पर देती है जिस पर उसने सन् १९५८–५९ में रु० ११ करोड़ या कुल व्यय का २०% खर्च किया। स्मरण रहे कि अखिल भारतीय अंक भी २०% है। (२) मध्यप्रदेश सरकार आय वसूल करने में रु० ५ करोड़ खर्च करती है जो कुल व्यय का ९% है। समस्त राज्यों का सामूहिक प्रतिशत ७ ही आता है; अतः इस दिशा में इस राज्य को किफायत करनी चाहिए।

(३) पुलिस पर भी यह राज्य रु० ५ करोड़ वर्ष में व्यय करता है, जो कुल व्यय का ९% आता है। (४) सामान्य प्रशासन व्यय का अगला महत्वपूर्ण मद है जिस पर रु० ४ करोड़ या कुल व्यय का ७% खर्च किया जाता है। यह अखिल भारतीय औसत (जो १८% है) से काफी कम है। (५) नागरिक निर्माण अर्थात् सार्वजनिक इमारतों और सड़क आदि के बनाने और उनकी मरम्मत करने पर यह राज्य साल में रु० ४ करोड़ या कुल व्यय का ७% खर्च करता है। (६) सामुदायिक विकास खर्च का एक और महत्वपूर्ण मद है जिस पर भी रु० ४ करोड़ वार्षिक व्यय किए जाते हैं। (७) ऋण सेवाओं पर रु० ३ करोड़ व्यय होते हैं; और उतने ही खेती पर भी। चिकित्सा पर रु० २ करोड़ खर्च किए जाते हैं; और उतनी ही रकम सार्वजनिक स्वास्थ्य पर भी व्यय की जाती है।

आधिक्य—मध्य प्रदेश के बजट में अब थोड़ा सा आधिक्य (रु० १ करोड़ का) होने लगा है। इसके पहले बजट में अभाव होता था, पर अब अवस्था सुधर गई है।

पंजाब सरकार का बजट

पंजाब सरकार का बजट रु० ५० करोड़ के लगभग होता है। इस राज्य की आय और व्यय का सन् १९५८–५९ का ब्योरा नीचे की सारिणी में दिखाया गया है।

सारिणी ५२

पंजाब सरकार का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. उत्पादन कर	९	१. शिक्षा	११
२. नागरिक प्रशासन	६	२. नागरिक निर्माण	९
३. बहुप्रयोजनीय नदी परियोजनायें	५	३. पुलिस	५
४. मालगुजारी	४	४. आय पर प्रत्यक्ष माँग	४
५. आयकर	३	५. सामान्य प्रशासन	३
६. सिंचाई	२	६. चिकित्सा	२
७. केन्द्रीय सहायता	२	७. सामुदायिक विकास	२
८. अन्य	१७	८. अन्य	१४
	४८		
९. अभाव	२		
	५०		५०

आय के स्रोत—(१) पंजाब की आय का सबसे बड़ा स्रोत उत्पादन कर है जिनसे १९५८–५९ में रु० ९ करोड़ या कुल आय का १८% प्राप्त हुआ। यह अखिल भारतीय औसत से (जो १५% है) अधिक है। (२) इसके पश्चात् नागरिक प्रशासन का नम्बर आता है जिससे रु० ६ करोड़ या कुल आय का १२% मिला। (३) पंजाब में बहुप्रयोजनीय नदी परियोजनाओं का बहुत महत्व है और इनसे आय प्राप्त होने लगी है १९५८–५९ में इनसे रु० ५ करोड़ मिले जो कुल आय का १०% था। यह इस राज्य की एक विशे-

पता है क्योंकि अन्य राज्यों में इस मद का इतना महत्व नहीं। (४) आय का अगला स्रोत मालगुजारी है जिससे रु० ४ करोड़ या कुल आय का ८% मिला। अन्य राज्यों की अपेक्षा पंजाब में मालगुजारी पर महत्व कम है क्योंकि अखिल भारतीय औसत १३% है। (५) पंजाब को आय कर से रु० ३ करोड़ मिलते हैं जो कुल आय का ६% है। (६) सिंचाई से रु० २ करोड़ मिलते हैं। (७) केन्द्रीय सहायता भी रु० २ करोड़ के बराबर आती है।

व्यय के मद—(१) पंजाब सरकार के व्यय का सबसे प्रमुख मद शिक्षा है जिस पर १९५८–५९ में रु० ११ करोड़ या कुल व्यय का २२% व्यय हुआ। यह अखिल भारतीय औसत से अधिक है क्योंकि यह औसत २०% ही है। (२) दूसरा मद नागरिक निर्माण का है जिस पर रु० ९ करोड़ व्यय हुए और जो कुल व्यय का १८% था। पंजाब में नागरिक निर्माण का महत्व काफी अधिक है क्योंकि अखिल भारतीय औसत ७% ही है। (३) व्यय का तीसरा मद पुलिस है जिस पर पंजाब में रु० ५ करोड़ या कुल व्यय का १०% खर्च हुआ। (४) पंजाब ने आय की वसूली में रु० ४ करोड़ खर्च किए। यह कुल व्यय का ८% आता है। अखिल भारतीय औसत ७% है। (५) व्यय का अगला मद सामान्य प्रशासन है जिस पर पंजाब रु० ३ करोड़ वार्षिक खर्च करता है। यह कुल व्यय का ६% है और अखिल भारतीय अंक (जो १८% है) से बहुत कम है। (६) पंजाब चिकित्सा पर रु० २ करोड़ और सामुदायिक विकास पर रु० २ करोड़ खर्च करता है।

पंजाब राज्य उन थोड़े से राज्यों में है जिनके बजट में अभाव अब भी चला आ रहा है। सन् १९५८–५९ में यह कमी रु० २ करोड़ थी।

राजस्थान का बजट

राजस्थान देश का एक प्रमुख राज्य है यद्यपि इसकी गणना बड़े-बड़े राज्यों में नहीं की जा सकती। कुछ काल पूर्व यह पार्ट बी राज्य था और इसका बजट रु० २२ करोड़ के लगभग होता था। किन्तु पुनर्संगठन के पश्चात् यह पहले से बड़ा राज्य बन गया है।

सारिणी ५३

राजस्थान का बजट, १९५८–५९

आय	रु० करोड़	व्यय	रु० करोड़
१. उत्पादन कर	६	१. शिक्षा	७
२. मालगुजारी	६	२. पुलिस	४
३. नागरिक प्रशासन	५	३. आय पर प्रत्यक्ष माँग	३
४. आय कर	३	४. ऋण सेवायें	३
५. बिक्री कर	३	५. विद्युत परियोजनायें	३
६. केन्द्रीय सहायता	३	६. सामान्य प्रशासन	२
७. अन्य	८	७. चिकित्सा	२
		८. नागरिक निर्माण	२
		९. अन्य	८
	३४		३४

और अब इसका वजट रु० ३४ करोड़ के लगभग होता है। सारिणी ५३ में आय के स्रोत तथा व्यय के मद दिखाये गये हैं।

आय के स्रोत—(१) राजस्थान की सरकार की आय का सबसे प्रमुख स्रोत उत्पादन कर हैं जिससे सन् १९५८–५९ में रु० ६ करोड़ या कुल आय का १८% मिला। (२) इसके पश्चात् मालगुजारो का नम्बर आता है जिससे भी लगभग उतनी ही राशि मिली। अखिल भारतीय औसत १३% है जो इससे कम है। (३) नागरिक प्रशासन से राजस्थान सरकार को रु० ५ करोड़ मिलते हैं जो कुल आय का १५% है। (४) आयकर से इस राज्य को रु० ३ करोड़ या कुल आय का ९% मिलता है। (५) विक्री कर से भी इसे इतनी ही आय मिलती है। (६) केन्द्रीय सरकार इसे रु० ३ करोड़ देती है जो कुल आय का ९% है।

व्यय के मद—(१) राजस्थान की सरकार सबसे अधिक व्यय शिक्षा पर करती है। यह रु० ७ करोड़ या कुल व्यय का २१% है। यह अखिल भारतीय औसत (जो २०% है) के मुकाबले का है। (२) व्यय का दूसरा महत्वपूर्ण मद पुलिस है। इस पर रु० ४ करोड़ या कुल व्यय का १२% खर्च होता है। (३) इसके बाद नम्बर आय वसूली का आता है जिस पर रु० ३ करोड़ खर्च होते हैं। यह कुल आय का ९% है अखिल भारतीय अंक ७% है। अतः इस दिशा में मितव्ययिता का स्थान है। (४) ऋण सेवाओं पर राजस्थान सरकार ने रु० ३ करोड़ व्यय किए। (५) विद्युत परियोजनाओं पर भी इतनी ही राशि खर्च की गई। सरकार राज्य में विजली की पूर्ति बढ़ा रही है। अतः इतना व्यय उचित है। (६) सामान्य प्रशासन पर रु० २ करोड़ व्यय होते हैं। यह कुल व्यय का ६% है जो काफी कम है। (७) इस राज्य में चिकित्सा पर रु० २ करोड़ व्यय हुए। (८) उतनी ही रकम नागरिक निर्माणों पर खर्च की गई।

संतुलित वजट—राजस्थान का वजट संतुलित वजट है। यह इसका अच्छा लक्षण है।

सारांश

राज्य सरकारों की आय के प्रधान स्रोत कर, प्रशासकीय आय, सरकारी उपक्रमों का लाभ तथा केन्द्रीय सहायता हैं। प्रमुख कर इस प्रकार हैं : उत्पादन कर, मालगुजारी, बिक्री कर, आय कर, स्टाम्प, मोटर कर, रेल किराया कर, मनोरंजन कर, बिजली कर। जिन सरकारी उपक्रमों से लाभ प्राप्त होता हैं वे निम्न हैं : वन, सिंचाई, बिजली परियोजनाएँ, यातायात तथा उद्योग। राज्य वजटों में अभाव नाम मात्र का होता है। उनका ५८% व्यय विकास (शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, नागरिक निर्माण, सामुदायिक विकास, सिंचाई आदि) पर होता है; और ४२% नागरिक प्रशासन, आय वसूली, ऋण सेवाओं तथा अकाल पर।

परीक्षा प्रश्न

दिल्ली, हायर सेकन्डरी

1. Attempt a brief note on the principal resources of the States in India. (1957).

2. Write a note on principal heads of expenditure of the States. (1955).

पंजाब, इन्टर

3. Review the main items of income and expenditure of the Punjab Government giving appropriate figures from the budget of any of the following years :—

(*a*) 1956-57.

(*b*) 1957-58. (1957).

4. Write a note on the main sources of Revenues of the *Punjab Government. (1954).*

जम्मू–काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

5. Write a note on the main sources of income of the Jammu and Kashmir Government. (1954).

6. Enumerate the main items of revenue of the State of Jammu and Kashmir and suggest steps for their enlargement. (1952).

7. Write a note on sales tax. (1592).

8. Write a note on Sources of Revenue and Expenditure of Jammu and Kashmir State (1951).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

9. Describe the principal sourees of Revenue and items of expenditure of the Rajasthan Government, what economies in expenditure and what additional sources of revenue would you suggest for the state to better the economic welfare of the people ? (1955).

10. Write a note on Sale-tax. (1956).

पटना, इन्टर आर्ट्स

11. Write a note on Sale-tax in Bihar. (1957).

उस्मानिया, इन्टर आर्ट्स

12. What are the chief sources of revenue and heads of expenditure of Government of Hyderabad ? (1951).

अध्याय २३

भारत में स्थानीय राजस्व

हमारे देश में शासन संस्थाएँ तीन प्रकार की हैं : केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें और स्थानीय शासन संस्थाएँ। इनमें से हम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के राजस्व का अध्ययन कर चुके हैं। इस अध्याय में हम अब स्थानीय शासन संस्थाओं के राजस्व पर प्रकाश डालेंगे। भारत में विद्यमान स्थानीय संस्थाएँ चार प्रकार की होती हैं : (१) म्युनिसिपल कार्पोरेशंस, (२) म्युनिसिपैलिटियाँ, (३) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, और (४) ग्राम पंचायत।

§ १. म्युनिसिपल कारपोरेशन्स का राजस्व

पहले भारत में केवल तीन म्युनिसिपल कार्पोरेशन कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में थी। पर हाल में ही उनकी संख्या बढ़कर १२ हो गई है और यह संख्या और भी बढ़ेगी। कार्पोरेशन म्युनिसिपैलिटियों से दो बातों में भिन्न होती हैं : (अ) उनके कार्य तथा उनकी शक्तियाँ विस्तृत होती हैं और उन्हें कर लगाने का अधिकार होता है तथा बजट बनाने और निर्माण कार्य में अधिक स्वतन्त्रता होती है। (आ) कार्पोरेशन के कार्य दो भागों में बँट जाते हैं: नीति-निर्धारक (deliborative) कार्य तथा प्रशासकीय (executive) कार्य। नीति-निर्धारक कार्य तो निर्वाचित सदस्य करते हैं किन्तु प्रशासकीय कार्य एक कमिश्नर के हाथ में होता है जो निर्वाचित सदस्यों से स्वतन्त्र होता है। इससे प्रशासकीय कार्यक्षमता में वृद्धि होने की आशा की जा सकती है। कार्पोरेशन म्युनिसिपैलिटियों से बड़ी होती हैं पर उनमें आपस में काफी भिन्नता होती है। उदाहरण के लिए बम्बई कार्पोरेशन के अन्तर्गत २८ लाख व्यक्ति आते हैं और उसकी आय लगभग ९ करोड़ रुपये वार्षिक होती है; पर नागपुर कार्पोरेशन के अन्तर्गत केवल ५ लाख व्यक्ति आते हैं और उसकी वार्षिक आय लगभग १ करोड़ रुपये होती है।

§ २. म्युनिसिपैलिटियों या नगर पालिकाओं का राजस्व

भारत में सन् १९५६ में १,४५३ म्युनिसिपैलिटियाँ थीं। ये शहरों में काम करती हैं। इनकी कुल वार्षिक आमदनी ४० करोड़ रुपये के लगभग होती है। इनकी आय मुख्यतया करों के द्वारा होती है। लगभग ६३% आय उन करों के द्वारा होती है जिन्हें लगान का अधिकार विधान द्वारा प्राप्त है। शेष आय किराया, लाइसेंस, फीस, शिक्षा सम्बन्धी फीस, अस्पतालों से आमदनी आदि स्रोतों से प्राप्त होती है।

म्युनिसिपैलिटियों की आय

(१) **व्यापार पर कर (Taxes on Trade)**—म्युनिसिपल बोर्ड व्यापार पर कई कर लगाते हैं, जैसे चुंगी (Octroi Duty), सीमा कर, राहदारी महसूल आदि। उनमें से चुंगी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जो माल बाहर से म्युनिसिपल बोर्ड की सीमा के अन्दर आता है, उस पर चुंगी लगाई जाती है। म्युनिसिपल बोर्ड की दृष्टि में चुंगी आय का अच्छा स्रोत होती है। इसके कई कारण हैं। इसका कर-भार (incidence)

आसानी से हटाया जा सकता है और यह निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि इस कर का भार अन्त में कौन सहन करता है। इसके अतिरिक्त यह रेल के द्वारा आसानी से वसूल की जा सकती है और इस प्रकार इस प्रणाली में जो शासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं उनसे छुटकारा पाया जा सकता है। किन्तु जनता में इसके विरुद्ध बहुत गहरी भावना है। यह कर के सब गुणों से शून्य है। इसका कर-भार बहुत अनिश्चित होता है। इसके वसूल करने तथा इसकी वापसी (refund) की प्रणाली कर दाता को बहुत कष्टप्रद प्रतीत होती है। जब चुंगी जीवन-रक्षक पदार्थ पर लगाई जाती है, जैसा कि साधारणतया होता है, तब इसका भार करदाताओं की आर्थिक अवस्था के अनुपात में नहीं होता। अन्त में इसके वसूल करने का व्यय बहुत होता है तथा इससे कपटपूर्वक बचने के अवसर भी बहुत होते हैं। इन समस्त दोषों के कारण चुंगी के स्थान पर सीमा कर(Terminal Tax) तथा राहदारी वसूल (Tolls)लगाये जाने लगे हैं। सीमा-कर उस माल पर लगाया जाना है जो रेल द्वारा आता है और इसे रेल के अधिकारी-वसूल करते हैं। राहदारी महसूल उस माल पर लगाया जाता है जो सड़क द्वारा आता है।

(२) **सम्पत्ति पर कर**(Taxes on property)—म्युनिसिपल बोर्ड सम्पत्ति पर भी कर लगाते हैं जैसे मकानों पर या उस भूमि पर जिस पर कि वे बने होते हैं। भारतीय जाँच कमेटी ने यह सुझाव रक्खा था कि जब म्युनिसिपैलिटी के कार्यों से शहर की किसी जायदाद को कुछ विशेष लाभ हो, उससे अधिक कर वसूल करना चाहिए। अधिकांश शहरों में मकान की जमीन पर कर नहीं लगाया जाता। किन्तु इससे अच्छी आय हो सकती है।

(३) **व्यक्तियों पर कर**—ऐसे करों के निम्नलिखित उदाहरण हैं: (अ) हैसियत, कर, (आ) यात्री कर, (इ) यात्रियों पर सीमा कर और(ई) नौकरों पर कर।

(४) **फीस और लाइसेंस**—म्युनिसिपल बोर्ड जब कोई निश्चित सेवा करते हैं, तब वे फीस वसूल करते हैं जैसे सफाई की फीस (Scavenging fee)। कभी-कभी वे विलासिता कर(Luxury taxes) की भाँति होते हैं और कभी-कभी वे नियंत्रण के लिए ही लगाये जाते हैं, जैसे संगीत, गाड़ियों और कुत्तों की लाइसेंस फीस।

(५) **महसूल**(Rates)—जब म्युनिसिपल बोर्ड कोई निश्चित सेवा करता है तो उसके लिए एक मूल्य वसूल करता है जिसे महसूल या रेट कहते हैं, जैसे नल का महसूल या बिजली का महसूल।

(६) **सरकार से सहायता**—ऊपर के कर तथा महसूलों के अतिरिक्त म्युनिसिपल बोर्ड को सरकार से सहायता मिलती है। यह सहायता वार्षिक होती है तथा आकस्मिक (occasional) भी।

(७) **अन्य फुटकर स्रोत**—बोर्डों की आय अन्य फुटकर स्रोतों से भी होती है। इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं: साइकिल कर, गाड़ी-इक्का, बग्घी, आदि पर कर, म्युनिसिपल कानून तोड़ने का दण्ड, म्युनिसिपैलिटी के मकान, दुकान आदि कर किराया इत्यादि।

म्युनिसिपैलिटियों के व्यय के मद

म्युनिसिपल बोर्डों के काम चार भागों में बाँटे जा सकते हैं—सार्वजनिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण और शिक्षा। व्यय का सबसे महत्वपूर्ण मद **पानी की व्यवस्था**

Water Supply, नालियां, धोना, सफाई करना है। दूसरा महत्वपूर्ण मद सार्वजनिक शिक्षा है, और तीसरा महत्वपूर्ण मद सार्वजनिक निर्माण है। इसके अतिरिक्त सामान्य शासन तथा कर वसूल करने पर भी व्यय करना पड़ता है। म्युनिसिपैलिटियों को कभी-कभी सरकार या जनता से नल बनवाने या नाला आदि बनवाने के लिए रुपया भी उधार लेना पड़ता है; और ऋण पर सूद अदा करना पड़ता है। सार्वजनिक सुरक्षा पर बिजली, अग्नि बुझाना, पुलिस स्टेशन आदि के रूप में रुपया खर्च करना पड़ता है। अन्त में अस्पताल और टीका, बाजार, बगीचे आदि पर भी व्यय होता है।

§ ३. जिला बोर्डों या परिषदों का राजस्व

शहरी क्षेत्रों में जो काम म्युनिसिपल बोर्ड करते हैं, ग्रामीण क्षेत्रों में वही काम स्थानीय बोर्ड और जिला बोर्ड करते हैं। भारत में हर जिले में एक जिला बोर्ड है। जिला बोर्ड के अंतर्गत उप-जिला बोर्ड होते हैं, और बंगाल, मद्रास, बिहार और उड़ीसा में यूनियन कमिटियां भी पाई जाती हैं। अगली सारिणी में इनका राजस्व सम्बन्धी ब्यौरा दिया जाता है:

सारिणी ५४

भारत में जिला बोर्डों और स्थानीय बोर्डों का आय-व्यय

आय	१९४६–४७ (लाख रुपये)	व्यय	१९४६–४७ (लाख रुपये)
कर	६५२	शिक्षा	१०९०
अन्य स्रोत	४४३	यातायात	२६५
सरकार से सहायता	९७३	सफाई, अस्पताल आदि	१९०
		फुटकर	५२३
	२०६८		२०६८

बोर्डों की आय के स्रोत

बोर्डों का सबसे महत्वपूर्ण आय का स्रोत राज्य का महसूल (state rates) होता है जो भूमि पर लगाया जाता है। इस स्रोत से कुल आय का बम्बई में २५% और बिहार तथा उड़ीसा में ६३% आता है। अन्य राज्य इन दोनों सीमाओं के मध्य में हैं। राज्य की सरकार वार्षिक लगान वसूल करते समय प्रायः एक आना फी रुपया और वसूल करती है जो इन बोर्डों को दे दिया जाता है। यह कर समान दर पर लगाया जाता है और इसलिए धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को अधिक बलिदान करना पड़ता है। किन्तु क्योंकि इनकी आय गांववालों के लाभ के लिए ही व्यय की जाती है, इसलिए यह इसका बड़ा दोष नहीं। आय के दूसरे स्रोत नागरिक निर्माण होते हैं। तालाब, घाट, सड़क आदि पर कर वसूल किये जाते हैं। इनकी आय की सम्पूर्ण सूची निम्नलिखित है: (१) राज्य-सरकार से सहायता; (२) मालगुजारी के अतिरिक्त भूमि पर लगाया गया स्थानीय कर; (३) हैसियत कर; (४) पशुओं के पानी पीने के स्थानों का महसूल; (५) घाट और पुल का महसूल; (६) शिक्षा से आय; (७) चिकित्सा-सम्बन्धी आय; (८) बाजार, दूकान, मेले और प्रदर्शनियों से आय; (९) सम्पत्ति से आय; और (१०) खेती के बीज और औजारों की बिक्री से आय।

बोर्डों के व्यय का मद

बोर्डों के व्यय का सबसे बड़ा मद शिक्षा है जिसका महत्व पिछले दस सालों में बहुत हो गया है। व्यय का क्रमशः दूसरा महत्वपूर्ण मद नागरिक निर्माण जैसे सड़क और पुल हैं। चिकित्सा पर काफी व्यय किया जाता है। व्यय के प्रमुख मद निम्नलिखित हैं; (१) सामान्य शासन और कर वसूल करने का व्यय; (२) इमारतें, पशुओं की चरही आदि का बनवाना, रक्षा करना और मरम्मत करना; (३) स्कूल और शिक्षा पर व्यय; (४) अस्पताल तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य; (५) पशु-चिकित्सा; (६) मेले; प्रदर्शनी आदि; (७) खेती और बागवानी; (८) सार्वजनिक निर्माण-कार्य; और (९) भूमि को खेती योग्य बनाना (Reclamation of Soil)।

§ ४. ग्रामीण पंचायतों का राजस्व

भारतीय संविधान का यह निर्देश है कि सरकार गाँवों में पंचायत स्थापित करेगी और उन्हें स्वयं-शासित इकाई बनाने की दृष्टि से उन्हें यथोचित शक्ति तथा अधिकार देगी। इस निर्देश के अनुसार अधिकांश राज्यों में पंचायत कायम करने के लिए कानून बनाये जा चुके हैं और आशा है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक लगभग २-लाख पंचायतें स्थापित हो चुकेंगी। दूसरे शब्दों में, आधे से अधिक गाँवों में पंचायतें स्थापित हो जायेंगी।

गाँव के समस्त बालिग स्त्री-पुरुष "गाँव सभा" में शामिल होते हैं; और गाँव सभा "पंचायत" निर्वाचित करती है। पंचायत का काम ग्रामवासियों के हित के लिए चिकित्सा, मातृ-कल्याण, सार्वजनिक चरागाह, ग्रामीण सड़कों के निर्माण, कुएँ और तालाब बनवाने, सफाई, नाले आदि के लिए समुचित प्रबन्ध करना होता है। कहीं-कहीं पंचायत प्रारम्भिक शिक्षा, ग्रामीण प्रलेख तथा मालगुजारी वसूल करने का उत्तरदायित्व भी लेती है। खर्चे के लिये रुपया, घर, जमीन, मेले, त्यौहारों, माल की बिक्री पर कर लगा कर और चुंगी वसूल कर प्राप्त किया जाता है।

सारांश

भारत में १२ म्युनिसिपल कार्पोरेशन हैं जिनकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। म्युनिसिपैलिटियों की आय, व्यापार पर कर, सम्पत्ति पर कर, व्यक्तियों पर कर, फीस तथा लाइसेंस, महसूल आदि से होती है; और व्यय सार्वजनिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, निर्माण तथा शिक्षा पर होता है। जिला बोर्डों तथा ग्रामीण पंचायत के राजस्व अलग होते हैं।

परीक्षा प्रश्न

जम्मू एन्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

1. Write a note on local taxes. (1953).

राजस्थान, इन्टर आर्ट्स

2. What are the important sources of income and items of expenditure of municipal boards in Rajasthan? Briefly comment on each (1954).

अध्याय २४

कुछ राज्यों की आर्थिक अवस्था

भारत के कुछ प्रमुख राज्यों की वर्तमान आर्थिक अवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त करना उपयोगी होगा। अतः नीचे संक्षिप्त विवेचना दी जाती है।

§ १. दिल्ली की आर्थिक अवस्था

दिल्ली का क्षेत्रफल ५७८ वर्ग मील है, और सन् १९५१ में उसकी जनसंख्या १७ लाख थी। अनुमान है कि अब उसकी जनसंख्या २० लाख से अधिक है। भारतीय संविधान के अंतर्गत दिल्ली केन्द्रीय इलाका है। केन्द्रीय सरकार ने दिल्ली प्रशासन का भार चीफ कमिश्नर को सौंप दिया है।

दिल्ली की बढ़ती हुई जनसंख्या

दिल्ली बहुत घना बसा है। भारत में जनसंख्या की औसत सघनता ३१२ प्रति वर्ग मील है पर दिल्ली में यह ३,०४४ प्रति वर्गमील है, जो भारत में सबसे अधिक है।

सारिणी ५५

दिल्ली की जनसंख्या

वर्ष	लाख	प्रतिशत वृद्धि
१९०१	४.०	—
१९११	४.१	—
१९२१	४.९	१८
१९३१	६.४	३१
१९४१	९.२	४४
१९५१	१७.४	९०

दिल्ली की जनसंख्या में हाल में काफी वृद्धि हुई है,—जैसा कि बगल की सारिणी से स्पष्ट है। दिल्ली की जनसंख्या सन् १९११ से बढ़ रही है। सन् १९४१ से तो इसकी जनसंख्या में महान वृद्धि हुई है। १९४१–५१ में दिल्ली की जनसंख्या लगभग दोगुनी हो गई।

जनसंख्या में वृद्धि के कारण

दिल्ली की जनसंख्या में इतनी वृद्धि होने के कई कारण हैं :

(१) शहरों में रहने की प्रवृत्ति

ग्रामनिवासियों को शहरों में जाने और वहाँ बसने की एक आम प्रवृत्ति सी हो गई है। यह कुछ तो गाँवों में बेरोजगारी का परिणाम होता है और कुछ इसका कि शहरों में रहन-सहन तथा आमोद-प्रमोद के जो साधन उपलब्ध हैं वे गाँवों में नहीं।

(२) जन्म दर का मृत्यु दर से आधिक्य—दिल्ली के निवासियों की संख्या स्वयं ही गति से बढ़ रही है। उनका जन्म दर ४७ प्रति हजार है पर उनकी मृत्यु दर केवल २७ प्रति हजार है। अतः जनसंख्या में २० प्रति हजार की दर से वृद्धि हो रही है, जो बहुत अधिक है।

(३) शरणार्थियों का आगमन.—देश के विभाजन के पश्चात् पश्चिमी पाकिस्तान से बड़ी संख्या में शरणार्थी भारत में आये; और उनमें से बहुत-से दिल्ली के निकट होने के कारण वहीं बस गये। उनके आने के ही कारण १९४१–५१ में दिल्ली की जनसंख्या में इतनी अधिक—९०% की वृद्धि हुई।

(४) **द्वितीय महायुद्ध**—द्वितीय महायुद्ध के समय में देश-स्थित तथा विदेश में फौजों को रसद पहुँचाने का काम बहुत बढ़ गया जिसकारण दिल्ली के औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों का काम भी बढ़ गया। इसके अतिरिक्त, बहुत-से नये सरकारी कार्यालय भी खुले। अतः जनसंख्या स्वाभाविक रूप से बढ़ी।

(५) **सरकारी राजधानी**—जो स्थान सरकार की राजधानी होता है, वहाँ जनसंख्या अधिक स्वाभाविक रूप से होती है। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् बहुत-से नये सरकारी कार्यालय खुल गये हैं। सरकार ने बहुत-से नये काम, विशेषतया विकास के क्षेत्र में, आरम्भ किये हैं, जिसका यह फल है। इसलिये भी दिल्ली की जनसंख्या में इतनी वृद्धि दीख पड़ती है।

(६) **औद्योगिक उन्नति**—दिल्ली गति से एक महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र होता जा रहा है। शरणार्थियों में बहुतों को औद्योगिक व्यवसायों का अनुभव था और उनके आने से औद्योगिक विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला है। उद्योगों के चल जाने पर बहुत से मजदूर समीप और दूर से आते हैं और शहर की जनसंख्या को बढ़ा देते हैं।

(७) **व्यापारिक केन्द्र**—दिल्ली उत्तरी भारत का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र है। समीप के राज्यों से व्यापारी गण कपड़े, मोजे आदि, बर्तन, मकान बनाने का सामान खरीदने दिल्ली आते हैं। फलतः बहुत-से थोक और फुटकर व्यापारिक गृह खुल गये हैं, और इस प्रकार दिल्ली की आबादी बढ़ती जा रही है।

जनसंख्या के बढ़ जाने के कारण नई समस्याएँ

दिल्ली की जनसंख्या बढ़ जाने के कारण कई गम्भीर समस्याएँ प्रस्तुत हो गई हैं जिनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है :

(१) **भीड़-भाड़ तथा मकानों की कमी**—दिल्ली की जनसंख्या में इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि मकानों की भारी कमी हो गई है। जितनी तेजी से जनसंख्या बढ़ी है, उतनी तेजी से नये मकान बने नहीं। फलतः किराये बहुत ऊँचे हो गये हैं, पगड़ी लेकर मकान किराये पर दिये जाते हैं, सफाई रखना कठिन हो गया है, और कर्मचारी अपना परिवार दिल्ली में नहीं रख सकते। कभी-कभी तो बाजारों में चलना-फिरना भी कठिन हो जाता है क्योंकि भीड़ बहुत अधिक होती है।

(२) **कानून और शांति की समस्या**—जनसंख्या की महान् वृद्धि के कारण दिल्ली में कानून-पालन तथा शांति-स्थापन की समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया है। ट्रैफिक नियंत्रण में काफी ढिलाई हो गई है। चोरी तथा मार-पीट या हिन्सा के अभियोग अधिक होने लगे हैं। नागरिक प्रशासन पर काफी खिंचाव रहने लगा है। महामार्गों में खुले आम चोरबाजारी होती है। अवस्था दिन प्रति दिन गम्भीर होती जा रही है।

(३) **शहर का विस्तार होना**—दिल्ली शहर का उत्तरोत्तर विस्तार होता जा रहा है। पुराने भाग में नये मकान बन रहे हैं। दिल्ली के निकट नई बस्तियाँ तेजी से बस रही हैं। इनमें से अधिकांश में अपने स्कूल, पुलिस स्टेशन आदि हैं। इनमें से २६ बस्तियाँ शरणार्थियों के लिये बसाई गई हैं।

(४) **व्यापारिक प्रतियोगिता का तीव्र होना**—जनसंख्या की गतिपूर्ण वृद्धि के कारण बहुत से व्यापारिक क्षेत्रों में प्रतियोगिता तीव्र हो गई है। यह प्रतियोगिता कहीं भी इतनी तीव्र नहीं जितनी कि व्यापार में। इस क्षेत्र में सामान्य व्यापारी शरणार्थियों

का मुकाबला नहीं कर पाते क्योंकि शरणार्थी तुच्छ जीविका कमाने के लिये बहुत साधारण लाभ से माल बेचते हैं।

(५) नैतिक भय—इसके साथ-साथ नैतिक पतन भी हुआ है जो नागरिक-जीवन को खोखला बनाये दे रहा है। भीड़भाड़, मकान की कमी, तंग बस्तियों के उदय तथा परिवारों का अलग रहना स्वस्थ नैतिक जीवन के लिये हितकर नहीं हो सकता।

(६) स्वास्थ्य की हानि—जनसंख्या की वृद्धि के कारण निवासियों का शारीरिक स्वास्थ्य भी खराब हो रहा है। स्वस्थ जीवन की दशाएँ कम होती जा रही हैं। वर्तमान चिकित्सा की सुविधाएँ अपर्याप्त होती जा रही हैं और रोगियों की उचित रीति से देख-भाल नहीं हो सकती।

उपचार—जनसंख्या की अधिकता ने जो समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं, उनका उपचार आसान नहीं। पहले, शहर का योजनात्मक विस्तार करना आवश्यक है। दिल्ली के समीप के क्षेत्रों को सुचारुता से बस्तियों के रूप में उन्नति करना चाहिये और यातायात की एक कुशल प्रणाली स्थापित करनी चाहिये जिससे कि इन बस्तियों के निवासी शहर के प्रमुख भागों में आसानी और शीघ्रता से पहुँच सकें और फिर वापस जा सकें। दूसरे, कुछ सरकारी कार्यालयों को दिल्ली से हटा कर कहीं और स्थापित करना चाहिये। इससे तत्काल की समस्या कुछ कम गम्भीर हो सकेगी। तीसरे, नई शिक्षा संस्थाएँ, नये अस्पताल तथा औषधालय, तथा ऐसी ही संस्थाएँ खोलनी चाहिये जो बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। दिल्ली प्रशासन समस्याओं का इन समस्त रीतियों द्वारा सामना करने की चेष्टा कर रहा है।

दिल्ली में उद्योग

दिल्ली का औद्योगिक महत्व बढ़ता जा रहा है। यहाँ न केवल बड़े-बड़े कारखाने वाले उद्योग ही स्थापित हैं प्रत्युत यहाँ कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योग भी स्थापित हैं। दिल्ली में सन् १९५७ में लगभग ९०० कारखाने थे। उनमें प्रतिदिन ५०,००० मजदूर औसतन काम करते हैं। इन मजदूरों की औसत आय रु० १,५०० वार्षिक है। दिल्ली के प्रमुख उद्योग सूती मिलें, मोजे, बनियान आदि की बनाई, आटे की मिलें, वनस्पति के तेल की मिलें, पेंट तथा वार्निश, रबर के माल, बर्तन, चमड़े का माल बनाने आदि के उद्योग हैं।

शरणार्थियों के आने से न केवल कारखानों की ही संख्या बढ़ी हैं। वरन् छोटे पैमाने के तथा कुटीर उद्योगों की भी संख्या बढ़ी है। बहुत से कुटीर उद्योग कारीगर अपने घर में काम करते हैं और उनके माल की बिक्री भी शीघ्रता और आसानी से हो जाती है। छोटे पैमाने के उद्योगों का भी विस्तार हो रहा है क्योंकि एक तो शरणार्थियों की औद्योगिक कुशलता मूल्यवान प्रमाणित हो रही है और दूसरे भारत सरकार भी उस दिशा में काफी सहायक है।

§ २. पंजाब की आर्थिक दशा

पंजाब का क्षेत्रफल ४८,००० वर्गमील है और उसकी जनसंख्या १.६ लाख है। यह देश की समस्त जनसंख्या का १½ है। यहाँ के निवासियों का मुख्य पेशा खेती है—६७% व्यक्ति खेती पर अपनी जीविका के लिये निर्भर रहते हैं। पंजाब की राजधानी चंडीगढ़ है।

कृषि

पंजाब में भूमि उपयोग—पंजाब का भूमि का आधे से अधिक भाग खेती में प्रयुक्त होता है। यह नीचे दिये अंकों से स्पष्ट है :

(अ) जंगलों से ढका क्षेत्रफल	८
(आ) वह क्षेत्रफल जो खेती के लिये उपलब्ध नहीं	७९
(इ) परती भूमि के अतिरिक्त अन्य कृषियोग्य बेकार भूमि	२४
(ई) परती भूमि	१८
(उ) जोता जानेवाला निवल क्षेत्रफल	१७४
योग	३०३

सिंचाई—आजकल पंजाब में कुल ८१ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है जो कुल वोये गये क्षेत्रफल का ४७% है। इसमें ५३ लाख एकड़ पर नहर से, तथा शेष २८ लाख एकड़ पर कुँओं तथा तालाब से, सिंचाई होती है।

प्रधान फसलें—पंजाब की प्रधान खाद्य फसलें चना, गेहूँ, मक्का, चावल तथा जौ हैं; और प्रधान व्यापारिक फसलें गन्ना तथा कपास हैं। उनकी वार्षिक उपज नीचे की सारिणी से स्पष्ट है।

सारिणी ५६

पंजाब की प्रधान फसलें

फसल	लाख टन
अनाज :	
(१) चना	२०
(२) गेहूँ	१८
(३) मक्का	४
(४) चावल	४
(५) जौ	२
व्यापारिक फसल	
(१) गन्ना	५४
(२) कपास	८ लाख गाठें

पंजाब गेहूँ तथा चना उत्पन्न करनेवाला भारत का एक वड़ा राज्य है। जहाँ तक इन दोनों फसलों का संबंध है, यह देश का दूसरा प्रमुख राज्य है। मक्का और जौ उत्पन्न करने में इसका स्थान तीसरा है। गन्ने के मामले में इसका चौथा नम्बर आता है। कपास की भारत में होने वाली कुल उपज का [illegible] भाग पंजाब से आता है।

पंजाब में भूमि सुधार

पंजाब में प्रगतिशील भूमि सुधार नीति अपनाई गई है। जैसा कि नीचे के विवरण से ज्ञात होगा।

भू-धारण-प्रणाली (Land Tenure Systen)—पंजाव में सन् १९५२ में Punjab Occupancy Tenants (Vesting of Proprietary Rights) हुआ। इसके अनुसार अव शरणार्थियों की भूमि को छोड़कर और कहीं भी मौरूसी पास किसान नहीं रहे। भूतपूर्व पंजाब के क्षेत्र में वे भूमिपतियों को प्रतिफल देकर १५ जून १९५२ से स्वयं भूमि के स्वामी वन गये। जो किसान किसी भूमि को ६ साल से लगातार जोत रहे थे वे गत १० वर्षों में औसत वाजार मूल्य का मूल्य देकर ३० एकड़ तक भूमि के स्वामी हो गये। भूतपूर्व पैप्सू इलाके में जो किसान १२ साल से भूमि को जोत रहे थे उन्हें १५ एकड़ तक भूमि से वेदखल नहीं किया जा सकता; और लगान फसल के मूल्य के से अविक नहीं हो सकता।

खेत के अधिकतम क्षेत्रफल का निर्धारण—पंजाव में किसी व्यक्ति का खेत अधिकतम कितना वड़ा हो सकता है, इसकी भी सीमा स्थिर कर दी गई है। कोई भी व्यक्ति भविष्य में ३० एकड़ से अधिक भूमि नहीं खरीद सकता; और वर्तमान खेत ३० एकड़ से वड़े नहीं हो सकते।

खेतों की चकवन्दी—खेतों की चकवन्दी करने में पंजाव अगुआ रहा है। सवसे पहले सहकारी समितियों के द्वारा ऐच्छिक आधार पर चकवन्दी का प्रयत्न किया गया। किन्तु वाद को सीमित अनिवार्यता (Conpulsion) को व्यवहार में लाया गया और जब ग्रामवासियों का एक निश्चित न्यूनतम प्रतिशत चकवन्दी के लिए तैयार हो जाता है, तो चकवन्दी कर दी जाती है। इसके लिए पंजाव में सन् १९४८ में एक अधिनियम वनाया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ६० लाख एकड़ की चकवन्दी की गई जिसमें से ६० लाख एकड़ भूतपूर्व पंजाव क्षेत्र में थे और १२ लाख एकड़ भूतपूर्व पैप्सू क्षेत्र में। इन दोनों क्षेत्रों में अव १६० लाख एकड़ और ६० लाख क्रमशः की चकवन्दी करना शेष रहा है। आशा यह है कि द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्त तक, इस समस्त क्षेत्रफल की चकवन्दी हो जायगी।

भूदान आन्दोलन—पंजाव में भूदान आन्दोलन ने भी कुछ उन्नति की है। सन् १९५७ के अंत तक, २० हजार एकड़ भूमि दान में दी गई जिसमें से ३ हजार एकड़ वाँटी जा चुकी है किन्तु यह प्रगति वहुत थोड़ी है। देश भर में ४४ लाख एकड़ दान में दिए जा चुके हैं और ७ लाख एकड़ वाँटे जा चुके हैं।

पंजाव में सिंचाई—

हमारे देश में पंजाव की गिनती उन राज्यों में है जहाँ सिंचाई वड़ी सीमा तक होती है। पंजाव में १७४ लाख एकड़ में वोआई होती है, जिसमें से ८१ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। दूसरे शब्दों में, वोये जाने वाले क्षेत्रफल में ४७% भाग को सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। कुछ महत्वपूर्ण सिंचाई परियोजनाओं का व्योरा नीचे दिया जाता है।

(क) भाकरा नंगल परियोजना की कुल लागत रु० १७४ करोड़ अनुमानित की गई है। पूरी हो जाने पर यह राज्य के ५० लाख एकड़ की सिंचाई करेगी, और ४० लाख एकड़ भूमि की वर्तमान सिंचाई में यह सुधार करेगी। अनुमान लगाया गया है कि इसके फलस्वरूप प्रति वर्ष रु० १३२ करोड़ की खेती की पैदावार तैयार होने लगेगी। इसके अतिरिक्त यह ४ लाख किलोवाट विजली भी पैदा करेगी। यह परियोजना १९६० में पूरी होगी और तव इसका संपूर्ण लाभ उठाया जायगा। अनुसूचियाँ (Schedules) इस प्रकार तैयार की

गई हैं कि जैसे-जैसे निर्माण कार्य होता जाता है, वैसे ही वैसे जनता को सुविधाएँ मिलती जाती हैं। सन् १९५८-५९ के अन्त तक इस परियोजना से २३ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधा मिली।

(ख) **बीन नदी परियोजना** बीन नदी के पानी का उपयोग करेगी। कपूरथला के समीप से नदी में से एक नहर निकाली जायगी जो ४० हजार एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी। इसकी लागत रु० ११ करोड़ होगी।

(ग) **दादरी सिंचाई परियोजना** से १ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधा मिलने की आशा है। इसकी लागत रु० ६० लाख होगी।

(घ) इनके अतिरिक्त हरी के और छोटे सिंचाई के निर्माण भी सुविधाएँ प्रदान कर रहे हैं। अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग १ हजार जल-कल लगाये गये हैं। आशा की जाती है कि इस प्रकार की परियोजनाओं के फलतः द्वितीय योजना के अन्त तक लगभग ३१ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होने लगेगी।

विद्युत शक्ति—पंजाब में ४४ विद्युतशक्ति के स्टेशन हैं जिनसे २३ करोड़ किलोवाट बिजली पैदा होती है। औद्योगिक तथा घरेलू प्रयोग के लिए, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, बिजली की सुविधा देने का इस राज्य में प्रयास हो रहा है। आजकल ३०% जनता बिजली का प्रयोग कर रही है; और आशा की जाती है कि दूसरी योजना के अन्तर्गत ५०% जनता को बिजली उपलब्ध हो जायगी। बिजली मुख्यतया निम्न स्रोतों से मिलती है : (क) उहल नदी जल विद्युत परियोजना जहाँ १२ हजार किलोवाट के चार कारखाने बनाये जा रहे हैं। (ख) गंगवाल शक्ति गृह जहाँ ३ इकाइयाँ बनाई जा रही हैं जिनमें से प्रत्येक २४ हजार किलोवाट बिजली देगा। (ग) कोटा शक्ति-गृह की भी सामर्थ्य इतनी ही है। (घ) बहुत से सरकारी तथा निजी कोयले से बिजली उत्पन्न करने के कारखाने भी कार्यशील हैं। यह बताया जा चुका है कि भाखरा नंगल परियोजना ४ लाख किलोवाट बिजली देने लगेगी।

उद्योग—पंजाब औद्योगिक मार्ग पर भी आगे बढ़ रहा है। यहाँ २,६०० रजिस्टर्ड कारखाने हैं और यहाँ बहुत से विख्यात औद्योगिक केन्द्र हैं। जलन्धर खेल का सामान बनाने के लिए प्रसिद्ध है; तथा बटाला और लुधियाना हल्के इन्जीनियरिंग का सामान बनाते हैं। अमृतसर में कपड़े बनाये जाते हैं। सोनपत में साइकिलों का कारखाना है जिसकी गिनती भारत के सबसे बड़े कारखानों में है और जो प्रतिदिन ३०० साइकिल तैयार करता है। धारीवाल में ऊनी मिल है और हिसा में सूती कपड़े की मिल है। अब्दुल्लापुर में चीनी की मिल तथा वनस्पति तेल की मिल है। जामनगर में कागज का कारखाना है।

सारिणी ५.७ पंजाब के उद्योग

उद्योग		कारखानों की संख्या
बड़े पैमाने के उद्योग :		
वस्त्र	...	३७
साइकिल	...	४
कागज	...	१
चीनी	...	४

उद्योग		कारखानों की संख्या
बड़े पैमाने के उद्योग		
शराब	...	२
इंजीनियरिंग	...	८
वनस्पति घी	...	१
मांड़ या स्टार्च	...	४
रसायन	...	१
छोटे पैमाने के उद्योग		
वस्त्र	...	५,४००
मोजे, वनियान, आदि	...	९००
तांबे के सामान	...	८००
साइकिल के भाग	...	३००
खेल का सामान	...	१५०
सीने की मशीनें	...	१६०
वैज्ञानिक सामान	...	३२
विजली के पंखे	...	७
डाक्टरी औजार	...	१७

पंजाब में मँझले तथा छोटे पैमाने के भी काफी उद्योग हैं जिनमें वैज्ञानिक औजार, इन्जीनियरिंग, विजली का माल, आदि शामिल हैं। होजियरी (मोजे, वनियान, आदि) के भारत में १,००० कारखाने हैं जिनमें से ८०० पंजाब में हैं; अतः इस उद्योग में पंजाब का स्थान भारत में सर्वोपरि है। पंजाब में ३५० नकली सिल्क के कारखाने भी हैं; और इस उद्योग में पंजाब का स्थान वम्बई के वाद ही आता है।

पंजाब में वहुत से प्रसिद्ध और सफल कुटीर उद्योग भी हैं। यहां के प्रसिद्ध कुटीर उद्योग हैं कम्वल, खेरु, साइकिल के हिस्से, वर्तन, चमड़ा पक्का करना, सिल्क, जूते तथा सिलाई की मशीनों के भाग। माल की विक्री का प्रवंध करने के लिये, २४ स्थानों पर विक्री की दूकानें स्थापित की गई हैं, और चंडीगढ़ में भी एक वड़ी कुटीर उद्योगों के सामान की दूकान है।

§ ३. जम्मू और काश्मीर की आर्थिक दशा

जम्मू और काश्मीर राज्य का क्षेत्रफल ८६,००० वर्ग मील है तथा उसकी जनसंख्या ४४ लाख है। इसकी राजधानी श्रीनगर है। इस राज्य में जनसंख्या की सघनता ४८ प्रति वर्ग मील है। कुल जनसंख्या में ७७% व्यक्ति मुसलमान हैं।

यह राज्य हिमालय पर्वतमाला की पश्चिमतम शाखा है; और ३२° तथा ३७° उत्तरी अक्षांश तथा ७३° तथा ८० पूर्वीय देशांतर में स्थित है। राजनैतिक दृष्टि से इसका महत्व ऊँचा है क्योंकि इसकी सीमा चीन, रूस, पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान से मिली हुई है।

खेती—काश्मीर के निवासियों का प्रधान पेशा खेती है। किन्तु भूमि वहुत उर्वरा नहीं है। राज्य की केवल ४% भूमि ही खेती के योग्य है; शेष में जंगल तथा रेगिस्तान हैं। इस राज्य में खेतों का कुल क्षेत्रफल २१ लाख एकड़ है।

राज्य के काश्मीर भाग में चावल और मक्का प्रधान फसलें हैं; और जम्मू भाग में गेहूँ तथा मक्का। राज्य में अनाज पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं होता। अतः कमी को पूरा करने के लिये अनाज का आयात करना पड़ता है। यह अनाज भारत से या भारत के द्वारा खरीदा जाता है किन्तु राज्य में अनाज की पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस दृष्टि से सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाई जा रही हैं।

आजकल कुल ७ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है; अर्थात्, ⅓ खेतों पर सिंचाई होती है। कुछ नई सिंचाई की नहरें बनाई गई हैं तथा अन्य सिंचाई की सुविधायें भी प्रदान की गई हैं। फलतः प्रथम योजना के अन्तर्गत ४७ हजार एकड़ भूमि पर पहली बार सिंचाई होने लगी है। इस राज्य में सबसे बड़ा सिंचाई का निर्माण सिन्ध घाटी परियोजना है जो सन् १९५६ में पूरी हुई और जिसमें रु० १२४ लाख लगे। इससे १८ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होने लगी है।

काश्मीर में भूमि सुधार—काश्मीर सरकार ने एक अधिनियम बनाया है जिसके अनुसार २२¾ एकड़ भूमि से जितनी भी अधिक भूमि जमींदारों के पास थी वह उनसे बिना हर्जाना दिए छीन ली गई; और जो किसान उस भूमि को जोत रहे थे, वे उसके स्वामी बना दिए गये। इस प्रकार जमींदारों का अन्त कर दिया गया है। इस योजना के अन्तर्गत ९ लाख एकड़ भूमि भूमिहीन मजदूरों में बाँट दी गई है। यह बताया जा चुका है कि छीनी हुई भूमि के लिए कोई प्रतिफल या हर्जाना नहीं दिया गया।

एक व्यक्ति इतनी अधिकतम भूमि पर अधिकार रख सकता, है उसकी भी सीमा निश्चित कर दी गई है: (क) निजी खेती के लिए किसानों को काश्मीर इलाके में २ एकड़ गीली भूमि तथा ४ एकड़ सूखी भूमि तक ही बंदोबस्त किया जा सकता है। जम्मू में ये सीमायें ४ एकड़ तथा ६ एकड़ क्रमशः हैं। किसानों से गीली भूमि पर पैदावार के ¼ भाग और सूखी भूमि पर ⅙ भाग से अधिक लगान नहीं लिया जा सकता। (ख) कानून के अनुसार कोई भी व्यक्ति भविष्य में खेती करने के लिए २२¾ एकड़ भूमि से अधिक प्राप्त नहीं कर सकता। (ग) किसी भी व्यक्ति की भूमि या खेत २२¾ एकड़ से बड़ा नहीं हो सकता।

इस राज्य में चकबन्दी की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

उद्योग—काश्मीर का सबसे बड़ा उद्योग ऊनी कपड़े बनाना है। अनुमान लगाया गया है कि यह ३ लाख मजदूरों को रोजगार देता है। काश्मीरी दुशाले, गलीचे और नमदे आदि विश्व विख्यात हैं। १८वीं और उन्नीसवीं सदी में काश्मीर के दुशाले इंग्लैण्ड में बहुत लोकप्रिय थे और (योरोप तथा शेष संसार की अभिमानी सुन्दरियों की शोभा बढ़ाते थे।)

सिल्क उद्योग का स्थान इसके बाद आता है। काश्मीर में सिल्क के रेशे संसार में सबसे अच्छे होते हैं और बहुत अच्छी सिल्क बनाने में काम आते हैं। सिल्क के कीड़े पालने में ६० हजार व्यक्ति लगे हुए हैं। सिल्क उद्योग पर १० लाख व्यक्ति अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। यह उद्योग सरकार चलाती है।

काश्मीर का एक अद्वितीय उपक्रम ज्वायनरी मिल (Joinery) है। योरोप और अमेरिका के बाहर ऐसा उद्योग अभी स्थापित नहीं हुआ है। यह कारखाना साल में ३६,००० दरवाजे तथा ३६,००० खिड़कियाँ जिनकी कुल लागत रु० ३५ लाख के बराबर होगी बनाता है।

इस राज्य में चमड़ा पक्का करने तथा चमड़े के सामान बनाने का कारखाना और गलीचों का भी कारखाना है। बारामूला में दियासलाई बनाने का भी एक कारखाना है।

राज्य के छोटे उद्योगों में पेपर-माशे, चाँदी के बरतन और लकड़ी पर नक्काशी के काम प्रमुख हैं। दवा बनाने के कारखाने, बिजली की वर्कशाप तथा लकड़ी चीरने की मिलें, आदि इस राज्य में बहुत हैं।

काश्मीर कुटीर उद्योगों के लिए प्रसिद्ध है। नीचे की सारिणी में राज्य के प्रधान कुटीर उद्योग तथा उनमें संलग्न व्यक्तियों की संख्या दी हुई है।

सारिणी ५८ काश्मीर में कुटीर उद्योग

उद्योग	संलग्न व्यक्तियों की संख्या
१. रफूगरी ...	३,६००
२. गलीचे ...	१,७००
३. नमदा ...	४००
४. लकड़ी की नक्काशी ...	१,१००
५. पश्मीना ...	८००
६. पेपर-माशे ...	३००
७. गब्बा ...	४४०
८. फर ...	१८०
९. हाथ की बनी सिल्क ...	३,०००
१०. जरीकारी ...	६८०
११. धातु तथा चाँदी के काम	१३०
१२. विलो का काम ...	२००

शक्ति की परियोजनाएँ

पहली योजना के आरम्भ में ५,००० किलोवाट बिजली काश्मीर राज्य में उत्पन्न होती थी। किन्तु पहली योजना काल में रु० २ करोड़ व्यय करके सिंध हाइड्रो इलेक्ट्रिक परियोजना पूरी की गई जिसने बिजली की पैदावार बढ़ा कर ८,००० किलोवाट कर दी। पंजाब सरकार से इस राज्य को १,५०० किलोवाट बिजली खरीदनी पड़ी। दूसरी योजना काल में १८,००० किलोवाट बिजली और पैदा की जायगी।

व्यापार

जम्मू और काश्मीर के प्रमुख निर्यात ऊन के कपड़े, सिल्क, वन की उपज जैसे लकड़ी, जड़ी-बूटियाँ, रसायन, खालें, फर, फल-फूल तथा तरकारी हैं। आयात के प्रमुख पदार्थ अनाज, कपड़े, चीनी, चाय, मसाले तथा मकान के सामान हैं।

यात्रियों का आना

इस राज्य की सरकार तथा निवासियों की आय का एक प्रधान स्रोत यात्रीगण हैं। कुछ वर्ष पूर्व ४०,००० व्यक्ति इस राज्य में यात्री के रूप में आते थे और रु० १.५ करोड़ प्रति वर्ष व्यय करते थे। शांति-स्थापन के पश्चात् इस संख्या में वृद्धि करने की चेष्टा की

गई है। सन् १९५६–५७ में यात्रियों की संख्या बढ़ कर ७०,००० पहुँच गई। यह सन् १९४७ के अंक से चौगुनी संख्या थी। यात्रियों का आगमन प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। श्रीनगर में एक स्वागत-भवन का निर्माण हुआ है और बहुत से स्थानों पर डाक बंगले भी बनाये गये हैं। कुछ नये प्राकृतिक सुन्दरता के स्थानों को भी विकसित किया जा रहा है। नयी बनिहाल टनैल ने यात्री-आगमन को बहुत प्रोत्साहन दिया है क्योंकि नई सड़क जाड़ों में भी खुली रहती है और बर्फ से नहीं ढकती।

§ ४. बिहार की आर्थिक दशा

बिहार राज्य का क्षेत्रफल ६७ हजार वर्ग मील है और इसकी जनसंख्या लगभग ४ लाख है। इसके उत्तर में नेपाल तथा दार्जिलिंग का जिला स्थित है, और पूर्व में पश्चिमी बंगाल। इसके दक्षिण में उड़ीसा है और इसके पश्चिम में उत्तर-प्रदेश तथा मध्य प्रदेश। बिहार बहुत घना बसा है। इसमें जनसंख्या की सघनता जर्मनी से भी अधिक है। निवासियों का प्रधान पेशा खेती है—कुल जनसंख्या का ८०% खेती पर निर्भर है। बिहार में काफी खनिज संपत्ति है जो विशेषतया छोटा नागपुर में पाई जाती है; किन्तु राज्य का औद्योगिक विकास अभी धीमी गति से हुआ है। समस्त जनसंख्या का केवल ८% भाग ही उद्योग पर निर्भर है।

खेती

खेती की दृष्टि से बिहार एक महत्वपूर्ण राज्य है। गंगा के मैदान का जो भाग बिहार में है, वह बहुत उपजाऊ है। कुछ भागों में जनसंख्या की सघनता ९०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील से भी अधिक है। बिहार में लगभग २२० लाख एकड़ पर खेती होती है। इस राज्य की खेती से १०० लाख टन उपज होती है और ७ लाख सन की गाँठें भी उत्पन्न होती हैं। राज्य की सबसे महत्वपूर्ण फसलें चावल तथा गन्ना है। बिहार चावल, गेहूँ, मक्का और बाजरा जैसे अनाजों तथा गन्ना और सन ऐसी नकद फसलों के लिए प्रसिद्ध है। हम नीचे की सारिणी में कुछ संबंधित सूचना देते हैं।

सारिणी ५९ **बिहार की मुख्य फसलें**

फसल	लाख टन
चावल	२६
दालें	१०
गेहूँ	४
गन्ना	५
कपास	२०० गाँठें
सन	६०० गाँठें

चावल बिहार की सबसे प्रमुख फसल है—खेती के कुल क्षेत्रफल का लगभग आधा चावल उत्पन्न करने में प्रयुक्त होता है और चावल की उपज खेती की कुल उपजों का ५०% होता है। इस राज्य में उत्पन्न होने वाली चावल की मात्रा का ¾ भाग गंगा के मैदान से आता है और शेष छोटा नागपुर के पठार से। बिहार में लगभग ४ लाख टन गेहूँ प्रति वर्ष उत्पन्न होता है। यह प्रधानतया उत्तरी बिहार में, और खास तौर पर

मुंगेर जिले में उत्पन्न होता है। बिहार में गेहूँ की प्रति एकड़ उपज भारत में सबसे ऊँची है। गन्ना बिहार की सबसे प्रमुख नकद फसल है। गुड़ के रूप में बिहार प्रति वर्ष ५ लाख टन गन्ना उत्पन्न करता है। यह भारत का गन्ना पैदा करने वाला दूसरा बड़ा राज्य है। पहला स्थान भारत में उत्तर प्रदेश का है। यह प्रधानतया गंगा के मैदान के पश्चिमी भाग में पैदा होता है। बिहार ६ लाख गाँठें प्रति वर्ष सन की पैदा करता है। सन के लिए सबसे प्रमुख क्षेत्र पूर्णियाँ है जहाँ कुल राज्य का ८०% सन उत्पन्न किया जाता है। सन बिहार की सबसे प्रमुख नकद फसल है। राज्य की ग्रामीण व्यवस्था में सन का महत्व चावल के बाद ही आता है।

बिहार में भूमि सुधार

बिहार में भूमि उपयोग—बिहार में कुल भूमि का क्षेत्रफल ४४८ लाख एकड़ है। इस राज्य में भूमि का वर्गीकरण इस प्रकार है :

सारिणी ६० बिहार में भूमि-उपयोग

भूमि उपयोग	लाख एकड़	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
१. बोये जाने वाला क्षेत्रफल	२२१	४९
२. परती भूमि	.. ५४	१२
३. अन्य खेती के योग्य भूमि	.. ३३	७
४. खेती को अप्राप्य	.. ५५	१२
५. वन	.. ८५	१९
	४४८	१००

जमींदारी का उन्मूलन—बिहार राज्य ने सन् १९५० में बिहार भूमि सुधार अधिनियम पास किया। इसके अनुसार जमीदारी प्रथा का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया गया है। सरकार ने समस्त मध्यस्थ हित प्राप्त कर लिए हैं; और कुल रु० १६० करोड़ का हर्जाना देना पड़ेगा। यह सब हर्जाना लाभान्वित होने वाले किसानों से प्राप्त किया जायगा। आँकों से पता चलता है कि जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के फलस्वरूप खेती की उपज में वृद्धि हुई है। अनुमान लगाया गया है कि प्रथम योजना के अन्त में खेती की उपज में ७ लाख टन की वृद्धि हुई।

भू-धारण प्रथा—बिहार में मौरूसी अधिकार १२ वर्ष तक लगातार कब्जे के पश्चात् प्राप्त होता है। नकद लगान किराया मूल्य के २५% से अधिक नहीं हो सकता। उपज में दिया जाने वाला लगान, उपज के $\frac{७}{२०}$ से अधिक नहीं हो सकता। किसान चाहे तो रुपये देकर और चाहे तो उपज देकर लगान अदा कर सकता है।.

खेतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण—बिहार में अब तक खेतों के अधिकतम क्षेत्रफल पर रोक नहीं लगाई है। इस संबंध में एक सरकारी बिल धारा सभा के सामने प्रस्तुत किया गया था किन्तु इसने अभी तक अधिनियम का स्वरूप नहीं लिया।

खेतों की चकबन्दी—खेतों की चकबन्दी आन्दोलन में बिहार ने अधिक उन्नति नहीं की है। कुछ चकबन्दी प्रयोगात्मक रूप में हो रही है जिसमें १½ लाख एकड़ शामिल है। किन्तु अभी कोई अन्तिम स्वरूप निश्चित नहीं हुआ है।

योग हुआ। प्रथम योजना के अन्त में ६६ और स्कीम जारी थीं। प्रथम योजना काल में दक्षिणी भारत में ६१ सिंचाई की स्कीम पूरी की गई। इन सब के फलस्वरूप लगभग १० लाख एकड़ की सिंचाई होने लगी है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत ३२ परियोजनाओं पर काम हो रहा है। जिनमें कोसी परियोजना भी शामिल है। इनमें से १४ नई और शेष प्रथम योजना की स्कीम हैं।

खनिज पदार्थ

विहार खनिज पदार्थों में धनी है। इस राज्य में मिलने वाले प्रमुख खनिज पदार्थ निम्न हैं :

(१) लोहा	..	२२ लाख टन
(२) कोयला	..	१९४ लाख टन
(३) मैनगैनीज	..	०.५ लाख टन
(४) तांबा	..	३५ लाख टन
(५) अबरख	..	०.८ लाख हन्डरवेट
(६) एसबेस्टस	..	०.३ लाख हन्डरवेट

कोयला झरिया, वोकारो तथा रानीगन्ज में पाया जाता है। लोहा सिंहभूमि जिले में मिलता है। अबरख ९० मील × २० मील के क्षेत्र में मिलती है जो गया जिले से लेकर मुंगेर और भागलपुर जिलों तक फैला है। तांबा भी सिंहभूमि में पाया जाता है। मैनगेनीज भी उसी जिले में मिलती है।

उद्योग

विहार की औद्योगिक उन्नति हो रही है। आजकल विहार में ४,६०० रजिस्टर्ड कारखाने हैं। इन कारखानों में औसतन १,७०,००० मजदूर काम करते हैं। नीचे की सारिणी में विहार के प्रमुख उद्योगों के विषय में कुछ सूचना प्रस्तुत की जाती है।

सारिणी ६२ — **विहार में उद्योग**

उद्योग	कारखानों की संख्या	मजदूरों की संख्या
लोहा और इस्पात	४	३७,०००
तांबा	१	१,७००
अलमूनियम	१	३००
जस्ता ...	१	२३०
अबरख ..	१३७	१२,०००
बीड़ी ..	३३०	१३,०००
शीशा ..	२	१,४००
सन की मिल	३	५,९००
ऊनी मिल ..	१	७००
सिगरेट ..	१	२,५००
कागज ..	१	१,२००
जूते बनाना ..	१	७००
सिधरी ..	१	६,०००
कपड़ा ..	९४	३,४००

कुटीर उद्योग—विहार में बहुत से कुटीर उद्योग हैं। उनका कई वर्गों में विभाजन किया जा सकता है : (क) वस्त्र वर्ग में सूती कपड़े का बुनना, खादी, टसर, सिल्क, ऊन, रँगाई और छपाई, जरदोजी और रस्सी बँटाई आते हैं। (ख) लकड़ी के उद्योग में बढ़ईगीरी, फर्नीचर बनाना, बाँस के काम और टोकरी बनाना, हाथ से कागज बनाना, खिलौने बनाना आदि आते हैं। (ग) धातु उद्योगों में कटलरी, संदूक बनाना, ताँबे के उद्योग, आदि आते हैं। (घ) चमड़ा तथा सहयोगी उद्योगों में जूते तथा चमड़े का अन्य सामान बनाना, मरे हुए जानवरों से खाद बनाना आदि आते हैं। (ङ) मिट्टी उद्योगों में गाँव के कुम्हारों का काम, ईंटे बनाना, तथा पोर्सलेन का सामान बनाना आते हैं। (च) अन्त में रसायन उद्योगों में चपड़ा बनाना, साबुन बनाना, कत्था बनाना, आदि शामिल होते हैं।

सारांश

दिल्ली केन्द्रीय क्षेत्र है, और इसकी जनसंख्या गति से बढ़ रही है। इसके कई कारण हैं; और इसके कारण कई नई समस्याएँ भी सामने आई हैं। इसका समुचित उपाय होना अभीष्ट है। दिल्ली में उद्योगों की भी गति से उन्नति हो रही है।

पंजाब, जम्मू और काश्मीर और विहार कृषि-प्रधान राज्य हैं, पर प्रत्येक की अर्थ-व्यवस्था कुछ मामलों में विशेषता रखती है।

परीक्षा प्रश्न

पटना, इन्टर आर्ट्स

1. Describe the present condition of the coal mining industries in Bihar. (Patna, 1958).

2. Describe the mineral resources, of Bihar. Are they sufficient for the growth of industries in the State. (Patna, 1957.)

3. What are the main crops cultivated in Bihar ? Discuss their relative importance and the factors governing their regional distribution. (Patna, 1956).

4. Discuss the different land reform measures introduced in Bihar in recent times. How far are they expected to improve the agricultural position of the state ? (Patna, 1957).

5. What is the significance of Bhoodan Movement in Bihar ? How far is it expected to be successful ? (Patna, 1955).

6. Classify the land area of Bihar, pointing out the various uses to which land is being put. Is it possible to utilise our land better ? If so, how ? (Patna, 1954).

7. Name any two leading modern large-scale industries of Bihar. Give their location, present conditions and problems. (Patna, 1956).

विहार इन्टर आर्ट्स

8. What are the problems of agricultural labour in Bihar ?

How far has the Minimum Wages Act of 1948 improved its lot ? (Bihar, 1958).

9. Describe the importance of minor irrigation works for agricultural production in Bihar. What policy would you like the Government to follow in this connection ? (Bihar, 1957).

10. Describe briefly the important industrial raw materials available in Bihar, and give their regional distribution within the state. (Bihar, 1956).

11. Write a note on the economic effects of the abolition of zamindari in Bihar. (Bihar, 1956 S).

दिल्ली, हायर सेकिन्डरी

12. Write a note on Industries in Delhi. (1958).

13. What are the causes of the rapidly growing population of Delhi in recent years ? What are the problems created by this growth ? Suggest remedies. (1956).

14. Write a note on Small-scale and Cottage Industries in Delhi. (1954).

जम्मू एन्ड काश्मीर, इन्टर आर्ट्स

15 Mention the main features of the economy of the State of Jammu and Kashmir. Suggest measures to raise the standard of living of its people. (1955).

16. Write a note on the importance of tourist traffic in the economy of Jammu and Kashmir. (1954).

17. Write a short note on Trade Unionism in Jammu and Kashmir State. (1954).

18. Have they any large hydroelectric projects in hand in Jammu and Kashmir ? Describe these and show how they can increase the economic well-being of the people of the state. (1954).

19. Is there a food problem in Jammu and Kashmir State ? Discuss with the help of figures if you can. What will be the effect of the recent changes in the State Government's food policy on the state's food situation ? (1954).

20. Write short descriptive notes on any two large factories in Jammu and Kashmir. (1954).

परिशिष्ट

भारत सरकार का बजट : १९५९–६० तथा १९६०–६१

(करोड़ रुपयों में)

	१९५९–६० (सुधरे हुए)	१९६०–६१ (बजट)
i आय-व्यय पर कर :		
(अ) आय-कर	७३	५३
(आ) कार्पोरेशन कर	७८	१३५
(क्ष) व्यय कर	१	१
	१५२	१८९
ii सम्पत्ति तथा पूंजी सौदों पर कर :		
(अ) उत्तराधिकार कर	...	...
(आ) सम्पत्ति कर	१२	७
(इ) भेंट कर	१	१
(ई) स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	३	३
(उ) मालगुजारी	१	१
	१७	१२
iii वस्तु तथा सेवा कर :		
(अ) आयात-निर्यात-कर	१६०	१६३
(आ) उत्पादन-कर	२७६	३०५
(इ) रेल यात्री कर	..	..
(ई) अन्य	८	८
	४४३	४७६
iv प्रशासकीय आय	५१	५६
x सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय :		
(अ) रेल	५	५
(आ) डाक और तार	४	१
(इ) चलन तथा टकसाल	४६	४७
	५५	५२
अन्य आय	२८	४०
कुल आय	७४६	८२५

	१९५९–६० (सुधरे हुए)	१९६०–६१ (बजट)
i आय पर प्रत्यक्ष मांग	२१	२३
ii सामान्य प्रशासन	५३	६१
iii सेना	२४४	२७२
iii ऋण सेवाएँ	६५	७५
iv पेंशन आदि	१०	१०
v असाधारण भार	२	१०
vi विविध	९५	१३०
vii विकास सेवाएँ	२११	२५१
vii केंद्रीय तथा राज्य सरकारों का हिसाब	४९	५२
vi अन्य व्यय	३	३
	७५१	८८५
घाटा	–१५	६०
	७४६	८२५